

## ॐ भँवरी भँवर से पार ॐ

वीणावादिनी की वीणा के तारों का मधुरिम गुंजन,  
कण्ठ विराजा जिनके ऐसी माँ सुपाश्वर्ष को शत वंदन।  
सरिता सम प्रवाहित शब्दों का मन को छूता स्पन्दन,  
बरबस थामे रहता हर सुनने वाले का चंचल मन ॥

परम्पराओं की कड़ियों का जुड़ना इतिहास और संस्कृति को जन्म देता है। संस्कृति समाज की आधारशिला बनती है और समाज बनता है मानव-व्यक्तित्व के विकास का स्तंभ। इतिहास, संस्कृति और समाज की यह त्रिवेणी कालचक्र द्वारा भी अवरुद्ध नहीं हो पाती है। हाँ! क्षेत्र-काल-परिस्थिति के अनुसार उसकी दिशा-उत्थान-पतन आदि में परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योंकि परिवर्तन तो सृष्टि का नियम है।

राजस्थान की शूरापूर्ण माटी से अनेक इतिहास जुड़े हैं, संस्कृतियाँ जन्मी हैं। उसमें अनेक गौरव-गाथाओं का जन्म हुआ है। मानव मात्र की भलाई के लिए, उनके उत्थान के लिए, उन्हें धर्ममार्ग पर प्रेरित करने के लिए समय-समय पर आदर्श विभूतियों का अवतरण हुआ है।

राजस्थान के ही बीकानेर जिले के ग्राम मेनसर में श्रेष्ठिवर श्री हरकचंदजी चूड़ीवाल के आँगन में उनकी पत्नी श्रीमती अणची देवी की गोद में एक बालिका का अवतरण हुआ। वह शुभ दिन था- फागुन शुक्ला नवमी, विक्रम संवत् १९८५, शुक्रवार, मृगशिरा नक्षत्र। हर्षोल्लासपूर्ण वातावरण में बालिका को 'भँवरी' नाम से अलंकृत किया गया। समाज व संस्कृति के बीच सँवरित वह बालिका बचपन की देहलीज पार करने को अग्रसर हुई। काश! बाल्यावस्था ठहर जाती। परन्तु कर्म-रेख कुछ और दर्शा रही थी। अग्रिताप की पराकाष्ठा पार करके ही स्वर्ण कसौटी पर खरा उतरता है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का निर्माण भी कर्म-रेख द्वारा निर्मित इष्टानिष्ट पड़ावों को पार करके ही संभव है। विपदाओं के बीच ही रचनाकार-साहित्यकार का निर्माण होता है। भँवरी को भी भवरूपी भँवर से मुक्ति हेतु अधिपरीक्षा से गुजरना पड़ा। बचपन की देहरी पर वैधव्य का सामना! उस अबोध बालिका की नियति के साथ यह एक क्रूर अन्याय नहीं तो और क्या था? आँसुओं की गंभीरता से भी अनभिज्ञ को आँसुओं के सागर में उतार दिया। भँवरी तो इसे बड़ी सहजता से देख रही थी। कभी-कभी आश्चर्यमिश्रित भावों की स्पष्टता परिलक्षित होती थी। समाज के रीति-रिवाजों और संस्कृति ने उसे परिस्थिति का आभास कराया। सुदीर्घ भविष्य के प्रति गंभीरतापूर्वक मनन के लिए प्रेरित किया।

भाग्य ने करवट ली, पूज्य १०५ आर्यिका इन्दुमतीजी का सान्निध्य मिला। पत्थर को आकार पाने का अवसर मिला। बालिका भँवरी वैधव्य की कालीघटा को लाँघ कर चल पड़ी संसार की असारता से साक्षात्कार करने। मुक्तिमार्ग की प्रथम सीढ़ी पर पग रखा। २० वर्ष की वय में ब्रह्मचारिणी परिधान की परिधि में संयमित हुई। अनेक तीर्थों की वंदना-भ्रमण करते हुए आर्यिका इन्दुमतीजी के अनुशासन-संरक्षण में पूज्य १०८

आचार्यश्री वीरसागरजी का सान्निध्य मिला। अष्ट मूलगुण धारण कर माघ शुक्ला नवमी कृतिका नक्षत्र में सातवीं प्रतिमा के व्रत से संस्कारित हुई भँवरी बाई ने अपने आपको संयम की सीमा में बाँधने का क्रम जारी रखा। इसी बीच संस्कृत की प्रारंभिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा एवं शास्त्राभ्यास की कड़ियाँ भी जुड़ीं। ब्र. राजमलजी (अनन्तर आचार्य अजितसागरजी) से संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की और बढ़ चली अध्ययन की साधना का एक आधारस्तम्भ बनने।

भारतीय संस्कृति, श्रमण संस्कृति, देश के अनेक नगरों, ग्रामों, जन-जीवन, भाषा, क्षेत्र, पर्यावरण आदि का प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुभव-परीक्षण करते हुए भँवरी बाई को अपने आपको कसौटी पर कसने का अवसर मिला। मन में अपूर्व उल्लास था, संयम-साधना के प्रति दृढ़ विश्वास था और जिनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी। इन सबका समागम धारण किये भँवरी बाई ने पूज्य आचार्य वीरसागरजी से संवत् २०१४ भाद्रपद शुक्ला ६, रविवार, स्वातिनक्षत्र, आचार्य वीरसागरजी, आचार्य महावीरकीर्तिजी दो आचार्य, शिव, श्रुत, धर्म, जय, पद्म, सन्मति, विष्णु ७ मुनिराज, वीरमती, सुमतिमती, पार्श्वमती, इन्दुमती, सिद्धमती, शांतिमती, वासुमती, ज्ञानमती, धर्ममती – ९ आर्यिकाएँ एवं ९ क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ— ऐसे २७ साधुओं के समक्ष नारीजीवन का सर्वोच्च पद, आर्यिका पद ग्रहण किया और आर्यिका सुपार्श्वमती के नाम से अपने नये जीवन की बागडोर संभाली।

स्व-पर कल्याण की भावना लिये आर्यिका सुपार्श्वमतीजी को मनवांछित फल की प्राप्ति हुई। वर्षों की साधना, शास्त्रों का अध्ययन, मुनि-आर्यिकाओं की चर्या आदि अनेक विधाओं का ज्वार उनकी प्रवचनधारा के रूप में प्रस्फुटित होने लगा। उनके उपदेशों से क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या अमीर, क्या गरीब सभी के मन में धर्म के प्रति एक नई आस्था का उद्भव हुआ। जैन समाज में मानों व्रतधारण, संयमित जीवन, जैन सिद्धांतों के प्रति अटूट श्रद्धा-विश्वास, गृहस्थों के कर्तव्य, श्रावकों के कर्तव्य, मुनि-आर्यिकाओं के प्रति उनके कर्तव्य आदि को समझने, पालने एवं अनुकरण करने की मानों होड़ सी लग गई। जैनधर्म की महती प्रभावना करती हुई, अपनी सम्मोहक शैली में मानव की अंतरंग भावना को झंकृत करती हुई, वात्सल्य से परिपूर्ण इस प्रसन्नमूर्ति ने पूरे भारत के तीर्थक्षेत्रों की वंदना की। चारों ओर अमिट धर्मप्रभावना की छटा बिखेरते हुए आर्यिकाजी के संघ का संस्कारधानी जबलपुर (म.प्र.) में आगमन हुआ। आपके प्रवचनों एवं आपकी भावना का सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर पड़ा और मैंने आर्यिका जी का सान्निध्य पाने, धर्ममार्ग पर बढ़ने और जीवन के नूतन अनुभव को प्राप्त करने का संकल्प किया। परिवार से विमुख होकर माताजी का दामन पकड़ लिया और उनकी छत्रछाया में रहने हेतु निवेदन किया। पूज्य माताजी ने अपनी अनुभवी दृष्टि से मुझे परखा और पूर्ण वात्सल्य भाव से मुझे संघ में स्थान दिया। आर्यिका इन्दुमतीजी एवं आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के साथ संघस्थ सभी आर्यिकाओं का मुझे आशीर्वाद मिला। संघ का प्रस्थान पावन भूमि सम्पेदशिखर की ओर हुआ और वहाँ पहुँचकर संघ ने मानों एक छोटा विराम लिया।

तीर्थराज पर श्रावकों की भावनाओं को समझते हुए आर्यिकासंघ द्वारा भारत के पूर्वांचल के भ्रमण का एक अभूतपूर्व साहसिक निर्णय लिया गया और आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अपनी सम्मोहक शैली से सारे पूर्वांचल में मानों एक नई ऊर्जा का संचार किया। साधु-साधवियों के विहार से अछूते रह गए इस अंचल में इस आर्यिकासंघ को प्रथम प्रवेश का श्रेय प्राप्त हुआ। आसाम, नागालैण्ड, बंगाल आदि राज्यों के दुर्गम स्थलों तक

आर्यिका इन्दुमतीजी के नेतृत्व में आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने धर्मध्वजा फहराई। 'रमता जोगी बहता पानी' सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यह संघ पुनः तीर्थराज पर आ विराजा।

**कर्म-रेख में परिवर्तन !** गुरुमाता आर्यिका इन्दुमतीजी के महाप्रयाण का समय आ गया। उनकी यम सल्लेखना, उनकी वैय्यावृत्ति आर्यिका सुपार्श्वमतीजी द्वारा जिस लगन और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक की गई उसकी मिसाल शायद आज के युग में संभव नहीं है। गुरु का वियोग क्षण भर के लिए तो असह्य हुआ परन्तु 'संसार का यही नियम है,' इस सत्य ने उन्हें ढाढ़स बाँधाया और आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने आर्यिकाप्रमुख का भार ग्रहण करते हुए धर्मप्रचार अभियान जारी रखा। एक बार पुनः पूर्वांचल की यात्रा। अनेक स्थानों पर वर्षायोग सम्पन्न करते हुए आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने बुंदेलखंड की ओर कदम बढ़ाए। दुर्गम रास्तों को पार करते हुए, आर्यिकाश्री ने मेरे गृहनगर-जबलपुर में प्रवेश किया। मेरी माँ मानों उनकी प्रतीक्षा में ही थी। आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के सान्निध्य में माँ ने आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिका निश्चलमती नाम से अलंकृत हो समाधिपूर्वक देहविसर्जन किया। 'भक्त के इहाँ भगवान' की उक्ति सारसार्थ हुई।

बुंदेलखंड के तीर्थों की वंदना के बाद आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अतिशयक्षेत्र श्रीमहावीरजी में संवत् २०५५ में वर्षायोग किया जहाँ अनेक धार्मिक आयोजनों के बीच महती धर्मप्रभावना हुई। आचार्य वर्धमानसागरजी का ससंघ सान्निध्य प्राप्त हुआ। वर्षायोग समाप्त होते ही आर्यिकाश्री ने विहार किया और संघ ने अतिशयक्षेत्र श्री चांदखेड़ी जी में प्रवेश किया। विधि की विडंबना ! इसी क्षेत्र में संघस्थ आर्यिका भक्तिमतीजी का स्वास्थ्य डगमगाया और रास्ते में विहार करते हुए उनका समाधिपूर्वक महाप्रयाण हुआ। आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी ने समता भाव रखते हुए राजस्थान की माटी को पवित्र करते हुए आगे गमन किया।

शताधिक मंदिरों की नगरी, गुलाबीनगरी, ऐतिहासिक धरोहरों की नगरी जयपुर में पूज्य आर्यिकाश्री का मंगल प्रवेश हुआ। यह प्रवेश भी इतिहास में एक कड़ी बन गया क्योंकि यहीं आर्यिकासंघ को परम पूज्य आचार्य वर्धमानसागर जी के संघ का सान्निध्य मिला। ४२ वर्षों का अंतराल, आचार्यश्री एवं आर्यिकाश्री के दीक्षाकाल का स्वर्णिम काल, ज्ञानपिपासा की उत्कृष्ट अभिलाषा को सँवारने मानों प्रतीक्षारत था।

ज्ञानसुधा प्रवाहित होने लगी। शंकाओं का समाधान, गूढ़ विषयों के उलझे रहस्यों का सुलझा अर्थ सामने आया। ज्ञानपिपासु मुनियों, आर्यिकाओं को आचार्यश्री एवं आर्यिकाश्री के ज्ञानकोष का अनमोल खजाना प्राप्त हुआ-

सरस्वती के भंडार की, बड़ी अपूर्व बात।

ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढ़े, बिन खरचे घट जात ॥

गुरुओं के लिए तो यह जाँची-परखी बात थी। उन्होंने अपना ज्ञान रूपी खजाना रुचिपूर्वक लुटाया और सान्निध्य में रहे साधुओं, आर्यिकाओं, श्रावकों ने भी यह खजाना जी-भरकर लूटा। जयपुर नगरी का चातुर्मास ज्ञानवर्षा से परिपूर्ण रहा।

ऐतिहासिक नगरी के ऐतिहासिक वर्षायोग में आर्यिकाश्री के संघस्थ बालब्रह्मचारी कैलाशचन्दजी द्वारा ऐलक दीक्षा लेकर मानव-जीवन की सार्थकता प्रकट की गई। आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के चरणसान्निध्य में

चारित्ररूपी रथ पर आरूढ़ होकर ब्र. कैलाशचन्द्र जी आचार्य वर्धमानसागर जी के मार्गदर्शन में उनके कर-कमलों द्वारा मोक्षमार्ग की ओर बढ़े। नाम पाया ऐतक नमितसागर।

इस तरह गुलाबीनगरी में, वास्तव में, गुलाब की गन्ध बिखेरी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अपने करुणामयी स्वभाव से, अपने वात्सल्य से, अपनी कठोर साधना से, अपने दृढ़ चारित्र से और अपनी मोहक शैली के प्रवचनों से।

काल की गति रुकती नहीं। आर्यिकाश्री ने वर्षायोग पूर्ण कर कूच किया मारवाड़ की धरती की ओर। दुर्गम रास्तों, दुरूह मौसमी तेवरों का सामना करते हुए मारवाड़ प्रांत के अनेक ग्रामों-नगरों में धर्मसुधा प्रवाहित करते हुए आर्यिकासंघ का अविस्मरणीय मंगल प्रवेश नागौर नगरी में हुआ। यह वही नागौर है जहाँ ६० वर्ष पूर्व आर्यिकाश्री ने सेठ छोगमलजी बड़जात्या की बहू के रूप में प्रवेश किया था। आज नारीजीवन के सर्वोच्च पद गणिनी आर्यिकाश्री के रूप में माताजी का आगमन नागौर-वासियों के लिए महान् पुण्य का उदय है। साठ वर्षों के भ्रमण ने परशर को आकर, विश्व, बोलले को हीरा बनाया और अनपढ़ अबोध बालिका को जनमानस में पूज्य परम विदुषी गणिनी आर्यिकाश्रेष्ठ पद पर आसीन किया। एक समय था जब संसार को बढ़ाने की खुशी में समाज का योगदान था और एक समय आज का है जब जनमानस संसार से मुक्त होने की दिशा में अग्रसर आर्यिकाश्री के धर्मानुबंध में सहयोगी बनने को आतुर है। यही तो सच्चे सुख को पाने की राह है।

बधू के रूप में अपनाते वाली नागौर नगरी का उपकार करने हेतु ही मानों आर्यिकाश्री का पावन वर्षायोग यहाँ हो रहा है।

आग में तपने पर कंचन का खरापन निखरता है, त्याग-तपस्या की अग्नि से निकलकर आर्यिकाश्री के ज्ञान का भंडार समृद्ध हुआ। आपने लेखनी का अवलम्बन लेकर ज्ञान के अनेक सोपानों को पुस्तकाकार दिया। मानवजीवन के लिए इससे बढ़कर उपकार क्या होगा! आज भी आर्यिकाश्री की लेखनी और वक्तव्य शैली अपनी अलग छाप रखती हैं। आर्यिकाश्री की पवित्र लेखनी के कुछ प्रसून हैं—

तत्त्वार्थ राजवार्तिक—भाग १ एवं २, तत्त्वार्थवृत्ति, अष्टपाहुड़, आचारसार, नीतिसारसमुच्चय, मेरा चिन्तवन, पाण्डवपुराण, नेमिनाथपुराण, वरांगचरित्र, नारी का चातुर्य, दशलक्षण धर्म, प्रतिक्रमण पंजिका, नैतिक शिक्षाप्रद कहानियाँ — भाग १ से भाग ७, इत्यादि एवं जैनदर्शन के सबसे क्लिष्ट एवं न्यायपूरित ग्रंथराज तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकार का प्रथम खण्ड अभी प्रकाशित हुआ है। शेष खण्ड भी क्रमशः प्रकाशित होंगे। अन्य प्रकाशयमान टीका-कृतियाँ हैं— आराधनासार (देवसेन), रत्नकरण्डश्रावकाचार।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा को कोटि-कोटि वंदन, कोटि-कोटि नमन।

— ब्र. (डॉ.) प्रमिला जैन, संघस्थ

## 卐 सम्पादकीय 卐

जैन वाङ्मय में गृह्यपिच्छाचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं तो समन्तभद्र स्वामी प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। स्वामी समन्तभद्र केवल कवि और स्तुतिकार ही नहीं अपितु प्रकाण्ड दार्शनिक, प्रखर तार्किक और गम्भीर चिन्तक भी हैं। इनकी दार्शनिक रचनाओं पर भट्ट अकलंक और विद्यानन्द जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिता का यश अर्जित किया है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों/विद्वानों ने अपनी रचनाओं में आपको अनेक उपमाओं-विरुद्धों से विभूषित कर अति श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

आप स्याद्वादमार्गप्रणेता (अष्टशती : अकलंकदेव), महाकवि ब्रह्मा (आदिपुराणकर्ता जिनसेनाचार्य प्रथम), जनानन्द, मुनिवन्द्य, कविकुंजर (अलंकार चिन्तामणि-अजितसेनाचार्य), सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर (वरांगचरित्र : वर्धमानसूरि), कवीन्द्र भास्वान् (आचार्य शुभचन्द्र), उत्कृष्ट काव्यमणियों का पर्वत (यशोधरचरित : वादिराजसूरि), अनघवाणी (सिद्धान्तसारसंग्रह : नरेन्द्रसेनाचार्य), भारतभूषण (पाण्डवपुराण : भद्रारक शुभचन्द्र), त्रिभुवनलब्धजयपताक, प्रमाणनयचक्षु और स्याद्वादशरीर, तार्किक चूड़ामणि (देवागम की संस्कृतटीका : आचार्य वसुनन्दी), कालिकाल गणधर और शास्त्रकार (कनड़ी शिलालेख-हुमच, शिमोगा), जिनशासनप्रणेता, भद्रमूर्ति (शिलालेख श्रमणवेलगोल), भविष्यतीर्थकर (षट्प्राभृत टीका : श्रुतसागर), भावी तीर्थकर (विक्रान्तकौरव : हस्तिमल्ल, जितेन्द्र-कल्याणाभ्युदयः अय्यपार्य), भावितीर्थकर (आराधनकथाकोश : नेमिदत्त), 'आभावितीर्थकरन् अप्य समन्तभद्र स्वामिगलु' (राजावली कथे) आदि अनेक प्रशस्तियों से अभिनन्दित किये गये हैं।

'अनेकान्तजयपताका' में श्वेताम्बरचार्य श्रीहरिभद्रसूरि ने आपको वादिमुख्य संज्ञा से अभिहित किया है। हेमचन्द्र ने सिद्ध हैम शब्दानुशासन में आपको स्तुतिकार और मलयगिरि ने 'आवश्यकसूत्र टीका' में आपको आद्यस्तुतिकार के रूप में स्मरण किया है।

इस प्रकार जैन वाङ्मय में स्वामी समन्तभद्र महातेजस्वी विद्वान्, प्रभावशाली दार्शनिक, महावादिविजेता, कवि-वेधा और आद्यस्तुतिकार के रूप में स्मरण किये गये हैं। जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ-साथ आप तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य-कोशादि विषयों में पूर्णतया निष्णात थे। अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा आपने तात्कालिक ज्ञान-विज्ञान के प्रायः समस्त विषयों को आत्मसात् कर लिया था। संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं के आप पांगत विद्वान् थे। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य के अनुसार "इन्हें हम श्रुतधर आचार्य परम्परा और सारस्वत आचार्य परम्परा को जोड़ने वाली अटूट शृंखला कह सकते हैं। इनका व्यक्तित्व श्रुतधर आचार्यों से कम नहीं है।"

१८ वर्ष की अल्पायु में ही आपने मुनिपद ग्रहण किया था और लगभग पाँच दशक तक जैन धर्म और दर्शन की ध्वजा फहराते हुए सम्पूर्ण भारत में भ्रमण कर आप एक क्रान्तिकारी आचार्य के रूप में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को सम्मोहित करते रहे। ऐसा दिग्गज प्रभावशाली विद्वान् और सरलपरिणामी सशक्त विवक्षाकार जैन साहित्य में कोई दूसरा दिखाई नहीं देता।

स्वामी समन्तभद्र उस काल में हुए जब अश्वघोष, मातृचेद, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनी जैसे उद्भट दार्शनिक विद्वानों की विचारधारायें प्रचलित हो रही थीं जिनमें सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद, अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद- इन चार विरोधी युगलों का प्रमुख था। स्वामी समन्तभद्र ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों द्वारा इन चार युगलों को सप्तभंगों के रूप में निरूपित कर सप्तभंगी की नयी विचारधारा तत्कालीन दार्शनिक जगत् को दी। आपने सर्वज्ञ-अभाववादी मीमांसक, भावैकवादी सांख्य, एकान्तपर्यायवादी एवं क्षणिकवादी बौद्ध, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक एवं नास्तिकवादी चार्वाक के एकान्तदर्शन की अपूर्णता सिद्ध कर अनेकान्तदर्शन एवं स्याद्वाद को प्रतिष्ठापित किया।

जैन न्याय सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने वाले आप अप्रतिम आचार्य हैं। अपने बहुमुखी तत्त्वज्ञान, धाक्पटुता भाषाधिकार, शुद्ध अन्तःकरण, निर्मल पवित्र जीवनयात्रा तथा आत्मवैभव से परिपुष्ट प्रभावक व्यक्तित्व एवं प्रखर दार्शनिक एवं विद्वत्तापूर्ण भक्ति-रचनाओं रूप कृतित्व के कारण आप चिरकाल तक सबके श्रद्धास्पद बने रहेंगे।

प्रस्तुत कृति **स्तुतिविद्या/जिनशतक/जिनस्तुतिशतक** शब्दालंकार प्रधान स्तुतिकाव्य है। साहित्य की एक नयी विधा के प्रवर्तक होने के कारण आप स्तुतिकार या आद्यस्तुतिकार के रूप में सदैव वन्दनीय हैं। संस्कृत शतक परम्परा का आद्यशतक **जिन शतक** उत्तरवर्ती शतकों के लिए दीपस्तम्भवत् कार्यकारी रहा है। यह भक्तियोग का प्रमुख ग्रन्थ है। इसके स्मरण, पूजन, अंजलिबन्धन, कथाश्रवण, दर्शन, शरणागति, भजन, नामकीर्तन आदि अंग आत्मविकास में और मन की एकाग्रता में सहायक हैं। इस भक्तिपरक रचना में जैन सिद्धान्तों की विवेचना रोचक और कलापूर्ण शैली में सन्निविष्ट है। इसमें चित्रकाव्य और बन्धरचना का अपूर्व कौशल समाहित है। रचनाकार की काव्यकला इस स्तोत्र में आद्यन्त व्याप्त है। मुरजादि चक्रबन्ध की रचना के कारण चित्रकाव्य का उत्कर्ष इस स्तुतिकाव्य को अद्वितीयता का गौरव प्रदान कर रहा है। इस कृति में मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, गतप्रत्वागतार्थ, चक्रबन्ध, अनुलोभ प्रतिलोभ क्रम एवं सर्वतोभद्र आदि चित्रों का प्रयोग आया है। एकाक्षर पद्यों की सुन्दरता कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय है। यमक, अनुप्रास, वीप्सा, काव्यलिंग, श्लेष आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग ने रचना को रमणीय बनाया है।

इस अद्भुत भक्ति रचना को **पूज्य आर्यिका सुपाश्वर्यमती माताजी** ने सहृदय भक्तों के लिए हिन्दी में अनूदित कर रसास्वादन योग्य बनाया है। साथ ही इसके भावपक्ष (जिनभक्ति का माहात्म्य) एवं कलापक्ष (शब्दप्रयोग, अलंकार-बन्ध रचना) की विशिष्टताओं/सूक्ष्मताओं का भी सम्यक् दिग्दर्शन कराया है। पहले मूल संस्कृत श्लोक है, फिर उसकी आचार्य वसुनन्दी कृत संस्कृतटीका। इसके बाद माताजी ने अन्वय लिखा है, फिर अन्वयार्थ/शब्दार्थ/अनन्तर विस्तृत भावार्थ और फिर आवश्यक हुआ तो चित्र। सभी श्लोकों की व्याख्या में यही क्रम रहा है।/ रुचिशील सहृदय को इस व्याख्या पद्धति से रचना का हार्द हृदयगत हो सकेगा, ऐसी आशा है। पूज्य माताजी के वैदुष्य एवं परिश्रम की जितनी सराहना की जाय, कम है। आयु के ७० से भी अधिक वसन्त पार कर लेने पर भी उनमें कार्यनिष्ठादान की अद्भुत क्षमता है। उनकी लेखनी सतत चलती ही रहती है। अभी-अभी उन्होंने **देवसेन रचित आराधना सार** की हिन्दी टीका पूर्ण की है और अब **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** की हिन्दी व्याख्या लिख रही हैं। **स्तुतिविद्या** के प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन का गुह्यतर उत्तरदायित्व मुझ अल्पज्ञ पर डाल कर पूज्य आर्यिकाश्री ने मुझ पर जो अनुग्रह किया है, एतदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मैं पूज्य माताजी के श्रीचरणों में सविनय वंदामि निवेदन करता हूँ।

संघस्था **डॉ. प्रमिला बहन** के प्रति भी उनके अनन्य सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थसहयोग प्रदान करने वाली **श्रीमती अनोपदेवी धर्मपत्नी स्व. श्री पूसराजजी बाकलीवाल, गोलाघाट (आसाम)** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए **निधि कम्प्यूटर्स** के **श्री क्षेमकर पाटनी** व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद। त्वरित मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर** को साधुवाद देता हूँ।

मेरे प्रमाद व अज्ञान से भूलें रह जाना स्वाभाविक है। पाठकों से सविनय अनुरोध है कि वे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्दभाव से मुझे उन भूलों से अवगत कराने की अनुकम्पा करें।

## •~• दो शब्द •~•

स्तुति विद्या : इसका दूसरा नाम जिनशतक है। इसके रचयिता श्री समन्तभद्राचार्य हैं। आचार्यदेव न्याय-व्याकरण-संस्कृत-प्राकृत-विद्या के परम ज्ञाता थे। उनके हृदय में वीतराग प्रभु के प्रति अगाढ़ भक्ति, श्रद्धा, अनुराग था। इनका हृदय भक्तिरस से अत्यन्त भीगा हुआ था अतः उन्होंने स्वयम्भू स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, स्तुति विद्या आदि अनेक भक्तिकाव्यों की रचना की। भक्तिस्तोत्र होते हुए भी न्यायशास्त्र, छन्द-व्याकरण आदि का उल्लेख करने में इनके वाक्य कोई ग्रन्थ नहीं है।

इन ग्रन्थों में ग्रन्थकार की सर्वांगीण विद्वत्ता दृष्टिगोचर हो रही है। स्तुतिविद्या ग्रन्थ भी एक महान् ग्रन्थ है। संस्कृत भाषा की क्षमता का यह ग्रन्थ उत्कृष्ट निदर्शन है। एकाक्षरी, द्विअक्षरी, निर्मात्रा आदि में रचित श्लोक हृदय को आश्चर्यचकित करने वाले हैं। गूढ़ अर्थ, एक शब्द के अनेक अर्थ आदि अनेक विशेषताएँ ग्रन्थकार की विद्वत्ता को प्रगट कर रही हैं। संस्कृत टीका का आश्रय लेकर मैंने जो इसका अर्थ किया है उसमें गलतियाँ, त्रुटियाँ या विपरीतता हो सकती है, उन भूलों के लिए विद्वज्जन मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

इस ग्रन्थ के अनुवाद आदि कार्यों में सहयोगकर्त्री संघस्था बालब्रह्मचारिणी डॉ. प्रमिलाजी की आभारी हूँ। उनको आशीर्वाद देती हूँ कि वे शीघ्र ही आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर आत्मकल्याण करें तथा अपनी ओजस्वी वाणी के माध्यम से धर्म का प्रचार करें।

सम्पादनकला-कुशल डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी सदैव मेरे आशीर्वाद के सुपात्र हैं।

— आ. सुपार्श्वमती

## •~• ग्रन्थ के सम्बन्ध में •~•

मानव-जीवन में लय का स्थान सर्वोपरि है। जीवन का सार तत्त्व लय ही है। इसीलिए उत्कर्ष, हर्ष एवं विषाद के उच्छ्वासों तथा गुरुत्व और लघुत्व के कारण लय रूपी लहरें स्पन्दित होती हैं। मधुर लय एवं स्वर को सुनकर मानव मन की रागिनियाँ तन्मय हुए बिना नहीं रह सकतीं। वसन्ततिलका छन्द (भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र आदि) को सुनकर मनमयूर नाच उठता है, आनन्दविभोर हो जाता है। मन्दाक्रान्ता छन्द के पठन-उच्चारण करने से अपने आप अश्रुधारा बहने लगती है। मनोहर लय में वीर रस के गीत सुनकर वीरता प्रगट होती है, शांत रस को सुनकर शांति का अनुभव होता है, करुणाकारक गीत सुनकर करुणा उत्पन्न होती है।

### छन्द विधान :

साहित्य में छन्दविधान इसी लय को नियन्त्रित करता है। छन्द को काव्य का संगीत भी कहा गया है जो लय, गति और यति से नियन्त्रित होकर काव्यानुभूति को प्रभविष्णु और हृदय-ग्राही बनाता है।

छन्दशास्त्रियों के अनुसार काव्य-रचना के लिए छन्द एक अनिवार्य तत्त्व है क्योंकि गद्य का नियामक याँदे व्याकरण है तो कविता का नियामक छन्द है। छन्द वस्तुतः पद्यरचना का मापक यंत्र है, जिससे अनुशासनबद्ध कविता की सृष्टि होती है।

छन्द हृदय की सौन्दर्य भावना को भी जागृत करता है। छन्दोबद्ध कथन में एक विचित्र प्रकार का आह्लाद होता है। तुक (यति, विराम, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का उच्चारण) छन्द का प्राण है, जो पाठक की आनन्द भावना को प्रेरित कर जगाता है। छन्दबद्ध रचना में स्थायित्व अधिक होता है। इसीलिए छन्द काव्य का एक अत्यन्त उपयोगी तत्त्व माना गया है।

श्री समन्तभद्राचार्यदेव ने स्वकीय रचित स्वयम्भू स्तोत्र में पृथ्वीछन्द, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी उपजाति, इन्द्रवज्रा आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।

‘स्तुति विद्या’ काव्य होते हुए भी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित नहीं है। यह स्तुतिपरक है, तथापि आचार्यदेव ने इसमें छन्दों का प्रयोग किया है। इसमें १०८ श्लोक अनुष्टुप् छन्द में हैं और ८ श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में हैं।

### अलंकार निरूपण :

काव्य में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। वे काव्य के शोभाकारी तत्त्व होते हैं। उनके बिना भाषा में चमत्कार तथा उक्तिवैचित्र्य की उद्भाषना संभव नहीं है। सीधी-सादी सरल बात भी अलंकारों का संयोग पाकर आकर्षक हो जाती है। अलंकार के प्रयोग से साम्य, साधर्म्य तथा विरोध के आधार पर पाठक के हृदय में एक बिम्ब उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार श्रव्य भी पाठक के लिए दृश्यसा आह्लादकारी हो जाता है।



‘स्तुतिविद्या’ (जिनशतक) शब्दालंकार प्रधान काव्य ग्रन्थ है। इसमें यमक तथा चित्रालंकार के जिन विविध रूपों को आचार्य महोदय ने सामने रखा है उन्हें देखकर आपके अगाध काव्य-कौशल का सहज ही पता चल जाता है।

समन्तभद्राचार्य ने इस काव्य में अलंकृत भाषा में चतुर्विंशति तीर्थकरों की बड़ी ही कलात्मक स्तुति की है। इस स्तुति-काव्य में शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार का कथन है। एक शब्द के अनेक अर्थ करके एक ही शब्द का अनेक बार प्रयोग करना शब्दालंकार है। तथा एक अर्थ में अनेक शब्दों का प्रयोग करना अर्थालंकार है।

किसी श्लोक के एक चरण को उलट कर रख देने से दूसरा चरण, पूर्वार्ध को उलट कर रख देने से उत्तरार्ध और समूचे श्लोक के चरण को उलटकर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है, इत्यादि शब्दालंकार है। अर्थ की भिन्नता अर्थालंकार है। चित्रालंकार के मुरजबंध, अर्धभ्रम, गतप्रत्यागत, त्रिचक्र आदि अनेक भेद हैं।

**यमकालंकार** - जहाँ एक शब्द एक से अधिक बार प्रयुक्त हो और उसका अर्थ प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न हो वहाँ यमक अलंकार होता है।

जिस श्लोक में अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक-पाद; पद और वर्णों की पुनरावृत्ति होती है, वह यमक अलंकार है। वह आवृत्ति पाद के आदि, मध्य तथा अन्त में होती है तथा कहीं अन्य पाद, पद और वर्णों से व्यवहित होती है और कहीं अव्यवहित होती है। अलंकार विषय के प्राचीन ग्रन्थों में इस अलंकार के अनेक भेद बतलाये हैं परन्तु यहाँ आवश्यक समझकर सिर्फ कुछ भेदों का कथन किया जाता है।

जहाँ प्रथम और द्वितीय पाद में समानता हो उसे **मुख यमक** कहते हैं।१।

जहाँ प्रथम और तृतीय पाद में समानता हो वह **सन्देश यमक** है।२।

जहाँ प्रथम और चतुर्थ पाद में समानता हो उसे **आवृत्ति यमक** कहते हैं।३।

जहाँ द्वितीय, तृतीय पाद में समानता हो उसे **गर्भयमक अलंकार** कहते हैं।४।

जहाँ द्वितीय और चतुर्थ पाद में समानता होती है, वह **संदृष्टक यमक अलंकार** है।५।

जहाँ तृतीय और चतुर्थ पाद में समानता हो उसे **पुच्छ यमक अलंकार** कहते हैं।६।

जहाँ चारों चरण एक समान हों उसे **पंक्ति यमक अलंकार** कहते हैं।७।

जहाँ प्रथम एवं चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय पाद एक समान हों उसे **परिवृत्ति अलंकार** कहते हैं अथवा जहाँ भावसौन्दर्य वृद्धि के लिए एक ही अर्थ में घन-घन-सुघन आदि शब्दों की आवृत्ति हो उसको **पुनरुक्ति यमक अलंकार** कहते हैं।८।

जहाँ प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद एक समान अक्षरों से निर्मित हैं, उसे युग्म यमक अलंकार कहते हैं। १।

जहाँ श्लोक का पूर्वार्ध और अपरार्ध एक समान हों, वह समुद्गमक यमक है। १०।

जहाँ एक ही श्लोक दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोक यमक कहते हैं। ११।

इस ग्रन्थ के पाँचवें श्लोक में संदृष्टक यमक, १५वें श्लोक में युग्मक यमक, २५वें और ५२वें श्लोक में समुद्गमक यमक, ११-१२वें, १६-१७वें, ३७-३८वें, ४६-४७वें, ७६-७७वें और १०६-१०७वें श्लोकों में महायमक (श्लोकयमक) हैं।

**उपमालंकार-** किसी वस्तु की समानता के आधार पर दूसरी वस्तु से उसकी तुलना करना उपमालंकार है। आचार्यदेव ने इस स्तोत्र के प्रसंग में अनेक स्थलों पर इस अलंकार का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ के ७७वें श्लोक में शान्तिनाथ भगवान को मेरु की उपमा दी है।

**रूपक अलंकार** — रूपक का अर्थ रूप ग्रहण करना है। जब उपमेय में उपमान का निषेध-रहित आरोप किया जाता है, तब रूपक अलंकार होता है। ११५ वें श्लोक में रूपक अलंकार है।

**श्लेष अलंकार** — जहाँ एक ही शब्द के श्लिष्ट से अनेक अर्थ हों वहाँ श्लेष अलंकार होता है। इसका उदाहरण ८८वाँ श्लोक है।

जहाँ पर काव्य की सौन्दर्यवृद्धि के लिए एक ही शब्द एक ही अर्थ में पुनरुक्त हो, वहाँ पुनरुक्त अलंकार होता है।

शोक, क्रोध आदि मनोवेगों की सूचना देने के लिए जहाँ किसी शब्द का बार-बार प्रयोग किया जाता है वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना कर ली जाती है उसे उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं। इस काव्य के ४५वें श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है। ४१वें श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है। उत्प्रेक्षा हमेशा कल्पित होती है उसमें सत्यांश नहीं होता।

जिसमें पूर्व में किसी वस्तु में किसी की उपमा देकर पुनः कुछ विशेषता बतलाई जाती है वह व्यतिरेक अलंकार है। ७२वें श्लोक में व्यतिरेक अलंकार है। इस श्लोक में भगवान को सूर्य से उपमा देकर पुनः शान्तिनाथ भगवान में वैसा दृश्य सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

जिस अलंकार में किसी पदार्थ की दूसरे से उपमा न देकर उसकी उपमा उसी से दी जाये वह अनन्वय अलंकार है। 'नाके नाकौकसामिव' स्वर्ग का सुख स्वर्ग के सुख के समान है। इस स्तुति में ७९वें श्लोक में आचार्यदेव ने शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए उनके लिए 'स्वसमान' विशेषण दिया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि हे भगवन्! आप अपने ही समान हैं, अनुपम हैं। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा आपको दी जाये। यह अनन्वयालंकार है।

अनेक पद्य इस ग्रन्थ में ऐसे हैं जो एक से अधिक अलंकार लिये हुए हैं जिसका एक उदाहरण ८४वाँ श्लोक है, जो आठ प्रकार के चित्रालंकारों से अलंकृत है। जैसे इस श्लोक में 'अम्' 'अव्' 'रक्ष्' इन अनेक क्रियाओं के होने से 'बहुक्रियापद', द्वितीयपाद में क्षमाक्ष-क्षमाक्ष की पुनः आवृत्ति होने से द्वितीय पाद मध्य यमक, तालु स्थानीय इवर्ण, चवर्ण, य श अक्षरों के न होने से 'अतालुव्यञ्जन', केवल अवर्णस्वर होने से 'अवर्णस्वर', प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद में द्वितीय पाद के गुप्त होने से 'गूढ द्वितीय पाद', सब ओर से एक समान पढ़े जाने के कारण 'सर्वतोभद्र', क्रम और विपरीत क्रम से पढ़े जाने के कारण 'गतप्रत्यागत' और अर्धभ्रम रूप होने से 'अर्धभ्रम', इस प्रकार आठ प्रकार का चित्रालंकार इस श्लोक में है।

इसमें अनेक प्रकार के मुरजबंध, अर्धभ्रम, चक्रक आदि चित्रालंकार हैं।

कितने ही श्लोक ग्रन्थ में ऐसे हैं जिनमें पूर्वार्ध के विषम संख्यांक अक्षरों को उत्तरार्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से पूर्वार्ध, और उत्तरार्ध के विषम संख्यांक अक्षरों को पूर्वार्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से उत्तरार्ध हो जाता है। ये श्लोक मुरज अथवा मुरजबन्ध कहलाते हैं क्योंकि इनमें मृदंग के बंधनों जैसी चित्राकृति को लिये हुए अक्षरों का बंधन रखा गया है। ये चित्रालंकार थोड़े-थोड़े से अन्तर के कारण अनेक भेद लिये हुए हैं और अनेक श्लोकों में समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणों के चार आद्य अक्षरों को अन्तिम आदि चरणों के चार अन्तिम अक्षरों के साथ मिलाकर पढ़ने से प्रथम चरण बन जाता है। इसी प्रकार प्रथम आदि चरणों के द्वितीयादि अक्षरों को अन्तिमादि चरणों के उपान्त्यादि अक्षरों के साथ-साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने पर द्वितीयादि चरण बन जाते हैं, ऐसे श्लोक 'अर्धभ्रम' कहलाते हैं- श्लोक संख्या तीन, चार, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, सत्ताईस, छत्तीस, तैंयालीस, चवालीस, छप्पन, नब्बे और बानवे 'अर्धभ्रम' हैं।

किसी स्थल पर श्लोक के एक चरण को उलट कर (विपरीत क्रम से) रख देने से दूसरा चरण बन जाता है- जैसे श्लोक संख्या १०-८३-८८-९५ हैं। पूर्वार्ध को उलट कर रख देने से उत्तरार्ध बन जाता है जो इस ग्रन्थ के सत्तावनवें, छ्यानवें और अठानवें श्लोक हैं।

सारे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है, जो इस ग्रन्थ में छियासी-सत्तासी संख्यक श्लोक हैं।

कहीं-कहीं चरण के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में भी ऐसा क्रम रखा गया है और कहीं-कहीं एक चरण में क्रमशः जो अक्षर हैं, वे ही दूसरे चरण में हैं। पूर्वार्ध में जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्ध में हैं और पूर्ववर्ती श्लोक में जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोक में हैं, परन्तु अर्थ उन सबका एक दूसरे से प्रायः भिन्न है और उन अक्षरों को सटाकर तथा पृथक् रखकर भिन्न-भिन्न शब्दों तथा पदों की कल्पना द्वारा संगठित किया गया है। इसका उदाहरण इस ग्रन्थ का पाँचवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ, पच्चीसवाँ और बावनवाँ श्लोक हैं।

श्लोक संख्या १०२ का उत्तरार्ध है- 'श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे'। अगले दो श्लोकों का भी यही उत्तरार्ध इसी अक्षर-क्रम को लिये हुए है, परन्तु वहाँ अक्षरों के विन्यास भेद और पदादिक की पृथक् कल्पनाओं से अर्थ प्रायः बदल गया है।

कुछ पद्य चक्राकृति रूप अक्षरविन्यास को लिये हुए हैं, जिससे इन पद्यों के कुछ अक्षर चक्र में एक बार लिखे जाकर अनेक बार पढ़ने में आते हैं।

नन्द्यनन्तद्धर्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन।

नन्दनर्द्धिनन्तो न नद्यो नष्टोऽभिनन्द्य न ॥२२॥

बावीसवें श्लोक में प्रथम अक्षर को गर्भ में रखकर बनाया हुआ चार आरों वाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओं में स्थित चारों आरों के अन्त में भी वही अक्षर पढ़ता है। अन्त और उपान्त्य के अक्षर दो-दो बार पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार तेईसवाँ और चौबीसवाँ श्लोक भी है।

२६-५३-५४ आदि श्लोकों के अक्षर भी चक्राकृति आकार हैं।

श्लोक संख्या १११ और ११२ कई विशेषताओं से युक्त हैं। उनकी छहों आरों और नव वलय-वाली चक्ररचना करने पर गर्भ में अथवा केन्द्रवृत्त में स्थित जो एक अक्षर न या र है वही छहों आरों के प्रथम, चतुर्थ तथा सप्तम वलय में भी पढ़ता है और इसलिए चक्र में १९ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है- श्लोक में भी दो-दो अक्षरों के अन्तराल में २८ बार प्रयुक्त हुआ है।

इस ग्रन्थ में कुछ चक्रवृत्त ऐसे भी हैं जिनमें प्रथम अक्षर को गर्भ में नहीं रखकर वह अक्षर गर्भ (बीच) में रखा गया है जो प्रथम तीन चरणों में से प्रत्येक के मध्य में प्रयुक्त हुआ है। जैसे ११०, ११३, ११४, ११५, ११६वाँ श्लोक है।

इन चक्रवृत्त श्लोकों में सोलहवाँ श्लोक कवि और काव्य के नामों को अंकित करने वाला है।

कितने ही श्लोक इस ग्रन्थ में ऐसे हैं जो दो-दो अक्षरों से बने हैं अर्थात् दो व्यंजनाक्षरों से ही उनके चारों चरण रचित हैं- जैसे इक्कावनवाँ श्लोक न और म इन दो अक्षरों से निर्मित है। बावनवाँ श्लोक न और त इन दो अक्षरों से बना है। श्लोक संख्या ५३ और ५५ न और त, अक्षर से निर्मित हैं।

पिच्यासीवाँ श्लोक व और र इन दो अक्षरों से रचित है। तिरानवे, चौरानवे, सत्तानवे संख्यक श्लोक न और म इन दो अक्षरों से निर्मित हैं। १००वाँ और १०९ वाँ श्लोक त और म इन दो अक्षरों से रचित हैं।

इस ग्रंथ का १४ वाँ श्लोक ऐसा है जिसका प्रत्येक चरण पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षर से निर्मित है। जिसका प्रथम चरण य, द्वितीय चरण न, तृतीय चरण म, और चतुर्थ चरण त अक्षर से निर्मित है।

इस ग्रंथ का १३ वाँ श्लोक केवल एक त अक्षर से रचा गया है तथा अन्य भी श्लोक ऐसे हैं जो अनेक गूढ़ अक्षर, गूढ़ क्रिया और गूढ़ अर्थ से युक्त हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार के अनेक भेद-प्रभेदों से अलंकृत है। इसीलिए टीकाकार वसुनन्दी आचार्यदेव ने टीका के प्रारंभ में ही इस कृति को 'समस्तगुणगणोपेता' विशेषण के साथ 'सर्वालंकारभूषिता' प्रायः सर्व अलंकारों से भूषित लिखा है। अतः वास्तव में, गूढ़ शब्दालंकारों से युक्त यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्य को सूचित करता है। इस ग्रन्थ की दुर्बोधता का उल्लेख वसुनन्दी आचार्य महोदय ने 'योगिनामपि दुष्करा' योगियों के भी दुर्गम (कठिनता से जानने योग्य) विशेषण के द्वारा किया है और साथ ही इस कृति को 'सद्गुणाधारा' उत्तम गुणों की आधारभूत बतलाते हुए 'सुपदिनी' भी सूचित किया है। इससे ही इसके अंगों (पद्यों) की मृदुता, सुरभिता और सुन्दरता का सहज ज्ञान हो जाता है। इस ग्रन्थ के पठन, मनन और चिन्तन से ज्ञात होता है कि आचार्यदेव के हृदय में वीतराग प्रभु के प्रति कैसी प्रगाढ़ भक्ति थी, उनका हृदय कितना सरल और विनम्र था। इनके द्वारा रचित 'स्वयंभू स्तोत्र' आदि स्तुतिपरक ग्रन्थों से देव के गुणों का गहन परिचय मिलता है और देव की साकार मूर्ति सामने आ जाती है। ऐसा लगता है कि ऐसी ही किसी मूर्ति को हृदय पटल पर अंकित करके आचार्यदेव उसका ध्यान, भजन, चिंतन, आराधन किया करते थे, जैसा कि उनके 'स्वचित्तपटया लिख्य जिनं चारु भजत्ययम्' ॥१०१॥ इस श्लोक वाक्य से जाना जाता है।

### स्तोत्र-रचना का उद्देश्य :

आराध्य के गुणों में तल्लीनता ही वास्तविक भक्ति है। आचार्यदेव की इस 'स्तुति विद्या' के अवलोकन, चिन्तन, मनन से ज्ञात होता है कि उनके हृदय में कैसी अटूट जिनभक्ति थी।

स्तुतिकार का स्तुति करने का आन्तरिक प्रयोजन है स्तुत्य के गुणों की प्राप्ति। जिस स्तोता के हृदय में भोगोपभोग की प्राप्ति का लक्ष्य है, वास्तव में तो वह शुभोपयोग का भी विषय नहीं है।

जिनस्तोत्र वा चतुर्विंशति जिन का स्तवन या आचार्यदेव के द्वारा रचित 'स्तुतिविद्या' केवल स्तोत्र ही नहीं अपितु सारे जैन सिद्धान्त को विषय करने वाला है अर्थात् इसमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग-इन चारों अनुयोगों का मथितार्थ संनिविष्ट किया गया है। न्याय, छन्द, अलंकार और व्याकरण का तो यह बेजोड़ ग्रन्थ है। इसके अध्ययन करने से सारे व्याकरण सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी, छन्द सम्बन्धी तथा जैन सिद्धान्त वा जैन सिद्धान्त का मौलिक रूप सामने आ जाता है।

इस ग्रन्थ में प्रथम चार श्लोकों में मंगलाचरण किया गया है। तदनन्तर ११ श्लोकों के द्वारा आदिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। दो श्लोकों में अजितनाथ की, तीन श्लोकों में संभवनाथ की, चार श्लोकों द्वारा अभिनन्दन की, दो श्लोकों द्वारा सुमतिनाथ की, दो श्लोकों में पद्मप्रभु की, एक श्लोक में सुपार्श्वनाथ की, सात श्लोकों में चन्दाप्रभु की, चार श्लोकों में पुष्पदंत की, दो श्लोकों में शीतलनाथ की, पाँच श्लोकों में श्रेयांसनाथ की, दो श्लोकों में वासुपूज्य की, चार श्लोकों में विमलनाथ की, दो श्लोकों में अनन्तनाथ की, ग्यारह श्लोकों में धर्मनाथ की, चौदह श्लोकों में शांतिनाथ की, चार श्लोकों में कुन्धुनाथ

जिन पवित्रात्माओं में आत्मा का शुद्ध स्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है, उनकी उपासना करने वाले भव्य प्राणी भी अपने आप में उस शुद्ध स्वरूप को प्रगट करने में समर्थ हो जाते हैं, जैसे तैलादिक से सुसज्जित बत्ती दीपक की उपासना करती हुई जब उसके प्रति तन्मय हो जाती है तब वह तद्रूप हो जाती है, स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब भक्तियोग का माहात्म्य है, स्तुति, पूजा और प्रार्थना इसके प्रधान अंग हैं। साधु स्तोता की स्तुति कुशल परिणामों की (पुण्य प्रसाधक शुभ भावों की) निमित्तभूत होती है और अशुभ अथवा पाप की निवृत्ति रूप कुशल परिणाम ही आत्मा के विकास में सहायक होते हैं। इसीलिए समन्तभद्राचार्य ने स्वरचित 'स्वयंभू स्तोत्र' में वीतराग नेमिनाथ भगवान के स्तोत्र में स्तुति को कुशल परिणामों की हेतु बतलाकर उसके द्वारा कल्याणमार्ग को सुलभ और स्वाधीन बतलाया है। तथा वासुपूज्य भगवान की स्तुति में यह भी कहा है कि वीतराग प्रभु के शक्ति गुणों का स्मरण आत्मस्थित पापमल को दूर करके उसे पवित्र बनाता है।

इस स्तुतिविद्या में भी आचार्यदेव ने ११५ वें श्लोक में लिखा है कि जिनका स्तवन संसार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिए अग्नि के समान है, जिनका स्मरण दुःख रूप समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषों के लिए उत्कृष्ट निधान-खजाने के समान है, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति-प्रतिमा सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली है और जिन्हें हर्षपूर्वक प्रणाम करने वाले एवं उनका मंगलगान करने वाले नग्राचार्य रूप से (पक्ष में स्तुतिपाठक चरण रूप से) रहते हुए भी मुझे समन्तभद्र की उन्नति में कुछ बाधा नहीं होती, ये देवों के देव दानशील, कर्मशत्रुओं पर विजय पाने वाले जिनेन्द्र भगवान आप सब के मनोरथों को पूर्ण करने वाले हों।

इस जिनशतक नामक ग्रन्थ के ११४वें श्लोक में स्तुति कैसी होनी चाहिए, उसका कथन किया है। केवल प्रदर्शन अथवा रूढ़िपालन मात्र को स्तुति नहीं कहते; जिस स्तुति में मन, वचन और काय की एकाग्रता हो, सारी इन्द्रियाँ भक्तिरस के आस्वादन में लीन हो जायें, वह स्तुति है। सो ही समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

हे प्रभो! मेरी श्रद्धा केवल आपके मत में ही है, मैं स्मरण भी आपका ही करता हूँ, मैं पूजन भी आप की करता हूँ, मेरे हाथ आपको अंजुलि बाँधने के लिए ही हैं, मेरे दोनों कर्ण आपकी कथा सुनने में आसक्त हैं। मेरे दोनों नेत्र केवल आपके मनोज्ञ रूप को देखने के लिए ही उत्सुक हैं अर्थात् आपके अनुपम रूप को निहारते हैं। मुझे आपकी स्तुति करने का ही व्यसन है और मेरा मस्तक भी आपको नमस्कार करने में तत्पर रहता है। हे तेजपते! हे केवलज्ञान के स्वामी! जो एकाग्र चित्त होकर आपकी स्तुति करता है वा मैं इस प्रकार आपकी स्तुति करता हूँ इसीलिए मैं संसार में तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान हूँ। इस प्रकार आचार्यदेव ने कहा है कि- स्तुतिकर्ता स्तुत्य के गुणों की अनुभूति करता हुआ उनमें अनुरागी होकर तद्रूप होने अथवा उन आत्मीय गुणों को अपने में विकसित करने की शुद्ध भावना से सम्पन्न होना चाहिए तभी स्तुति का फल पापों को जीतना घटित हो सकता है और वह आचार्यदेव के शब्दों में 'जन्मारण्यशिखी' भवभ्रमण रूप संसार वन को दग्ध करने वाली अग्नि बनकर आत्मीय गुणों के विकास में सहायक होती है

अतः स्तुत्य की प्रशंसा में अनेक चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर केवल उद्गारों से स्तुति कर लौकिक कार्यों को सिद्ध करना स्तुतिरचना का उद्देश्य यहाँ अभीष्ट नहीं है।

वीतराग प्रभु स्तुति करने से आनन्दित नहीं होते हैं और न अवज्ञा-निन्दा करने वालों पर अप्रसन्न होते हैं, उनके लिए स्तुति और निन्दा समान हैं। तथापि उनकी स्तुति करने वाला स्वयं अभ्युदयो को प्राप्त होता है और निन्दक दण्ड पाता है। यह सब स्तुतिकर्ता के परिणामों की शक्ति की विचित्रता है अतः जैन सिद्धान्त के ज्ञाता जानते हैं कि भगवान कुछ देते-लेते नहीं हैं, अपितु स्तोता के शुभ-अशुभ परिणामों का फल है। परिणामों की विचित्रता उपार्जन किये हुए कर्मफल की शक्ति को ध्यान में रखते हुए स्वामी समन्तभद्र ने अपने 'स्वयंभू स्तोत्र' में कहा है—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।  
भवानुदासीनतमस्तयोरपि , प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितं ॥६९॥

“हे भगवन्! आप मित्र और शत्रु दोनों के प्रति अत्यन्त उदासीन हैं— मित्र से कोई अनुराग और शत्रु से कोई द्वेष भाव नहीं रखते हैं, अतः मित्र के कार्यों से प्रसन्न होकर उसका भला नहीं चाहते और शत्रु के कार्यों से अप्रसन्न होकर उसका बुरा नहीं करते हैं— फिर भी आपका मित्र आपके गुणानुराग, प्रेम और भक्ति भाव के द्वारा श्री विशिष्ट सौभाग्य को अर्थात् ज्ञानादि लक्ष्मी के आधिपत्य रूप अभ्युदय को प्राप्त होता है और आप के गुणद्वेषी परिणाम के द्वारा शत्रु 'क्विप्' प्रत्ययादि के समान अपकर्ष (विनाश) को प्राप्त होता है। यह आपका ईहित चरित्र बड़ा ही विचित्र है।

ऐसी स्थिति में 'स्तुति' वास्तव में एक परम रसायन है जो इसका सेवन करता है वह जन्म-मरण और जरा रूप रोगों से रहित हो जाता है।

'स्तुति' सचमुच ही एक विद्या है, जिसे यह विद्या सिद्ध होती है वह सहज ही पापों को जीतने और आत्मविकास करने में समर्थ होता है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार ने इस स्तुतिविद्या को 'घनकठिनघातिकर्मन्धनदहनसमर्था' लिखा है अर्थात् आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि प्रभु की स्तुति महान् कठिन घातिया कर्म रूपी ईन्धन को भस्म करने के लिये अग्नि है।

इस विद्या की सिद्धि के लिए स्तुत्य के गुणों का परिचय चाहिए। उनके गुणों में वर्द्धमान अनुराग चाहिए। स्तुत्य के गुण ही आत्म-गुण हैं और उनका विकास अपनी आत्मा में हो सकता है ऐसी दृढ़ श्रद्धा चाहिए तथा स्तुत्य के प्रति मन, वचन, काय रूप योगों को एकाग्र करने की कला भी आनी चाहिए। इसी योग-साधना रूप कला के द्वारा स्तुत्य में स्थित प्रकाश से अपने भक्ति रस रूपी घृत में भीगी हुई आत्मबत्ती को प्रकाशित एवं प्रज्वलित किया जा सकता है।

पुरातन आचार्यों, अंग पूर्वादिक के पाठी महर्षियों ने वचन और काय को अन्य कार्यों से हटाकर उपास्य के प्रति एकाग्र करने को द्रव्य पूजा और मन की नाना विकल्पजनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान तथा उपास्य के गुणचिंतन आदि के द्वारा स्तुत्य में लीन करने को भावपूजा कहा है।

वि. ११वीं शताब्दी में होने वाले श्री अमितगति आचार्य के द्वारा रचित उपासकाचार में लिखा है—

वचो विग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥

वचन और शरीर को शुभ में लगाना द्रव्यपूजा है और मानसिक प्रवृत्तियों से प्रभु की आराधना करना भावपूजा है।

उपासना साहित्य के अनुसंधान से जाना जाता है कि प्राचीनकाल में मुमुक्षुजन एकान्त स्थान में या अर्हत्प्रतिमा के सम्मुख बैठकर एकाग्र मन से स्तुतियों, स्तोत्रों को पढ़ते थे और व्यग्रता को छोड़कर स्तुत्य के गुणों में लीन हो जाते थे, तभी अपने उद्देश्य में सफल और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होते थे। यद्यपि वीतराग प्रभु किसी को कुछ देते नहीं हैं, मोहनीय कर्म का अभाव होने से उनमें इच्छा का अभाव है अतः वे किसी का इष्ट वा अनिष्ट नहीं करते हैं परन्तु वीतराग प्रभु के पुण्य स्मरण, चिंतन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधन से पाप कर्मों का नाश होता है, पुण्य की वृद्धि और आत्मा की विशुद्धि होती है अतः कार्यों की सिद्धि स्वतः हो जाती है। क्योंकि 'पुण्यप्रभावात् किं किं न भवति' पुण्य के प्रभाव से क्या-क्या नहीं होता! सभी कार्य सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए आचार्यदेव ने ११५वें श्लोक में कहा है कि भगवन्! आप दानशील हैं और सबके मनोरथ को पूर्ण करने वाले हैं।

मूलाचार की गाथा ५६९ में लिखा है कि भगवान से प्रार्थना की जाती है कि 'भगवन्! मुझे बोधि, समाधि और निर्मल ज्ञान प्रदान करो', यह निदान भी नहीं है और न वीतराग प्रभु किसी को कुछ देते-लेते हैं परन्तु केवल भक्ति से असत्य मृषा भाषा के अनुसार कथन किया जाता है कि भगवन्! आपके प्रसाद से मेरा यह कार्य सम्पन्न हुआ। इससे भगवान पर कर्त्तापने का आरोप नहीं है। अथवा वीतराग प्रभु के चिंतन, स्तवन और मनन से उपार्जित पुण्योदय से क्रमशः सांसारिक कार्यों की पूर्ति, अभ्युदयों की प्राप्ति एवं मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। अतः कारण में कार्य का उपचार करके वीतराग प्रभु में कर्त्तृत्व विषय का आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है अपितु संगत और सुघटित है। स्वेच्छाबुद्धि से, प्रयत्नादि की दृष्टि से प्रभु कर्त्ता न होते हुए भी निमित्तादि की दृष्टि से कर्त्तापना जरूर है और इसलिए उनके विषय में अकर्त्तापने का सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नहीं होता है। अतः आचार्य ने 'वीतराग प्रभु की प्रार्थना करना तथा उससे कार्य सिद्ध होना' इसे मिथ्यात्व भी नहीं कहा है। क्योंकि प्रभुभक्ति से स्वयमेव सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। वास्तव में, परम वीतराग प्रभु से प्रार्थना उनके प्रति अत्यन्त अनुराग की द्योतक है तथा प्रभुभक्ति परिणाम-विशुद्धि, शुभ कर्मों के अनुराग की वृद्धि, अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि और कर्मनिर्जरा की कारण है। कहा भी है—



अरहंतणमोक्कारो, भावेण थ जो, करेदि पयदमदी ।  
सो सब्बदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥

मूलाचार गा. ७५

जो भक्त भावपूर्वक अरहंत भगवान को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से छूट जाता है।

भत्तीए जिणवराणां खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ।

मूला.गा. ७८

जिनेन्द्र की भक्तिरूप शुभ भाव से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाता है।

अरहंते सुहभत्ती सम्भत्तं दंसणेण विशुद्धं ।

लिंग पाहुइ गा. ४०

अरहंत भगवान् के प्रति शुभ भक्ति ही सम्यग्दर्शन है—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पापसंघातकुंजरं ।

शतधा भेदमायाति गिरिवज्रहतो यथा ॥

धवल ६/४२८

जिस प्रकार वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

जिणपूयावंदणणमंसणेहि य बहुकम्मपदेसणिज्जरुवलंभादो ।

धवल १०/२८९

जिनेन्द्र भगवान की पूजा, वन्दना और नमस्कार रूप शुभ भाव से बहुकर्म-प्रदेशों की निर्जरा पायी जाती है।

जिणबिम्बदंसणेण णिधत्ति णिकाचिदस्सवि ।

मिच्छत्तादि कम्म कलावस्स खयं दंसणादो ॥

धवल ६/४२७

जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप (समूह) का क्षय देखा जाता है।

जिणवर चरणंबुरुहं पणमंति जे परमभत्तिरायेण ।

ते जम्मवेल्लिमूलं हणंति वरभाव सत्थेण ॥१५३॥ भावपाहुइ

जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरण- कमलों में नमस्कार करते हैं वे उस भक्तिमय उत्तम शुभभाव रूप शस्त्र के द्वारा संसार रूपी बेल को जड़ से उखाड़ डालते हैं।

**अरिहंत णमोक्कारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुण कम्मक्खयकार  
ओत्ति तत्थवि मुणीणं पवुत्तिपसंगादो ॥ जयधवल १।९।**

अरिहंत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा का कारण है। उसमें भी मुनिजनों की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार प्रभुभक्ति से शुभकर्मों के अनुभाग की वृद्धि, कर्मों का क्षय और निर्जरा होती है तो भक्ति से स्वयमेव कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

वीतराग प्रभु की, आंतरिक अनुराग से उपासना करने पर शुभ भावों की उत्पत्ति होती है। भक्त की पापप्रकृतियों का रस (अनुभाग) घटता है और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ता है जिससे दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं शारीरिक, मानसिक एवं वाचनिक शक्ति की बाधक, वीर्य की नाशक अन्तराय कर्म रूप पापप्रकृति भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और भक्त के इष्ट कार्यों में बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं होती, तब प्रभुभक्त के सारे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए कार्य भी सुधर जाते हैं अतः उन सबका श्रेय प्रभुभक्ति को ही प्राप्त होता है, इसीलिए स्तुति, वन्दना, पूजा, उपासना आदि को इष्टफल की दाता कहा है।

भक्ति से उपार्जित शुभ कर्मों से कार्यों की सिद्धि होती है अतः उपचार से 'प्रभु ने किया' ऐसा कहा जाता है परन्तु वीतराग प्रभु कुछ करते नहीं हैं।

इस प्रकार प्रभुभक्ति से सांसारिक अभ्युदयों के साथ मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसे दृढ़ विश्वासी आचार्यों ने भक्तिपरक अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है।

जैसे औषधि के सेवन करने से रोग दूर हो जाता है, छायादार वृक्ष के नीचे बैठने से धूप का ताप नष्ट हो जाता है; वृक्ष और औषधि इच्छापूर्वक रोग एवं ताप दूर नहीं करते हैं परन्तु उनका निमित्त पाकर रोगादि दूर हो जाते हैं- तब कहा जाता है कि इस औषधि ने मेरा रोग दूर कर दिया, इस वृक्ष ने मेरा ताप हर लिया उसी प्रकार प्रभुभक्ति से सांसारिक आधिब्याधियाँ एवं भवसंताप दूर हो जाते हैं तब भक्ति में विभोर होकर कह दिया जाता है कि 'प्रभु ने मेरा रोग दूर कर दिया, मुझे सुखी बना दिया।'

समन्तभद्राचार्यदेव के स्वरूप के परिपूर्ण परीक्षक और बहुविज्ञ थे। उन्होंने अपने स्तुत्य देव के लिए जिन विशेषणों तथा सम्बोधन पदों का प्रयोग किया है और अपने तथा दूसरों के लिए जो कुछ प्रार्थना की है उसमें असंभाव्य जैसी कोई वस्तु नहीं है। वे सब नपे-तुले शब्दों में देवगुण के अनुरूप स्वाभाविक सुसंभाव्य हैं क्योंकि भक्ति के प्रभाव से असंभव कार्य भी संभव हो जाता है।

जिनेन्द्र भगवान की स्तुति से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों कार्य सिद्ध होते हैं। परन्तु प्रभु बुद्धिपूर्वक वा इच्छापूर्वक किसी कार्य को करने वाले नहीं हैं। उनके नामस्मरण से कार्यों की सिद्धि होती है अतः उनमें निमित्त कारण से कर्ता का आरोप किया जाता है। यह एकान्त नियम नहीं है कि इच्छा या बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला ही कर्ता होता है अपितु अनिच्छा एवं अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले भी कर्ता होते हैं।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से संसारी प्राणी मन से, वचन से और काय से जो क्रिया करता है, उससे आत्मा में कम्पन होकर द्रव्य कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं का आत्मा में प्रवेश होता है जिसको आस्रव कहते हैं। उससे शुभ क्रियाओं से शुभास्रव होता है और अशुभ क्रियाओं से अशुभास्रव होता है। तदनुसार बंध होता है। उसका फल भी शुभाशुभ मिलता है। अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि और शुभ कर्मों के अनुभाग की वृद्धि का कारण जिनभक्ति के समान दूसरा कुछ नहीं है; अतः जिनभक्ति से पापों पर विजय प्राप्त होती है। इसलिए आचार्यदेव ने पापों पर विजय प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है।

**सार्थक नामकरण :**

इस ग्रन्थ का स्तुति विद्या का सार्थक है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने की विद्या (ज्ञान) इस ग्रन्थ से प्राप्त होती है।

इसका अपर नाम 'जिनशतक' है। इसमें यद्यपि ११६ श्लोक हैं फिर भी इसको जिनशतक कहने में कोई बाधा नहीं है। जैसे चर्चाशतक में १०४ पद्य होते हुए भी उसको 'चर्चाशतक' कहते हैं।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से स्तुति, स्तोता, स्तुत्य और स्तुति के फल का ज्ञान प्राप्त होता है।

यद्यपि पूर्व में इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पं. पन्नालालजी कृत है पर वह अब प्राप्य नहीं है। उसमें शब्दार्थ भी नहीं है, इसलिए मैंने आचार्य वर्धमानसागरजी म. के संघस्थ साधु-साध्वियों की प्रेरणा से इसका अन्वयार्थ-अन्वय और भावार्थ लिखा है। इसमें त्रुटि रहना संभव है। विद्वज्जन मुझे क्षमा करते हुए त्रुटियाँ सुधार कर पढ़ें।

आचार्य वीरसागर जी तथा  
आर्यिका इन्दुमती माताजी  
की शिष्या  
आर्यिका सुपार्श्वमती



## •~• ग्रन्थकर्ता स्वामी समन्तभद्र •~•

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता का नाम, मंगल, निमित्त, हेतु, परिभाषा और ग्रन्थ-नाम इन छह अधिकारों को कह कर शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए। यह आचार्यों का आदेश है।

इस ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ४ श्लोकों में मंगलाचरण किया है। इसका नाम स्तुतिविद्या एवं अपर नाम जिनशतक है। इसका निमित्त स्वकीय पापों की विशुद्धि है। इसका हेतु पापों का नाश, कर्मों का क्षय एवं मोक्षपद की प्राप्ति है। इसका कथन आचार्यदेव ने मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में स्वयं कहा है 'आगसां जये' पापों पर विजय प्राप्त करने के लिए मैं इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इसमें ११६ श्लोक हैं। इसके कर्ता समन्तभद्र स्वामी हैं। इन छह अधिकारों में ग्रन्थकर्ता का नाम और उसका परिचय आवश्यक है क्योंकि कर्ता की प्रमाणता से ही ग्रन्थ में प्रमाणता आती है।

इस स्तुतिविद्या या जिनशतक नामक ग्रन्थ के रचयिता समन्तभद्राचार्य हैं क्योंकि इस ग्रन्थ के टीकाकर्ता आचार्य वसुनन्दी ने मंगलाचरण में लिखा है—

समन्तभद्रं सद्बोधं, स्तुवे वरगुणालये,  
निर्मलं यद्यशस्कान्त बभूव भुवनत्रयं ।  
यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मनि,  
जिनशतकनामेति योगिनामतिदुष्करा ॥

समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभू स्तोत्र के अन्त में —

बहुगुणसम्पद्सकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।  
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥

इस श्लोक द्वारा अपने नाम का उल्लेख किया है। इसके अलावा अन्य श्लोकों में कहीं पर भी अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है।

इस ग्रन्थ का 'गत्वैकस्तुतमेव' नामक अन्तिम (११६ वाँ) पद्य कवि (ग्रन्थकर्ता) और काव्य के नाम को लिये हुए एक चक्रवृत्त रूप में चित्रकाव्य है जो छह आरों तथा नव वलयों से युक्त चक्राकार रचना है। श्लोक को पूर्वोक्त विधि से लिखने पर सातवें वलय में 'शान्तिवर्म कृतं' यह अर्थ निकलता है। टीकाकार ने भी यह अर्थ निकाला है। परन्तु यह नाम उनके मुनिजीवन का नहीं हो सकता, क्योंकि वर्मान्त नाम किसी मुनिराज का देखने में नहीं आया। जान पड़ता है यह आचार्य महोदय के माता-पिता के द्वारा रखा हुआ उनके जन्म का शुभ नाम है। इस नाम से आपके क्षत्रियवंशोद्भव होने का पता चलता है। क्योंकि कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशों में उत्पन्न कितने ही क्षत्रिय राजाओं का नाम वर्मान्त पाया जाता है।

समन्तभद्र राजपुत्र थे और उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। 'आसमीमांसा' नामक कृति की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के निम्न पुष्पिका वाक्य से यह बात जानी जाती है जो श्रवणबेलगोल के श्री दौर्बल्य जिनदास शास्त्री के शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित है :

“इति श्री फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिप सूतोः श्रीसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आसमीमांसायाम्।”

टीकाकार वसुनन्दी ने 'शान्तिवर्मकृत' शब्द की व्युत्पत्ति ११६वें पद्य से निकाल करके भी प्रारंभ के मंगलाचरण में समन्तभद्रकृत यह कृति है, ऐसा लिखा है। तथा ग्रन्थ की समाप्ति में टीकाकार ने लिखा है- 'इति कविगमक-वादी-वाग्मित्वगुणालंकृतस्य श्रीसमन्तभद्रस्य कृतिरियं स्तुतिविद्या जिनशतालङ्कारपरनाम समाप्ता।'

इससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ समन्तभद्र की कृति है। अतः टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्तिम काव्य की छह आरों तथा नव बलयों वाली चित्ररचना से सातवें बलय में जो 'शान्तिवर्म-कृतं' वाक्य की उपलब्धि से कवि का नाम बिना किसी विवाद के 'शांतिवर्मा' सूचित किया है, उसे समन्तभद्र का नामान्तर ही समझना चाहिए।

इस ग्रन्थ का सूक्ष्म दृष्टि से पठन, मनन और चिंतन किया जाय तो १९वें पद्य से ज्ञात होगा कि स्वामी संसार से भयभीत हो सारे परिग्रह का त्याग कर केवल शरीर के साथ वीतराग प्रभु की शरण में आये थे क्योंकि उन्होंने इस पद्य में लिखा है कि हे भगवन्!

पूतस्वनवमाचारं, तन्वायातं भयाद्रुचा ।

स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यं शंभव ॥१९॥

“हे सबमें प्रधान संभवनाथ! संसार-दुखों से भयभीत होकर सांसारिक पदार्थों का त्याग कर निर्दोष गणधरादिक के द्वारा अनुष्ठित आचरण का पालन करता हुआ केवल शरीर के साथ आपकी शरण में आया हूँ। हे देवों के द्वारा पूजनीय प्रभुवर! आपके चरणों में मैं नतमस्तक हूँ। हे स्वामी! अपने तेज से मेरी रक्षा करो।” इससे सूचित होता है कि इस स्तुति की रचना करते समय उनके पास शरीर के सिवाय अन्य कुछ नहीं था। वे परम दिगम्बर थे। इस श्लोक में दिगम्बरत्व को सिद्ध करने के लिए- पूतस्वनवमाचारं और भयात् तन्वायातं 'मा' पद के ये दो विशिष्ट विशेषण हैं। इसी प्रकार ७९वें पद्य में उन्होंने ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् विशेषण के द्वारा अपना उल्लेख किया है। इस विशेषण से ज्ञात होता है कि यद्यपि आचार्यवर्य के मन का उद्वेग बिल्कुल नष्ट नहीं हुआ था, कुछ उद्वेग सत्ता में स्थित था फिर भी वह नहीं के समान था। अतः यह उनके चित्त को त्रसित करने में समर्थ नहीं था। इसलिए यह सूचित होता है कि वे इस स्तोत्र की रचना करने के समय नग्न दिगम्बर थे।

११४वें पद्य को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि उन्होंने वीर जिनेन्द्र के प्रति अपनी जिस सेवा अथवा अर्हन्द्रक्ति का उल्लेख किया है वह उनके दिगम्बरत्व का द्योतक है। इस पद्य में 'सुस्तुत्यां व्यसनं' इस उल्लेख

से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तुति विद्या ग्रन्थ उस समय बना है जब आचार्यदेव कितने ही स्तुतिग्रन्थों की रचना कर चुके थे। उन्हीं के द्वारा रचित ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' को छोड़कर स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, स्तुतिविद्या- जिनशतक आदि सारे ग्रन्थ स्तुतिग्रन्थ हैं जिनमें आचार्यदेव ने न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का अत्यंत सरलता से उल्लेख किया है। इनके द्वारा रचित स्तोत्रों का आन्तरिक परीक्षण करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें कितने सारगर्भ तत्त्व भरे हैं। स्तोत्रों के रचयिता समन्तभद्रस्वामी धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र तथा तंत्र आदि सभी विद्याओं में निपुण होने के साथ-साथ वादकला में भी अत्यन्त पटु थे। काशीनरेश के समक्ष आचार्यदेव ने स्वमुख से जो अपना परिचय दिया था वह मात्र गर्वोक्ति नहीं किन्तु तथ्योक्ति थी। स्वकीय परिचय देते हुए उन्होंने कहा था—

आचार्योऽहं कविरहं वादिराद् पण्डितोऽहं,  
 दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ।  
 राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-  
 माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

“मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादी हूँ, पंडित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर मुझे वचनसिद्धि है, अधिक क्या कहूँ मैं सिद्ध सारस्वत हूँ।” आप परीक्षाप्रधानी विद्वान् थे। 'आप्तमीमांसा' के प्रारम्भिक श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है—

देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः ।  
 मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥  
 अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि-महोदयः ।  
 दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥  
 तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।  
 सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

इस प्रकार आपने देव के स्वरूप को जानकर ही स्वीकार किया है, बाह्य चिह्नों से नहीं।

इन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 'स्तुतिविद्या' ग्रन्थ उस समय बना है जब आचार्यदेव कितनी ही स्तुतियों, स्तुति ग्रन्थों का निर्माण पहले कर चुके थे और स्तुति-रचना का उनको एक व्यसन हो गया था। इसमें आश्चर्य नहीं है कि देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र की रचना इस ग्रन्थ के पूर्व वे कर चुके थे क्योंकि देवागम स्तोत्र एवं युक्त्यनुशासन में आप्त की परीक्षा कर चुकने के बाद ही उनकी स्तोत्रों में विशेष प्रवृत्ति हुई हो।

स्वयंभू स्तोत्र तो उन्होंने विपदा में रचा था जिससे जिनधर्म की महान् प्रभावना हुई थी। उसके बाद ही वे 'सुस्तुत्यां व्यसनं' लिखने में समर्थ हुए थे।

टीकाकार ने भी प्रथम पद्य की प्रस्तावना में श्री 'समन्तभद्राचार्य विरचित' लिखने के अतिरिक्त ८४ वें पद्य में आए हुए ऋद्धं विशेषण का अर्थ वृद्धं करके और ११५वें पद्य के वन्दीभूतवतः पद का अर्थ 'मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्राचार्यरूपेण भवतोऽपि मम' ऐसा देकर यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थ समन्तभद्र के मुनिजीवन की रचना है। टीकाकार ने भी तार्किकचूडामणि श्री समन्तभद्राचार्य विरचित लिखकर इसे समन्तभद्राचार्य की कृति घोषित किया है। दूसरे आचार्य ने भी इस ग्रन्थ के वाक्यों का समन्तभद्र के नाम से अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है जैसे 'अलंकार चिन्तामणि' में श्री अजितसेनाचार्य ने लिखा है कि 'श्रीमन्समन्तभद्राचार्यजिनसेनादिभाषितं लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणं।'

समन्तभद्राचार्य अत्यन्त प्रभावशाली थे, उच्च कोटि के विद्वान् थे। वे स्याद्वाद के नायक थे, एकान्त पक्ष के निर्मूलक थे, अबाध शक्ति के धारक थे, सातिशय योगी थे, वे अपनी वाक्पटुता तथा शब्द-चातुरी से दूसरों को रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेने में निपुण होने से वाग्मी थे, दूसरों की कृतियों के मर्म को समझने और समझाने में प्रवीण होने से वे गमक भी थे। विक्रम की ९वीं शताब्दी के विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्य के निम्नलिखित कथन से प्रकट है—

कवीनां गमकानां च, वादिनां वाग्मिनामपि ।

यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ महापुराण भाग १, १/४३

वे कवि एवं कविव्रह्मा थे, सद्गुणों की मूर्ति थे, प्रशान्त एवं गंभीर थे, उदारचेता थे, सिद्ध-सारस्वत थे, हित-मित-भाषी थे, परहित-निरत थे, लोक के अत्यन्त हितैषी थे, अकलंक-विद्यानन्दी जैसे बड़े-बड़े आचार्यों एवं महान् विद्वानों के द्वारा स्तुत्य, पूज्य एवं वंदनीय थे और जैन शासन के प्रचारक-प्रसारक थे। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख में इनको जिनशासन का प्रणेता लिखा है।

बेलूर ताल्लुके का शिलालेख शक सं. १०५९ में उत्कीर्ण हुआ है। कहा जाता है उस समय यह शिलालेख रामानुजाचार्य मन्दिर के आहाते में सौम्यनाथ मन्दिर की छत में लगा था। उसमें लिखा है कि समन्तभद्राचार्य ने श्री भगवान् महावीर के शासन की हजारगुणी वृद्धि की थी।

उनका हृदय अर्हद्भक्ति से ओतप्रोत था। उसमें अन्धश्रद्धा एवं अन्धविश्वास का स्थान नहीं था, गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदय की सरलता ही उसका एक आधार था। अतः अपनी शुद्ध भक्ति के प्रभाव से ही वे अधिक प्रतापी, तेजस्वी और पुण्याधिकारी बने थे। उन्होंने भक्तिरस का स्वयं अनुभव किया था और यह जाना था कि इस युग में जिनभक्ति के समान कर्मनाशक दूसरा कोई नहीं है। अतः उन्होंने इस ग्रन्थ के ११४वें पद्य में अपने हृदय के उद्गार प्रकट किये हैं कि—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,

हस्तावजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।

सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते,  
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

हे भगवन्! आपके शासन में मेरी सुश्रद्धा है। मेरी स्मृति भी आपके गुणों में है- अर्थात् मेरी बुद्धि निरन्तर आपका ही स्मरण करती रहती है। मैं पूजा भी आपकी ही करता हूँ। हे प्रभो! मेरे दोनों हाथ आपको ही प्रणामांजलि करने निमित्त हैं, मेरे कान आपकी गुणकथा को सुनने में आसक्त रहते हैं। मेरे ये दोनों चर्मचक्षु अन्तर-ज्ञानेत्र के द्वारा आपके अनुपम सौन्दर्य का अवलोकन करने के लिए उत्सुक रहते हैं। हे जिनेश्वर! मुझे व्यसन है आपकी सुन्दर एवं मनोहारी स्तुतियों की रचना कर आपका गुण-गान करने का। तथा मेरा मस्तक भी आपके चरणों में प्रणाम करने को तत्पर रहता है। प्रभो! इस प्रकार मैं आपकी निरन्तर सेवा आराधना किया करता हूँ इसलिए हे तेजपते! केवलज्ञान के धारक विभो! मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (अत्यन्त पुण्यवान) हूँ।

आचार्यदेव के इन सत्य हार्दिक उद्गारों से यह स्पष्ट होता है कि वे कैसे और कितने अर्हद्भक्त थे और उन्होंने किस प्रकार अपने को आर्हत्सेवा में अर्पण किया था। समन्तभद्राचार्य को अर्हद्गुणों की प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचने की अत्यधिक रुचि थी इसलिए उन्होंने 'स्तुतिरचना का मुझे व्यसन है' ऐसा लिखा है, यह बिल्कुल सत्य है, उनके उपलब्ध ग्रन्थों में अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्र रूप में हैं जो उनकी अद्वितीय अर्हद् भक्ति को प्रकट करते हैं।

इस स्तुति विद्या वा जिनशतक ग्रन्थ में तो केवल वीतराग प्रभु के गुणों का स्मरण करके आचार्यदेव ने अपने आपको प्रभु-चरणों में समर्पित किया है परन्तु इनके द्वारा रचित स्वयंभूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन इन तीन ग्रन्थों में स्तोत्र-प्रणाली से जो तत्त्वज्ञान भरा गया है, कठिन से कठिन तात्त्विक विवेचनों को योग्य स्थान दिया गया है तथा अनेक मत-मतान्तरों का खण्डन एवं स्याद्वाद अनेकान्त के द्वारा जिनधर्म का द्योतन किया गया है वैसा कथन अन्य स्तुतिग्रन्थों में नहीं पाया जाता है।

समन्तभद्राचार्य ने स्तुति ग्रन्थों के द्वारा स्तुति विद्या का खास तौर से उद्धार, संस्कार तथा विकास किया है एवं यह प्रकट किया है कि भक्ति केवल बंध का ही कारण नहीं है अपितु निर्जरा एवं मोक्ष का भी कारण है।

स्वयंभूस्तोत्र में आपने लिखा है कि हे भगवन्! आपकी पूजा में यदि कोई सावध होता हो तो भी वह पापबंध का कारण नहीं है। जैसे सर्प के विष की बूंद समुद्र में गिर जाने पर भी वह पानी मारक नहीं होता।

जैसी स्तुतियाँ एवं स्तोत्र समन्तभद्र द्वारा रचित हैं तथा उन स्तोत्रों में जैसा तात्त्विक विवेचन है वैसा अन्य विद्वानों द्वारा रचित स्तोत्रों में नहीं पाया जाता है। इसलिए वे स्तुतिकार कहलाते थे तथा उन्हें आद्य स्तुतिकार होने का गौरव प्राप्त था। समन्तभद्र कांची के नग्राटक (निर्ग्रन्थ दिगम्बर) साधु थे। आपने लोकहित की भावना से भारत के दक्षिण-उत्तर प्रदेशों की बहुत बड़ी यात्रा की थी। आत्मबल, युक्तिबल



तथा चरित्रबल के आधार पर असंख्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाया था। आपका अस्तित्व काल ई.सन् दूसरी शताब्दी का है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार वसुनन्दी हैं। इनका परिचय वसुनन्दी श्रावकाचार आदि में दिया गया है। यद्यपि किन्हीं विद्वानों ने इस स्तुति का टीकाकार नरसिंह महाकवि को माना है और स्वयं वसुनन्दी ने भी अपने मंगलाचरण के चौथे और पाँचवें पद्य में 'नरसिंह विभाकरः' नरसिंह पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् कहा है परन्तु नरसिंह की टीका कोई दूसरी होगी जिसको देखकर वसुनन्दी को यह टीका करने में सहायता प्राप्त हुई, यह दुर्गम ग्रन्थ भी सुगम हुआ। अतः उन्होंने लिखा है कि नरसिंह को प्राप्त कर इस ग्रन्थ का दुर्गम अर्थ भी सुगम हो गया। परन्तु टीका वसुनन्दी की है क्योंकि 'वसुनन्दिना जडमतिना' जैसे शब्दों के द्वारा वसुनन्दी ने अपने को जडमति सूचित किया है। इन्हीं शब्दों का प्रयोग उन्होंने 'देवागम' की वृत्ति में भी किया है तथा समन्तभद्र का स्मरण भी वृत्ति के प्रारम्भ में किया है और इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही किया है अतः यह टीका वसुनन्दी आचार्य की है, इसमें कोई संशय नहीं है। इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थों में देखना चाहिए।

### प्रस्तुत संस्करण :

गत वर्ष जयपुर वर्षायोग में आचार्यश्री वर्द्धमानसागरजी महाराज के साथ चातुर्मास की अवधि में संघस्थ साधु-साध्वियों को पूज्य माताजी ने इस ग्रंथ का अध्ययन करवाया था। जब पूज्य माताजी ने इसे पढ़ाना प्रारम्भ किया तो सुनकर सब गद्गद हो गये और सब ने माताजी को प्रेरणा दी कि "आप इसे हिन्दी में रूपान्तरित कर दें जिससे सभी लोग इसका लाभ ले सकें। हम तो अभी तक इसे बहुत क्लिष्ट समझते थे, लेकिन आपने तो बहुत ही सरल शब्दों में इसे हमको समझाया है।" यद्यपि इसकी हिन्दी टीका पहले भी हो चुकी है किन्तु उसमें शब्दार्थ नहीं है जिससे इसे समझने में कठिनाई होती है। पूज्य माताजी ने अपने विशिष्ट क्षयोपशम ज्ञान से अपनी बहुमुखी व्यस्तता के बावजूद इसे सरल बनाकर प्रस्तुत किया है। इससे सामान्य पाठक वर्ग का बहुत बड़ा उपकार हुआ है। आप दीर्घायु हों और इसी भाँति नाना शास्त्रों का सरल हिन्दी में रूपान्तरण करें, यही कामना है।

डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी के कुशल सम्पादन से तैयार हुई प्रस्तुत कृति आपके हाथों में है। डॉ. पाटनी ने अनेक जटिल और विशालकाय ग्रन्थों का सुसम्पादन किया है। जिनवाणी- सेवा का आपका यह क्रम जीवन पर्यन्त बना रहे, यही कामना करती हूँ। प्रस्तुत कृति के सुन्दर सम्पादन और प्रस्तुतीकरण के लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। द्रव्यदाता भी मेरे साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने अर्थ-सहयोग प्रदान कर महान् पुण्यार्जन किया है। प्रस्तुत कृति की रचना से लेकर इसके प्रकाशन तक की यात्रा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता करने वाले सभी सहयोगी जन धन्यवाद के पात्र हैं। इत्यलम्-

— डॉ. प्रमिला जैन

आ. सुपार्श्वमती माताजी संघस्था



## 卐 'स्तुतिविद्या' के श्लोकों का वर्णाऽनुक्रम 卐

श्लोक	पृष्ठ संख्या	श्लोक क्रमांक	श्लोक	पृष्ठ संख्या	श्लोक क्रमांक
अतमःस्वनतारक्षी	३५	२१	जयतस्तव पार्श्वस्य	१३०	९९
अपराग समाश्रेयन्	६५	४६	ततोतिता तु तेतीत	२३	१३
अपराग स मा श्रेयन्	६५	४७	ततोमृतिमतामीमं	७०	५१
अपापादमेयश्री	४२	२७	तनुतात्सद्यशोमेय	१३०	९८
अभिषिक्तःसुरैर्लोकै-	६६	४८	तभोत्तु ममतातीत	१३१	१००
अभीत्यावर्द्ध मानेनः	१३९	१०८	तावदास्व त्वमारूढो	१००	७४
अविवेको न वा जातु	६२	४४	तिरीटघटनिष्ठुच तं	८६	६४
आलोक्य चारु लावण्यं	६४	४५	त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं	९३	७०
आसते सततं ये च	९	४	त्रिलोकीमन्वशास्संग	९१	६८
आस यो नतजातीर्या	१२१	९०	त्वमवाध दमेनर्द्ध	७७	५६
एतच्चित्रं क्षितेरेव	५८	४१	दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्र	१३	६
एतच्चित्रं पुरो धीर	८४	६३	देहिनो जयिनः श्रेयः	४०	२५
काममेत्य जगत्सारं	५९	४२	धाम त्विषां तिरोधान	४९	३२
कुत एतो नु सन्वर्णो	८७	६५	धाम स्वयममेयात्मा	३४	२०
कुन्धवे सुमृजाय ते	१०८	८१	धिया ये श्रितयेतात्स्या	९	३
केवलान्नसमाश्लेष	९२	६९	धीमत्सुवन्दामान्याय	१३३	१०२
को विदो भवतोपीड्यः	१३७	१०६	नचेनो न च रागादि	३१	१८
कोविदो भवतोपीड्यः	१३८	१०७	नतपाल महाराज	७८	५७
क्रमतामक्रमं क्षेमं	६९	५०	नतपीला सनाशोक	१३	५
खलोलूकस्य गोव्रात	५१	३४	नतयात विदामीश	११०	८३
गत्वैकस्तुतमेव	१५४	११६	नन्दनश्रीर्जिन त्वा न	३८	२३
गायतो महिमायते	२७	१५	नन्दनं त्वाप्यनष्टो न	३८	२४
ग्लानं चैनश्च नः स्येन	१२२	९१	नन्दनन्तर्द्धनन्तेन	३५	२२
चक्रपाणेर्विशामूढा	९०	६७	नमेमान नमामेन-	१२४	९३
चन्द्रप्रभो दयोऽजेयो	४५	३०	न मे माननमामेन	१२६	९४
चारुश्रीशुभदौ नौमि	५४	३६	नयमानक्षमामान	७३	५३
चार्वस्यैव क्रमेजस्य	६८	४९	नय मा स्वयं वामेश	११८	८८
जन्मारण्यशिखी स्तवः	१५२	११५	नयसत्त्वर्तवः सर्वे	९७	७३

श्लोक	पृष्ठ संख्या	श्लोक क्रमांक	श्लोक	पृष्ठ संख्या	श्लोक क्रमांक
नर्दयाभर्त्तवागोद्य	१२७	९५	लोकत्रय महामेय	५३	३५
नष्टाज्ञान मलोन	१४४	१११	लोकस्य धीर ते वाढं	५८	४०
नागसे त इनाजेय	१०१	७५	वरगौरतनुं देव	४१	२६
नानानन्तनुतान्त	१४०	१०९	वर्णभार्यातिनन्दाव	७४	५४
नुन्नानृतोन्नतानन्त	७६	५५	वंदारुप्रबलाजवंजव	१४२	११०
नेतानतनुते नेनो-	७२	५२	वदे चारुरुचां देव	४३	२८
परान् पातुस्तवाधीशो	९४	७१	वामदेव क्षमाजेय	१३४	१०३
पारावारवारापा	१११	८४	विश्वमेको रुधामाऽऽको	१८	८
पावनाजितगोतेजो	१२३	९२	वीरं मा रक्ष रक्षार	१२०	८९
पूतस्वनवमाचारं	३१	१९	वीरादार वारावी	११३	८५
प्रकाशयन् खमुद्भूत	४७	३१	शंसनाय कनिष्ठाया	५५	३७
प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा	१३६	१०५	शं स नायक निष्ठाया	५५	३८
प्रज्ञा सा स्मरतीति या	१४८	११३	शोकक्षयकृदव्याधे	५७	३९
प्रथत्येमान् स्तवान् वशिम्	१०५	७८	श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने	१९	९
प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां	८२	६१	श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं	४	१
भवत्येव धरा मान्या	८३	६२	सदक्षराजराजित	२९	१६
भासते विभुताऽस्तोना	२०	१०	सदक्षराजराजित	३०	१७
मानसादर्शसंक्रान्तं	७९	५८	समस्तपतिभावस्ते	९६	७२
मानोनानामनूनानां	१२९	९७	समस्तवस्तुमानाय	१३५	१०४
यतः कोपि गुणानुक्त्या	८०	५९	सिद्धस्त्वमिह संस्थानं	१०७	८०
यतः श्रितोपि कान्ताभि	१६	७	सुश्रद्धा मम ते मते	१५०	११४
यत्तु खेदकरं ध्वान्तं	५०	३३	स्तुवाने कोपने चैव	४४	२९
यमराज विनम्रेण	११६	८७	स्नात स्वमलगम्भीरं	८	२
येयायायाययेयाय	२५	१४	स्वचित्तपटयालित्ख्य	१३२	१०१
यो लोके त्वा नतः सोति	१०९	८२	स्वयं शमयितुं नाशं	२२	११
रक्ष माक्षर वामेश	११५	८६	स्वयं शमयितुं नाशं	२२	१२
रम्यापारगुणारज	१४६	११२	स्वसमान समानन्दा	१०६	७९
रुचं विभर्ति ना धीरं	८१	६०	हतभीः स्वय मेध्याशु	१२८	९६
रोगपातविनाशाय	१०२	७६	हरतीज्याहिता तान्तिं	६१	४३
रोगपातविनाशाय	१०३	७७	हृदि येन धृतोसीनः	८८	६६

# स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक

## \* अनुक्रम \*

क्र.सं.	स्तवन	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
●	टीकाकार का मंगलाचरण	१-७	१
१.	ऋषभ-जिनस्तुति	१-१५	४
२.	अजित-जिनस्तुति	१६-१७	२९
३.	शम्भव-जिनस्तुति	१८-२०	३१
४.	अभिनन्दन-जिनस्तुति	२१-२४	३५
५.	सुमति-जिनस्तुति	२५-२६	४०
६.	पद्मप्रभ-जिनस्तुति	२७-२८	४२
७.	सुपार्श्व-जिनस्तुति	२९	४४
८.	चन्द्रप्रभ-जिनस्तुति	३०-३६	४५
९.	पुष्पदन्त-जिनस्तुति	३७-४०	५५
१०.	शीतल-जिनस्तुति	४१-४२	५८
११.	श्रेयांस-जिनस्तुति	४३-४७	६१
१२.	वासुपूज्य-जिनस्तुति	४८-४९	६६
१३.	विमल-जिनस्तुति	५०-५३	६९
१४.	अनन्त-जिनस्तुति	५४-५५	७४
१५.	धर्म-जिनस्तुति	५६-६६	७७
१६.	शान्ति-जिनस्तुति	६७-८०	९०
१७.	कुन्थु-जिनस्तुति	८१-८४	१०८
१८.	अर-जिनस्तुति	८५-८९	११३
१९.	मल्लि-जिनस्तुति	९०	१२१
२०.	मुनिसुव्रत-जिनस्तुति	९१-९२	१२२
२१.	नभि-जिनस्तुति	९३-९६	१२४
२२.	नेमि-जिनस्तुति	९७-९८	१२९
२३.	पार्श्व-जिनस्तुति	९९-१०१	१३०
२४.	वर्धमान-जिनस्तुति	१०२-११६	१३३

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

## 卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।  
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥  
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।  
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥  
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।  
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥



श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं 'स्तुति विद्या' नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य विरचितं इदं शास्त्रं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।



मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।  
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥  
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।  
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥



॥ ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥  
॥ ॐ ह्रीं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमो नमः ॥  
॥ ॐ ह्रीं श्रीशान्तिवीरशिवधर्माजितवर्धमानाचार्येभ्यो नमो नमः ॥  
॥ ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रसागरस्वतये नमो नमः ॥

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित

# स्तुतिविद्या

अपरनाम

## जिनशतक

वसुनन्दी आचार्य कृत संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद सहित

टीकाकारस्थ बंगलाचरणम्

नमो वृषभनाथाय लोकाऽलोकाऽवलोकिने ।  
मोहपङ्कविशोषाय भासिने जिनभानवे ॥१॥

अन्वयार्थ - लोकालोकावलोकिने = लोकाकाश और अलोकाकाश के ज्ञाता। भासिने = दैदीप्यमान। जिनभानवे = जिनरूपी सूर्य। वृषभनाथाय = आदिनाथ भगवान के लिए। मोहपङ्क- विशोषाय = मोहरूपी कीचड़ का नाश करने के लिए। नमः = नमस्कार करता हूँ ॥१॥

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वर-गुणालयम् ।  
निर्मलं यद्यशस्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥२॥

अन्वयार्थ - वर गुणालयं = श्रेष्ठ गुणों के स्थान। सद्बोधं = महाज्ञान के धारी। समन्तभद्रं

= समन्तभद्र मुनिराज की। स्तुवे= मैं स्तुति करता हूँ। निर्मलं = निर्मल। यद्यशस्कान्तं = जिसके यश का तेज या मनोहर यश। भुवनत्रयं = तीन लोक में व्याप्त। बभूव = हुआ था ॥२॥

**यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।**

**जिनशतकनामैति योगिनामपि दुष्करा ॥३॥**

अन्वयार्थ - च = और। यस्य = जिसकी। योगिनां = योगियों को। अपि = भी। दुष्करा = दुष्कर। सद्गुणाधारा = सद्गुणों की आधारभूत। सुपद्मिनी = सुपद्मिनी। एषा = यह। कृतिः = रचना। जिनशतकनाम = जिनशतक इस नाम को। एति = प्राप्त हुई है ॥३॥

यह समन्तभद्राचार्य की रचना योगियों को भी दुष्कर है, सद्गुणों की आधारभूत है और इसका अपर नाम जिनशतक है।

**तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः ।**

**यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥४॥**

अन्वयार्थ - तस्याः = समन्तभद्राचार्य की उस कृति का। प्रबोधकः = जानने वाले। कश्चित् = कोई भी। न = नहीं। अस्ति = है। इति = इस प्रकार। यावत् = जब तक। विदुषां = विद्वानों की। मतिः = ज्ञान या कथन वा समझ थी। तावत् = उतने ही समय तक। एकः = अद्वितीय। विभाकरः = सूर्य वा महान्। नरसिंहः = नरसिंह नामक महान् विद्वान् पुरुष। बभूव = उत्पन्न हुआ।

**दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।**

**नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥५॥**

अन्वयार्थ - महतां = महान् पुरुषों के। वचः = वचन। श्रूयते = सुने जाते हैं कि। काव्यं = यह काव्य (समन्तभद्र की यह स्तुतिविद्या नाम की कृति)। दुर्गमं = दुर्गम से। दुर्गमं = दुर्गम है, अत्यन्त कठिन है। परन्तु पुनः = पुनः वह समन्तभद्र की रचना। नरसिंहं = नरसिंह को। प्राप्तं = प्राप्त होकर। सुगमं = सुगम। सुगमं = सुगमतर-सरल, सरस। भवेत् = हो जाती है। अर्थात्- यह कठिनतर काव्य नरसिंह विद्वान् की टीका से अत्यन्त सरल और सुगम हो गया है।

**स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।**

**तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्दपि ॥६॥**

अन्वयार्थ - स्तुतिविद्यां = समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित इस स्तुतिविद्या का। समाश्रित्य =

आश्रय लेकर। कस्य = किसकी। मतिः = बुद्धि। न = नहीं। क्रमते = विकसित होती है। अर्थात् समन्तभद्राचार्य की स्तुतिविद्या का आश्रय लेने वाले सर्व प्राणियों की बुद्धि का विकास होता है। येन = जिससे। जाड्ये = जाड्य-दुग्म होने पर। वसुनंद्यपि = वसुनन्दी आचार्य भी। तद्वृत्ति = स्तुतिविद्या की वृत्ति (टीका) कुरुते = करते हैं ॥६॥

अर्थात्- इस स्तुति विद्या का आश्रय लेकर किसकी बुद्धि नहीं चलती? अर्थात् जरूर चलती है और प्रगति करती है अतः जड़मति होते हुए भी वसुनन्दी उस स्तुतिविद्या की वृत्ति (टीका) कर रहा है।

आश्रयाजायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः ।

गिरिराजं श्रितःकाको धत्ते हि कनकच्छविम् ॥७॥

अन्वयार्थ - लोके = इस लोक में। आश्रयात् = आश्रय से। निःप्रभः = निष्प्रभ मानव। अपि = भी। महाद्युतिः = महाकान्तिवान्। जायते = हो जाता है। हि = क्योंकि। गिरिराजं = सुमेरुपर्वत का। श्रितः = आश्रय लेने वाला। काकः = कौआ। कनकच्छवि = सुवर्ण की कान्ति को। धत्ते = धारण करता है।

इस श्लोक में वसुनन्दी आचार्य ने संगति से होने वाले गुणों के महत्त्व का कथन किया है।

वृषभादि-चतुर्विंशति-तीर्थकराणां तीर्थकरनामकर्मोदयवायुसमूहोद्वर्तितसौधमेन्द्रादि-सुरवरसेनावारिधिभाक्तिकजनसमुपनीतेज्याविधानार्हणां घातिकर्मक्षयानन्तर-समुद्भूतविषयीकृतानेकजीवादिद्रव्यत्रिकालगोचरानन्त-पर्यायकेवलज्ञानानां स्तुतिरियं जिनशतकनामेति । तस्याः समस्तगुणगणोपेतायाः सर्वालंकारभूषितायाः घनकठिनघातिकर्मन्धनदहनसमर्थायाः तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचितायाः संक्षेपभूतं विवरणं क्रियते ।

“तीर्थकर नाम कर्मोदय वायु समूहोद्वर्तित सौधमेन्द्रादि सुरवर सेनावारिधि भाक्तिकजन-समुपनीतेज्याविधानार्हणां” = तीर्थकर नामकर्म के उदय रूपी वायु के समूह से प्रेरित सौधर्म इन्द्रादि देवों की उत्कृष्ट सेना रूपी समुद्र से भक्तजनों के द्वारा ग्रहण की हुई पूजा विधान के योग्य।

घातिकर्म क्षयान्तर समुद्भूत विषयीकृतानेक जीवादि द्रव्य त्रिकाल गोचरानन्त पर्याय केवल- ज्ञानानां = ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप चार घातिया कर्म के क्षय से उत्पन्न तथा विषयी किया है अनेक जीवादि द्रव्यों के त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों को जिन्होंने ऐसे केवल- ज्ञान के धारी।



वृषभादि चतुर्विंशति तांथकराणां = वृषभादि चौबीस तीर्थकरों की। इयं = यह। जिनशतक- नामा = जिनशतक नाम से प्रसिद्ध। स्तुतिः = स्तुति है। इति = इस प्रकार।

समस्तगुणगणोपेतायाः = सारे गुणों के समूह से युक्त। सर्वालंकारभूषितायाः = चित्र, मुरजबन्ध आदि सारे अलंकारों से सुशोभित। घन कठिन घातिकर्मन्धन दहन समर्थायाः = अत्यन्त कठिन घातिया कर्म रूपी ईन्धन को जलाने में समर्थ। तार्किक चूडामणिश्री समन्तभद्राचार्य विरचितायाः = तार्किकजनों में (न्याय ग्रन्थों के ज्ञाताओं में) चूडामणि (श्रेष्ठ) श्रीमान् समन्तभद्राचार्य द्वारा विरचित। तस्याः = उस स्तुति विद्या का। संक्षेपभूतं = संक्षेप में। विवरणं = विवरण (कथन) क्रियते = किया जा रहा है।

## ॐ ऋषभ-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं प्रतिपद्याऽऽगसां जये।

कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥१॥

श्रीमज्जिनेति। पूर्वाद्धमेकपंक्त्याकारेण व्यवस्थास्य पश्चाद्धमप्येकपंक्त्याकारेण तस्याधः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः। प्रथमपंक्तेः प्रथमाक्षरं द्वितीयपंक्तेर्द्वितीयाक्षरेण सह, द्वितीयपंक्तेः प्रथमाक्षरं प्रथमपंक्तेर्द्वितीयाक्षरेण सह एवमुभयपंक्त्यक्षरेषु सर्वेषु संयोज्यम्। एवं सर्वेऽपि मुरजबन्धा द्रष्टव्याः।

अस्य विवरणं क्रियते। श्रीर्विद्यते यस्य स श्रीमान् जिनस्य पदाभ्याशः पदसमीपं जिनपदाभ्याशः श्रीमांश्चासौ जिनपदाभ्याशश्च श्रीमज्जिनपदाभ्याशस्तं श्रीमज्जिनपदाभ्याशं। प्रतिपद्य संप्राप्य प्रतिपद्येति प्रतिपूर्वस्य पदेः क्त्वात्स्य प्रयोगः। आगसां पापानां जये जयहेतोर्निमित्ते इवियम्। कामं इष्टं कमनीयं इच्छा वा स्थानं निवासः कामं च तत्स्थानं च कामस्य वा स्थानं कामस्थानं तस्य प्रदानं कामस्थानप्रदानं अथवा कामश्च स्थानं च कामस्थाने तयोः प्रदानं कामस्थानप्रदानं तस्य ईशः कामस्थानप्रदानेशः तं कामस्थानप्रदानेशं, प्रथमपादेन सह सम्बन्धः। स्तुतिरेव विद्या स्तुतिविद्या तां प्रसाधये अहमिति सम्बन्धः। अथवा कामस्थानप्रदानेशमिति स्तुतिविद्यायाः विशेषणम्, कामस्थानप्रदानस्य ईष्ट इति कामस्थानप्रदानेद् अतस्तां। किमुक्तं भवति— श्रीमज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्य स्तुतिविद्यां प्रसाधयेऽहं किं विशिष्टां स्तुतिविद्यां कथंभूतं वा जिनपदाभ्याशं कामस्थानप्रदानेशं। किमर्थं आगसां जये जयनिमित्तं। प्रसाधये इति च प्रपूर्वस्यसाध संसिद्धावित्यस्य धोः णिज्जलङ्गतस्य प्रयोगः ॥१॥

अन्वयार्थ :

कामस्थानप्रदानेशं = इच्छित वा शोभनीय स्थान को प्रदान करने में समर्थ।

श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं = अंतरंग अनन्त चतुष्टय रूप तथा बहिरंग समवसरणादि लक्ष्मी के धारक जिनेन्द्र भगवान के चरणों की निकटता को। श्रीमान् जिनेन्द्र भगवान के चरण सान्निध्य को।  
प्रतिपद्य = प्राप्त करके।

आगसां जये = स्वकीय पापकर्मों पर विजय प्राप्त करने के लिए अर्थात् पापों का नाश करने के लिए।

अहं = मैं समन्तभद्राचार्य।

स्तुतिविद्यां = स्तुतिविद्या नामक जिनस्तोत्र की।

प्रसाधये = रचना करता हूँ।

भावार्थ - जिनेन्द्र भगवान की भक्ति भुक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाली है। जिनभक्ति से सांसारिक दुःखों का नाश, स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति और मोक्षसुख का लाभ होता है अतः अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी जिनेन्द्र भगवान के चरण-सान्निध्य का विशेषण कामस्थान को प्रदान करने में समर्थ कहा है। अर्थात् इष्ट स्थान कमनीय इन्द्रिय सुख एवं संसार-परिभ्रमण से निर्वृत्ति रूप स्वात्मोपलब्धि शिवसौख्यसिद्धिस्थान को देने में समर्थ ऐसे श्रीमान् केवलज्ञानादि लक्ष्मी से युक्त, जिनेन्द्रदेव के चरणसान्निध्य को प्राप्त करके-उनके चरण कमल की शरण में जाकर के मोहादि चार घातियाकर्मों वा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रहादि पाँच पाप रूप दुष्कृतों पर विजय प्राप्त करने के लिए मैं समन्तभद्राचार्य स्तुतिविद्या की रचना करने के लिए तत्पर हुआ हूँ।

टीका का विवरण :

श्री अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी जिसके होती है वह श्रीमान् कहलाता है। कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है वह जिन कहलाता है। श्रीमान् जिनराज के चरणों का सान्निध्य- श्रीमज्जिनपदाभ्याश कहलाता है।

काम शब्द के इष्ट, कमनीय, इच्छा आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतः इष्ट स्थान (मोक्ष स्थान), कमनीय स्थान, पंचेन्द्रियजन्य सांसारिक सुख को देने में समर्थ वा स्वात्मोपलब्धि रूप आत्मीय सुख को देने में समर्थ जिनराज के चरण-सान्निध्य को प्राप्त करके स्तुतिविद्या की रचना करता हूँ।

काम स्थान को देने में इष्ट यह स्तुतिविद्या का भी विशेषण है अर्थात् स्तुतिविद्या भी मोक्ष एवं सांसारिक सुखों को देने में समर्थ है। जो वीतराग प्रभु की स्तुति करता है वह स्वर्गादि अभ्युदय एवं निःश्रेयस् (मोक्ष) सुख को प्राप्त करता है।

प्रसाधये - 'प्र' उपसर्ग पूर्वक, साधुसंसिद्धौ (साध-धातु सिद्धि अर्थ में है, णिञ् लङ्ग का प्रयोग है।)

'मुरजबन्ध' नामक चित्रालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है-

**'पूर्वार्धमूर्ध्व पङ्क्तौ तु लिखित्वाद्धं परंत्वतः।**

**एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत्कविः ॥'**

'पूर्वार्धमेकपङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्य पश्चार्द्धमप्येकपङ्क्त्याकारेण तस्याधः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः। प्रथम पङ्क्तेः प्रथमाक्षरं द्वितीयपङ्क्ते द्वितीयाक्षरेण सह, द्वितीयपङ्क्तेः प्रथमाक्षरं प्रथमपङ्क्तेद्वितीयाक्षरेण सह, एवमुभयपङ्क्त्यक्षरेषु सर्वेषु संयोज्यमाचरमात्।'

- अलंकारचिन्तामणिः

अर्थात् - पहले श्लोकके पूर्वार्धको पंक्तिके आकारमें लिखकर, उत्तरार्धको भी पंक्तिके आकार में उसके नीचे लिखे। इस अलंकारमें प्रथम पंक्तिके प्रथम अक्षरको द्वितीय पंक्तिके द्वितीय अक्षरके साथ और द्वितीय पंक्तिके प्रथम अक्षरको प्रथम पंक्तिके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। यही क्रम श्लोकके अन्तिम अक्षर तक जारी रखना चाहिए। यह सामान्य 'मुरजबन्ध' का लक्षण है। यह अलंकार इस स्तुतिविद्याके २, ६, ७, ८, ९, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३९, ४०, ४१, ४२, ४५, ४९, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ९९, १०१, १०२, १०३, १०४ और १०५ संख्या के पद्यों में भी है। 'मुरजबन्ध' की रचना मुरज (मृदङ्ग) के आकार हो जाती है, इसलिए इसका यह नाम सार्थक है।

यह अलंकार 'अनन्तरपादमुरज' 'इष्टपादमुरज' आदि के भेद से कई तरह का होता है। 'अनन्तरपादमुरज' प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ पादमें होता है। यह भेद इस पुस्तकके ४८, ६४, ६६ और १०० संख्या के श्लोकों में है। इन श्लोकोंके चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिए। 'इष्टपादमुरज' में चारों पादों का अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यह भेद इस पुस्तकके ५०, ८९ और ९१ नम्बरके श्लोकों में है। इसके भी चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिए। यह अलंकार कई जगह गुप्तक्रिया, गुप्तकर्म, निरौष्ठ्यव्यञ्जनचित्र, गोमूत्रिका, पद्यबन्ध तथा यमक आदि के साथ भी आता है। वहाँ दो शब्दालङ्कारों की तिलतण्डुलवत् निरपेक्ष संसृष्टि समझना चाहिए। अलङ्कारचिन्तामणि में मुरजबन्ध बनानेका एक प्रकार और भी लिखा है जो इस पुस्तक के छठे श्लोक में अपनाया गया है। वह यह है-

श्लोकके चारों पदोंको नीचे-नीचे लिखकर प्रथम पादके प्रथम अक्षर को तृतीय पादके

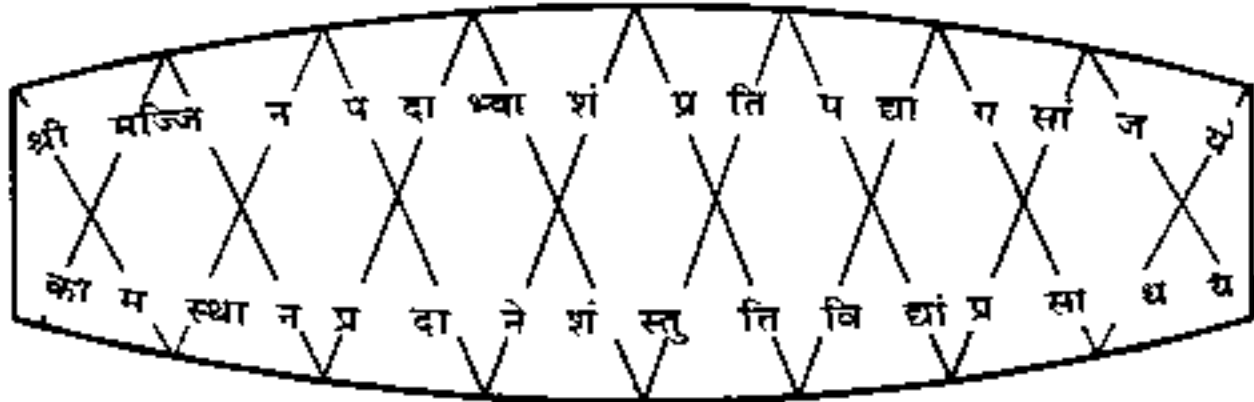
द्वितीय अक्षरके साथ और तृतीय पादके प्रथम अक्षरको प्रथम पादके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। यह क्रम पादकी समाप्ति पर्यन्त जारी रहता है। फिर द्वितीय पादके प्रथम अक्षरको चतुर्थ पादके द्वितीय अक्षरके साथ और चतुर्थ पादके प्रथम अक्षरको द्वितीय पादके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह क्रम भी पादकी समाप्ति-पर्यन्त जारी रहता है।

अलंकारचिन्तामणि में मुरजबन्ध आदि चित्रालंकारों का जो विस्तृत वर्णन किया गया है, वह जिनशतकालंकारकी संस्कृत टीकाके आधारपर किया गया मालूम होता है। अभी हमने ऊपर मुरजबन्धके जो संस्कृत लक्षण अलंकारचिन्तामणि से उद्धृत किये हैं उनमें से 'पूर्वार्धमेकं' श्लोकको छोड़कर सब ज्यों-का-त्यों जिनशतकालंकारके प्रथम और छठे श्लोककी संस्कृत टीकाके वाक्योंसे मिलता है। जिनशतकालंकारके कई श्लोक संस्कृतटीका-सहित अलंकारचिन्तामणिमें उद्धृत किये गये हैं। यह बात अलंकारचिन्तामणि के कर्ता ने स्वयं अपने शब्दोंमें स्वीकृत की है। मुरजबन्ध का चित्र इसप्रकार है—

(१) मुरजबन्ध :

श्रीमज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागसां जये ।

कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥१॥



ये सामान्य मुरजबन्ध के दो चित्र हैं। इनमें पूर्वार्ध के विषमसंख्याङ्क (१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५) अक्षरोंको उत्तरार्धके समसंख्याङ्क (२, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६) अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से श्लोक का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषमसंख्याङ्क अक्षरों को पूर्वार्ध के सम संख्याङ्क अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से उत्तरार्ध बन जाता है। इसप्रकार के अन्य श्लोक ग्रन्थ में निम्नप्रकार हैं :-

२, ६, ७, ८, ९, २१, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३९, ४०, ४१, ४२, ४५, ४९, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ९९, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५।

यद्यपि मुरजबन्ध अनेक प्रकार के हैं तथापि साधारणतया इनका लक्षण इसी प्रकार है।

(मुरजबन्धो गोमूत्रिकाबन्धश्च)

स्नात स्वमलगम्भीरं जिनामितगुणार्णवम् ।

पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायात क्षणाच्छिवम् ॥२॥

स्नात स्वमलेति । मुरजबन्धः पूर्ववद्दृष्टव्यः । स्नात इति क्रियापदं शौच इत्यस्य धोः लोडतस्य रूपं । सुष्ठु न विद्यते मलं यस्य स स्वमलः गंभीरः अगाधः स्वमलश्चासौ गंभीरश्च स्वमलगंभीरः अतस्तं स्वमलगंभीरम् । न मिताः अमिताश्च ते गुणाश्च ते अमितगुणाः जिनस्यामितगुणाः जिनामितगुणाः जिनामितगुणा एव अर्णवः समुद्रः अथवा जिन एव अमितगुणार्णवः जिनामितगुणार्णवस्तं । पूतः पवित्रः श्रीमान् श्रीयुक्तः जगतां सारो जगत्सारः पूतश्च श्रीमांश्च जगत्सारश्च पूतश्रीमज्जगत्सारः तं । जनाः लोकाः । यात इति क्रियापदं । या गतावित्यस्य धोः लोडतस्य प्रयोगः । क्षणादचिरादचिरेणेत्यर्थः । शिवं शोभनं शिवरूपमित्यर्थः । किमुक्तं भवति- हे जना जिनामितगुणार्णवं यात, स्नात अथवा जिनामितगुणार्णवं स्नात येन क्षणाच्छिवं यात इति । शेषाणि पदानि जिनामितगुणार्णवस्य विशेषणानि ॥२॥

अन्वयः : जन स्वमलगम्भीरं पूतश्रीमज्जगत्सारं, जिनामितगुणार्णवं स्नात क्षणात् शिवं अयात ।

अन्वयार्थ - जन! संबोधन, हे संसारी प्राणियो, वा हे भव्य जीवो! स्वमलगम्भीरं = सम्यक्प्रकार से नहीं है द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप मल जिसके, स्वमलं निर्मल, अत्यन्त अगाध गम्भीर-निर्मल और अगाध ।

पूतश्रीमज्जगत्सारं = पवित्र श्री (लक्ष्मी) सम्पन्न, संसार में सारभूत सर्वोत्कृष्ट ।

जिनामितगुणार्णवं = जिनेन्द्र भगवान के अमित (अनन्त) गुणरूपी समुद्र में ।

स्नात = स्नान करो, अवगाहन करो, एकाग्रचित्त होकर इसमें लीन हो और

क्षणात् = शीघ्र ही ।

शिवं = कल्याणस्वरूप मोक्षपद को ।

आयात = प्राप्त होओ, मोक्षपद को प्राप्त करो ।

टीकाकार ने 'यात' शब्द का प्रयोग किया है। 'या' धातु गति-अर्थ में है, परन्तु संधि में 'आयात' शब्द निकलता है। गच्छ 'जाओ' और आ उपसर्ग से आगच्छ 'आओ' अर्थ होता है। इसी प्रकार मोक्ष पद को प्राप्त करो। अथवा मोक्ष में आओ, लीन होओ, मोक्षसुख में लीन हो जाओ ।

भावार्थ - अत्यन्त निर्मल, अगाध, पवित्र, श्रीसम्पन्न जिनेन्द्र भगवान के अनन्त गुण रूपी समुद्र में अवगाहन करने से श्रद्धापूर्वक जिनेन्द्र के गुणों को स्वकीय गुण समझकर अपनाने से शीघ्र ही मोक्षपद की प्राप्ति होती है। अतः समन्तभद्राचार्यदेव ने जिनभक्ति करने की प्रेरणा दी है।

यह श्लोक गोमूत्रिका मुरजबन्ध चित्रालंकार युक्त है। यह चित्रालंकार प्रथम श्लोक के समान ही है।

गोमूत्र के समान टेढ़ा होने से इसको गोमूत्रिका बंध मुरज कहते हैं।

(अर्द्धभ्रमगूढपश्चाद्धः)

धिया ये श्रितयेतार्था यानुपायान्धरानताः ।

येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽयातानतन्वत ॥३॥

आसते सततं ये च सति पुर्वक्षयालये ।

ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा पाऽभिरक्षत ॥४॥ (युग्मम्)

धियेति । अर्द्धभ्रमगूढपश्चाद्धः । कोऽस्यार्थः चतुरोऽपि पादानधोऽधो विन्यस्य चतुर्णां पादानां चत्वारि प्रथमाक्षराणि अन्त्याक्षराणि चत्वारि गृहीत्वा प्रथमः पादो भवति । पुनरपि तेषां द्वितीयाक्षराणि चत्वार्यन्त्यसमीपाक्षराणि च चत्वारि गृहीत्वा द्वितीयः पादो भवति । एवं चत्वारोऽपि पादाः साध्याः । अनेन न्यायेन अर्द्धभ्रमो भवति । प्रथमाद्धे यान्यक्षराणि तेषु पश्चिमाद्धाक्षराणि सर्वाणि प्रविशन्ति । एकस्मिन्नपि समानाक्षरे बहूनामपि समानाक्षराणां प्रवेशो भवति । अतो गूढपश्चाद्धोऽप्ययं भवति । एवमेव जातीयाः श्लोका मृग्याः ।

धिया बुद्ध्या । ये यदो रूपं । श्रितया आश्रितया सेव्यया इत्यर्थः । इता, विनष्टा अर्तिः मनःपीडा यस्याः सेयमितार्तिः तया । यान् यदः शसंतस्य प्रयोगः । उपायान् उपपूर्वस्य अयगतौ अस्याजन्तस्य रूपं उपगम्यानित्यर्थः । वराः प्रधानाः इन्द्रादयः नताः प्रणताः । ये च वक्ष्यमाणेन च शब्देन सह सम्बन्धः । न विद्यते पापं येषां ते अपापाः शुद्धाः कर्मरहिता इत्यर्थः । यातं पारं यैस्ते यातपाराः अधिगतसर्वपदार्थाः इत्यर्थः । ये च श्रीर्लक्ष्मीस्तया आयातान् अतन्वत तनु विस्तारे इत्यस्य धोर्लुङन्तस्य रूपम् । यथा द्रव्येण राजानः आश्रितान् विस्तारयन्ति । उत्तरत्र क्रियापदं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः ॥३॥

आसत इति । आसते आस उपवेशने इत्यस्य धोः लङ्न्तस्य प्रयोगः । सततं सर्वकालं । ये च, च शब्दः समुच्चये, यदः प्रयोगान् जसन्तान् गमुञ्चिनेति पूर्णप्रकृतान् । सति शोभने सतः ईबन्तस्य रूपम् । न विद्यते क्षयः विनाशो यस्यासावक्षयः । आलयः अवस्थानम् । अक्षयश्चासावालयश्च अक्षयालयः, पुरुश्चासावक्षयालयश्च पुर्वक्षयालयः तस्मिन् पुर्वक्षयालये । ते तदः प्रयोगोऽयम्, यदः प्रयोगानपेक्षते । पुण्यं ददते इति पुण्यदाः । रतेनायातः रतायातः अतस्तम् । रागेणागतं भक्त्या गतमित्यर्थः । सर्वदा सर्वकालं । मा अस्मदः इवन्तस्य प्रयोगः । अभिरक्षत क्रियापदम् । अभिपूर्वस्य 'रक्ष पालने' इत्यस्य धोः लोङन्तस्य प्रयोगः । ते इति अभिरक्षत इति च यदो रूपेण जसन्तेन सह प्रत्येकमभिसम्बध्यते । किमुक्तं भवति-वराः यान् उपायान् नताः प्रणताः धिया, किं विशिष्टया श्रितया, पुनरपि इतार्त्या । किमुक्तं भवति-प्रेक्षापूर्वकारिभिः ये स्तुताः ते मा रतायातं अभिरक्षत, ये च अपापा ये च यातपाराः ये च श्रिया आयातान् प्रणतान् अतन्वत विस्तारयन्तिस्म ये च सति पुर्वक्षयालये सिद्धत्वपर्याये सततं आसते ये च पुण्यदाः ते यूयं मा सर्वदा रतेन भक्त्यागतं अभिरक्षत पालयत इत्युक्तं भवति ॥४॥

अन्वय - इत्यार्त्या श्रितया धिया । ये अपापा ये यातपाराः वराः यातपारः अपापाः यान् उपायान् आयातान् श्रिया अतन्वत । च ये सति पुर्वक्षयालये सततं आसते । ते पुण्यदाः रतायातं मा सर्वदा अभिरक्षत ॥३-४॥

अन्वयार्थ - इत्यार्त्या ये = जो, इता = नष्ट हो गई है अर्ति = पीड़ा, मानसिक संताप जिसके वह इत्यार्तिः उस मानसिक पीड़ा शारीरिक पीड़ा से रहित है, अर्थात् अनन्त सुख सम्पन्न । धिया = बुद्धि से अर्थात् केवलज्ञान से । श्रितया = आश्रित है- युक्त है । अर्थात् जो ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने उत्पन्न केवलज्ञान रूपी बुद्धि से सहित है । इसमें 'सह' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी तृतीया विभक्ति से युक्त होने से बुद्धिसम्पन्न अर्थ हुआ है । उपायान् - 'उप' उपसर्गपूर्वक 'अय् गतौ' अयधातु है- जिसका अर्थ गमन, ज्ञान या प्राप्त होना होता है । अतः उपायान् = सेवनीय, सेवा करने योग्य । यान् = जिनको । वराः = प्रधान इन्द्रादि । नताः नमस्कार करते हैं । च=और । ये = जो । अपापाः = पापरहित हैं अथवा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित हैं, यातपाराः = अगाध ज्ञानसमुद्र के पारगामी हैं वा संसारसमुद्र को पार कर चुके हैं । ये = जो । आयातान् = शरणागत भव्य पुरुषों को । श्रिया = केवलज्ञानादि लक्ष्मी से । अतन्वत = विस्तृत करते हैं ।

ये = जो। सततं = निरंतर। सति = शोभनीय (प्रशंसनीय), पुर्वक्षयालये = उत्कृष्ट अविनाशी परम पद में (उत्कृष्ट मोक्षरूप स्थान में) आसते = स्थित रहते हैं। पुण्यदा = पुण्य को (पवित्रता आत्मविशुद्धि को) देने वाले। ते = वे जिनेश्वरदेव। रतायातं = शरणागत। मा = मेरी। सर्वदा = हमेशा। अभिरक्षत = रक्षा करे।

**भावार्थ** - जो अव्याबाध सुख से सम्पन्न है अर्थात् जिनके मानसिक, शारीरिक, आगन्तुक आदि किसी प्रकार की आधि, व्याधि उपाधि नहीं है।

जो ज्ञानावरणकर्म का क्षय हो जाने से उत्पन्न केवलज्ञानरूपी बुद्धि से युक्त है- अर्थात् परिपूर्ण ज्ञान के धनी है।

जिस परम आराध्य पुरुष को श्रेष्ठ इन्द्र गणधर चक्रवर्ती आदि महापुरुष नमस्कार करते हैं, जिसकी निरंतर आराधना करते हैं।

जो निष्पाप है अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से रहित है, शुद्ध है।

जो यातापार-अर्थात् त्रिकाल और तीन लोकों में स्थित छहों द्रव्यों और उनकी अनन्त पर्यायों को एक साथ जानते हैं वा संसार समुद्र को पार कर संसारातीत हो चुके हैं।

जो भक्तिपूर्वक शरण में आये हुए भव्य प्राणियों को केवलज्ञानादि लक्ष्मी से सम्पन्न करते हैं- अर्थात् शरणागत प्राणी स्वर्गादि अभ्युदय और मोक्षसुख को प्राप्त होते हैं और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्षमन्दिर में निरंतर निवास करते हैं। वे पुण्यदा- कल्याण प्रदान करने वाले सिद्ध प्रभु गुणानुराग से प्रेरित होकर शरण में (सन्मुख) आगत मुझ भक्त समन्तभद्राचार्य की निरंतर रक्षा करे। अर्थात् हे नित्य निरंजन शुद्ध-बुद्ध, अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तदर्शन के धनी भगवन् आपकी भक्तिपूर्वक आराधना से मैं आत्मविकास करने में समर्थ हो सकूँ, ऐसी शक्ति प्रदान करो।

यह श्लोक अर्धभ्रम और गूढ़ पश्चार्ध नाम चित्रालंकार से युक्त है- इसका चित्र वा लक्षण इस प्रकार है-

श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखिये। चारों चरणों के प्रथम और अन्तिम चार अक्षरों को मिलाने से श्लोक का प्रथम पाद बन जाता है। उन्हीं चारों चरणों के द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलाने से द्वितीय पाद बन जाता है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ चरण भी सिद्ध कर लेना चाहिए। इस न्याय से यह श्लोक अर्धभ्रम कहलाता है। इस श्लोक के पूर्वार्ध में जो अक्षर आये हैं उन्हीं में उत्तरार्ध के सर्वअक्षर प्रविष्ट हो जाते हैं, एक समान अक्षर में अनेक समान अक्षरों का समावेश हो जाता है।



इसलिए इसे गूढ़ पश्चार्द्ध (जिसका पश्चार्ध भाग पूर्वार्ध भाग में गुप्त हो जावे) कहते हैं। इस अलंकार में कभी द्वितीय, कभी तृतीय और कभी चतुर्थ पाद भी गूढ़ हो जाता है। जैसे कि इसी स्तोत्र के ३६वें श्लोक में तृतीयपाद और ४३वें श्लोक में चतुर्थ पाद गूढ़ है।

इसका चित्र इस प्रकार है।

(२) अर्धध्रमः

धिया ये श्रितयेतात्या यानुपायान्वरानताः ।

येऽपाया यातपारा ये श्रियायातानतन्वत ॥३॥

१	धि	या	ये	श्रि	त	ये	ता	त्या	८
२	या	नु	पा	या	न्व	रा	न	ता	७
३	ये	पा	पा	या	त	पा	रा	ये	६
४	श्रि	या	या	ता	न	त	न्व	त	५

इसी प्रकार ४, १८, १९, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ९०, ९२ श्लोकों को जानना।

यह श्लोक युग्म है- दो श्लोकों की क्रिया एक हो उसको युग्म कहते हैं- कहा भी है-

द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकं ।

कलापं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतं ॥

दो श्लोकों की क्रिया के सम्बन्ध को युग्म, तीन को विशेषक, चार के सम्बन्ध को कलाप और उसके बाद कुलक संज्ञा होती है ॥३-४॥

किसी भी कार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण करना आवश्यक होता है अतः समन्तभद्राचार्य ने प्रथम श्लोक में 'श्रीमज्जिनपदाभ्याशं' इत्यादि शब्दों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान के चरणों की स्तुति की है।

द्वितीय श्लोक में जिनेन्द्रमुखोद्भूत जिनवाणी की स्तुति की और भव्यों को प्रेरणा दी है- कि हे भव्यो! इस जिनवाणी रूपी महासमुद्र में अवगाहन कर स्वकीय कर्म कालिमा का प्रक्षालन कर आत्मरूपी वस्त्र को शुद्ध करो- पवित्र करो, परम पावन बनो।

तृतीय एवं चतुर्थ श्लोक में सिद्धों के गुण एवं स्वरूप का कथन करके प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभो ! हमेशा मेरी रक्षा करना ।

अब यहाँ से आचार्यदेव चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्तुति करना प्रारंभ करते हैं ।  
सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान की स्तुति करते हैं—

(साधिकपादाध्यासयमकः)

नतपीला सनाशोक, सुमनोवर्षभासितः ।

भामण्डलासनाऽशोकसुमनोवर्षभासितः ॥५॥

(गुप्तक्रियो मुरजबन्धः)

दिव्यै-ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।

दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमददुरिभिर्जनैः ॥६॥

नतपीलेति । प्रथमपादस्य पञ्चाक्षराणि अभ्यस्तानि पुनरुच्चारितानि द्वितीयपादश्च समस्तः पुनरुच्चारितः । नतानां प्रणतानां पीला व्याधयः डो लो वा इति लत्वन्ताः अस्यतीति नतपीलासनः । तस्य सम्बोधनं हे नतपीलासन ! न विद्यते शोको यस्यासावशोकः तस्य सम्बोधनं हे अशोक । शोभनं मनोविज्ञानं यस्य सः सुमनाः तस्य सम्बोधनं हे सुमनः अव रक्ष अथवा वा समुच्चये दृष्टव्यः । हे ऋषभ आदितीर्थकर । आसितः स्थितः सन् । भामण्डलं प्रभामण्डलं, आसनं सिंहासनं, अशोकः अशोकवृक्षः, सुमनसः पुष्पाणि तेषां वर्षं सुमनोवर्षं पुष्पवृष्टिरित्यर्थः, तेषां द्वन्द्वः तैर्भासितः शोभितः भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्षभासितः सन् । किमुक्तं भवति— हे ऋषभ अव इत्यादि अथवा हे भट्टारक यदा त्वं स्थितः तदा एवं विधः सन् स्थितगतश्च त्वं यदा तदा एवं प्रकारैर्गतः । वक्ष्यमाणश्लोकेन सह सम्बन्धः ॥५॥

दिव्यैरिति । क्रिया पुनः तृतीयपादे गुप्ता दिव्यैरित्यत्र । अथवा मुरजबन्ध एवं दृष्टव्यः तद्यथा—चतुरोपि पादानधोधो व्यवस्थाप्य प्रथमपादस्य प्रथमाक्षरेण तृतीयपादस्य द्वितीयाक्षरं, तृतीयपादस्य प्रथमाक्षरं प्रथमपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह गृहीत्वा एवं नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिः । पुनर्द्वितीयपादस्य प्रथमाक्षरं चतुर्थपादस्य द्वितीयाक्षरेण, चतुर्थपादस्य प्रथमाक्षरेण सह द्वितीयपादस्य द्वितीयाक्षरं च गृहीत्वा पुनरनेन विधानेन तावन्नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिर्भवति । ततो मुरजबन्धः स्यात् ।

दिवि भवानि दिव्यानि अतस्तैर्दिव्यैः द्वन्द्वं कृत्वा ध्वनिसितच्छत्रचामरैः पुनरपि दुन्दुभिस्वनैः दिव्यैरिति प्रत्येकं समाप्यते । दिवि आकाशे ऐः गतवान् इण् गतावित्यस्य धोः लङ्न्तस्य रूपम्

विनिर्मितानि कृतानि स्तोत्राणि स्तवनानि विनिर्मितस्तोत्राणि तेषु। श्रमः अभ्यासः। नानाप्रकारेण मधुररवेण (स्वरेण) कृतस्तवनमित्यर्थः विनिर्मितस्तोत्रश्रमः स एव दर्दुरः वाद्यविशेषः विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरः। स येषामस्ति ते विनिर्मितश्रमस्तोत्रदर्दुरिणः। तैः सह अथवा विनिर्मितस्तोत्रश्रमेण दर्दुरिणोतस्तैः सह जनैः समवसृतिप्रजाभिरित्यर्थः। किमुक्तं भवति चतुर्णिकायदेवेन्द्रचक्रधरबलदेववासुदेवप्रभृतिभिः सह गतः स्थितश्च भवान्, ततो भवानेव परमात्मा एतदुक्तं भवति ॥६॥

अन्वय - नतपीलासन, अशोक, सुमन, भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्षभारितः दिव्यैः ध्वनिसितच्छत्रचामरैः दिव्यैः दुन्दुभिस्वनैः दिव्यैः दिव्यैः दिव्यैः विनिर्मित स्तोत्र श्रमदर्दुरिभिर्जनैः आसितः ऋषभ अव।

अन्वयार्थ - नतपीलासन = नम्र भक्तजनों की पीड़ा को दूर करने वाले। अशोक = हे शोक रहित। सुमनः = हे शोभन हृदय के धारक। भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्षभासितः = भामण्डल सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि से शोभित।

दिव्यैः = दिव्य। ध्वनिसितच्छत्रचामरैः = दिव्य ध्वनि, श्वेतच्छत्र, चमर। दुन्दुभिस्वनैः = दुन्दुभिनाद।

विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिः = विनिर्मित अनेक स्तोत्रों में श्रम करने वाले वा मधुर ध्वनि से अनेक स्तोत्र पढ़ने वाले दर्दुरनामक वादित्रों से युक्त। दिव्यैः = दिव्य। जनैः = जन = देवेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के साथ। आसितः = समवसरण में स्थित। दिवि = आकाशमार्ग में। ऐः = गमन किया था ऐसे ऋषभ ! हे ऋषभदेव भगवान मेरी। अव = रक्षा करो।

भावार्थ - नत का अर्थ झुकना, नमस्कार करना, नमस्करणीय पुरुष के गुणों में अनुरक्त होना होता है।

पीला-यमकादौ भवेदैक्यं डलोरलोर्वबोस्तथा। यमकादि अलंकारों में ड-ल, र-ल और व-ब में अभेद होता है। यमकादि चित्रालंकारों में कहीं-कहीं श, ष और न, ण में भी अभेद होता है। जैसा कि निम्न संग्रह श्लोक से जाना जाता है-

यमकादौ भवेदैक्यं डलयोरलयोर्वबोः। शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाऽविसर्गयोः। सविन्दुकाऽविन्दुकयोः स्यादभेदप्रकल्पनं। इस प्रकार “नतपीला का अर्थ नतपीड़ा होता है। असन-धातु का अर्थ क्षेपण और नाश है अतः नतपीला-नतपीड़ा करना चाहिए।

पीला का अर्थ पीड़ा है। “अस्” धातु क्षेपण करने वा नाश करने में आती है- अतः भक्तजनों की शारीरिक और मानसिक व्याधियों के नाश करने वाले, यह भगवान का, ऋषभ का विशेषण दिया है

और सम्बोधन करके समन्तभद्राचार्य ने कहा है- हे भक्तजनों की व्याधियों के घातक, नाशक प्रभु मेरी रक्षा करो।

मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से भगवान शोकसंताप से रहित हैं। यद्यपि भगवान मनरहित हैं तथापि उनकी भक्ति से भव्य जीवों का कल्याण होता है। अतः उपचार से भगवान को कल्याणकारक भावना से परिपूर्ण कहा है अतः सुमन ! उत्तम हृदय वाले कहकर सम्बोधन किया है। हे प्रभो ! आपने दिव्य सिंहासन, दिव्य भामण्डल, दिव्य अशोक वृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, मनोज्ञ दिव्य ध्वनि, दिव्य श्वेतच्छत्र, दिव्य चमर और दिव्य दुन्दुभिनाद रूप अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित होकर, अनेक स्तोत्रों में श्रम करने वाले अर्थात् मधुर ध्वनि से अनेक स्तोत्रों को पढ़कर स्तुति करने वाले तथा दर्दुरनाम आदि अनेक वादित्रों से युक्त दिव्य चक्रवर्ती, विद्याधर, मुनि, आर्यिका देवेन्द्र आदि के साथ समवसरण में स्थित थे और उन आठ प्रातिहार्यों तथा चतुर्निकर्षदेव, राजा-महाराजाओं के साथ नभोगण में विहार किया था। ऐसे हे ऋषिनाथ भगवन् ! मेरी रक्षा करो।

जब भगवान समवसरण में स्थित होते हैं तब उनके आठ प्रातिहार्य आदि अनेक विभूतियाँ प्रकट होती हैं, समवसरण सभा में स्थित देव, विद्याधर आदि भव्य जीव अनेक वादित्र बजाते हुए मधुर ध्वनि से स्तोत्रों को पढ़ते हुए स्तुति करते हैं। भगवान का विहार आकाशमार्ग में होता है, इत्यादिरूप कथन से आचार्यदेव ने ऋषभदेव का अलौकिक प्रभाव प्रकट किया है।

इस श्लोक में आचार्यदेव ने अष्ट प्रातिहार्यों का कथन किया है तथा आदिनाथ भगवान की आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार से अलौकिक अवस्था का कथन किया है।

इसमें पाँचवें श्लोक में यमकालंकार में साधिकपादाभ्यास यमक है।

दूसरा श्लोक गुप्तक्रिया मुरजबंध है।

यमक अलंकार के अनेक भेद हैं जिनमें से कुछ अलंकारों का कथन करना यहाँ आवश्यक समझकर किया जाता है। इसमें प्रथम साधिक पादाभ्यास यमकालंकार का लक्षण यह है—

यहाँ प्रथम पाद के अन्तिम पाँच अक्षरों और द्वितीय पाद की पुनरावृत्ति की गई है, अतः 'साधिकपादाभ्यास यमकालंकार' है जिसका लक्षण इस प्रकार है :—

श्लोकपादपदावृत्तिर्वर्णावृत्तिर्युताऽयुता ।

भिन्नवाच्यादिमध्यान्तविषया यमकं हि तत् ॥

— अलंकार चिन्तामणि, पृष्ठ ४६।

जहाँ अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णों की पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है। वह आवृत्ति पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में होती है तथा कहीं अन्य पाद, पद और वर्णोंसे व्यवहित होती है और कहीं अव्यवहित। अलंकारविषय के प्राचीन ग्रन्थों में इस अलंकार के अनेक भेद बतलाये हैं परन्तु यहाँ आवश्यक समझ कर सिर्फ ११ भेदों का वर्णन किया जाता है— (१) जहाँ प्रथम और द्वितीय पाद में समानता हो उसे मुख यमक, (२) जहाँ प्रथम और तृतीय पाद में समानता हो उसे सन्दंश, (३) जहाँ प्रथम और चतुर्थपाद में समानता हो उसे आवृत्ति, (४) जहाँ द्वितीय तृतीय पाद में समानता हो उसे गर्भ, (५) जहाँ द्वितीय और चतुर्थपाद में समानता हो उसे संदष्टक, (६) जहाँ तृतीय और चतुर्थपाद में समानता हो उसे पुच्छ, (७) जहाँ चारों चरण एक समान हों उसे पंक्ति, (८) जहाँ प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय पाद एक समान हों उसे परिवृत्ति, (९) जहाँ प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद एक समान हों उसे युग्मक, (१०) जहाँ श्लोक का पूर्वार्ध और अपरार्ध एक समान हो उसे समुद्गक और (११) जहाँ एक ही श्लोक दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोकयमक कहते हैं। इस श्लोक में 'संदष्टक' यमक है। १५वें श्लोक में 'युग्मक' यमक, २५वें और ५२वें श्लोकमें 'समुद्गक' यमक, ११-१२वें, १६-१७वें, ३७-३८वें, ४६-४७वें, ७६-७७वें और १०६-१०७ वें श्लोकों में महायमक (श्लोकयमक) है। (ये ११ भेद श्लोक, श्लोकार्ध और पाद की आवृत्ति की अपेक्षा किये गये हैं। पादांश, पदांश और वर्णों की आवृत्ति की अपेक्षा अनेक भेद हो जाते हैं।) देखो, निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित साहित्यदर्पण की टिप्पणी। यमकालंकार के भेद-प्रभेदों का विशेष वर्णन सरस्वती कण्ठाभरण आदि आकर ग्रन्थों में देखना चाहिए।

इसमें दिविभवैर्दिव्यैः स्वर्ग समान सुन्दर अतिमनोज्ञ होने से दिव्य यह पदच्छेद है। दूसरा अर्थ है-दिवि=गगन में, ऐः=गमन, इस प्रकार पदच्छेद है। ऐः=इण् गतौ इस धातु के लङि मध्यम पुरुष का एक वचन है अतः यहाँ पर इस श्लोक में "ऐः" यह क्रिया गुप्त है।

छठे श्लोक में मुरजबन्ध चित्रालंकार है, जिसका चित्र और लक्षण प्रथम श्लोक के कथन में दिया है।

(मुरजबन्धः)

यतः श्रितोपि कान्ताभिर्दृष्टा गुरुतया स्ववान् ।

वीतचेतोविकाराभिः स्रष्टा चारुधियां भवान् ॥७॥

यतः श्रितः इति। यतः यस्मात् श्रितोपि आश्रितोपि सेवितोपि कान्ताभिः स्त्रीभिः वानव्यन्तरादिरमणीभिः। तथापि दृष्टा प्रेक्षिता गुरुतया गुरुत्वेन गुरोर्भावः गुरुता तथा। स्ववान् आत्मवान् ज्ञानवानित्यर्थः। किं विशिष्टाभिः स्त्रीभिः वीतचेतोविकाराभिः वीतः विनष्टः चेतसः चित्तस्य विकारः

कामाभिलाषः यासां ताः वीतचेतोविकाराः ताभिः वीतचेतोविकाराभिः । स्रष्टा विधाता । चार्व्यश्च ताः धियश्च चारुधियः अतस्तासां चारुधियां शोभनबुद्धीनां । भवान् भट्टारकः । किमुक्तं भवति-समवसृतिस्थस्त्रीजनसेवितोपि गुरुत्वेन ईक्षितासि यतस्ततः शोभनबुद्धीनां स्रष्टा कर्ता भवानेव एतदुक्तं भवति ॥७॥

अन्वय - वीतचेतोविकाराभिः कान्ताभिः श्रितः अपि स्ववान् गुरुतया दृष्टा यतः भवान् चारुधियां स्रष्टा ॥७॥

अन्वयार्थ - वीतचेतोविकाराभिः=नष्ट हो गया है मानसिक विकार जिसके अर्थात् निर्विकार । कान्ताभिः=स्त्रियों के द्वारा । श्रितः=आश्रित वा सेवित होते हुए । अपि=भी ।

स्ववान्=ज्ञानवान वा जितेन्द्रिय होने के कारण आप ।

गुरुतया=गुरु रूप से वा महान् पूज्य रूप से । दृष्टा=देखे गये थे । यतः=इसलिए । भवान्=आप ही । चारुधियां=निर्मलबुद्धि या प्रशंसनीय बुद्धि के । स्रष्टा=विधाता हो ।

भावार्थ - भगवान के समवसरण में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी देवांगना तथा चक्रवर्ती की रानियाँ विद्याधारिणी आदि अनेक निर्विकार ललनार्ये वीतराग प्रभु की उपासना करती हैं । बार-बार उनके मुख का अवलोकन करती हैं । तथापि आप जितेन्द्रिय पूज्य रूप से ही देखे गये हो- अर्थात् उन्होंने आप को विकाररहित दृष्टि से ही देखा, गुरुभाव से देखा था । 'दृष्टा' यहाँ पर कर्तृ वाच्य में 'तृच्' प्रत्यय हुआ है और "गुरुस्तु गीष्वाती श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे" इस कोश-वाक्य से गुरु शब्द गुरु, स्वामी, श्रेष्ठ, पिता, दुर्भर, पति आदि अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है । अतः गुरु शब्द का पिता अर्थ भी स्पष्ट है । इसलिए ज्ञानवान आप पिता भाव से देखे गये थे ।

यदि इस श्लोक में 'ताः' इस कर्म पद का ऊपर से सम्बन्ध कर लिया जाय (उन मनोहर स्त्रियों को) तो श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है- 'हे प्रभो ! आप एकानेक सुन्दर वनिताओं के द्वारा सेवित होने पर भी उन्हें पितृ भाव से देखते हैं अर्थात् जिस प्रकार पुत्री के प्रति पिता की दृष्टि विकार रहित होती है, उसी प्रकार वनिताओं के प्रति आपकी दृष्टि विकार रहित थी, क्योंकि आप स्ववान् हैं- विकार-उत्पादक मोह शत्रु को आपने जीत लिया है, अतः जितेन्द्रिय हैं, ज्ञानवान हैं इसलिए भव्य प्राणियों के हृदय में निर्मल बुद्धि के उत्पादक विधाता आप ही हैं ।

समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक में यह सूचित किया है कि देवांगनार्ये वा स्त्रियाँ भगवान की उपासना करती हैं तो उनका मन पवित्र हो जाता है तथा महामना के मन को वे विचलित नहीं कर सकतीं । क्योंकि आप स्व को वश में करने वाले हैं और जो अपने को वश में कर लेता है उसके प्रति कुछ भी असमंजस नहीं है ।

यह श्लोक मुरज बंध है। इसका वर्णन प्रथम श्लोक में किया है।

(मुरजबन्धः)

विश्वमेको रुचामाऽऽको व्यापो येनार्य्य ! वर्तते ।

शश्वल्लोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

विश्वमेक इति । विश्वं समस्तं क्रियाविशेषणमेतत् । एकः अद्वितीयः । रुचां दीप्तानां आकः प्रापकः । कर्मणि तेयं । व्यापः व्यापकः । येन यस्मात् । हेतौ भा । हे आर्य्य भट्टारक ! वर्तते शश्वत् सर्वदा । लोकः द्रव्याधारः शश्वल्लोकः । अपि च अन्यच्च । अलोकोपि अलोकाकाशमपि । द्वीपः समुद्रे जलविरहितः प्रदेशः । ज्ञानं केवलज्ञानम् । अर्णवः समुद्रः । ज्ञानमेवार्णवः ज्ञानार्णवः तस्य ज्ञानार्णवस्य । ते तव । अथवा लोकस्यैव विशेषणम् । रुग्भिः ज्ञानैः आकः परिच्छेद्यः व्यापः मेयः । येन कारणेन लोकश्चालोकश्च आको व्यापश्च ज्ञानार्णवस्य ते तव तेन कारणेन द्वीपो वर्तते इति । किमुक्तं भवति-सर्वपदार्थेभ्यः केवलज्ञानस्यैव माहात्म्यं दत्तं भवति ॥८॥

अन्वय - आर्य्य ! एकः विश्वं ते रुचां आकः व्यापः ये न शश्वत् लोकः च आलोकः ते ज्ञानार्णवस्य द्वीपः ।

अन्वयार्थ - आर्य्य ! हे श्रेष्ठ आदिनाथ भगवान् !

एकः=अद्वितीय । विश्वं=सारा विश्व । ते=तेरी । रुचां=ज्ञानज्योति को । आकः=प्राप्त है, आपकी ज्ञानज्योति में प्रतिबिम्बित है । व्यापः=व्यापक है अर्थात् आप सारे लोक और अलोक को जानते हैं । येन=जिससे (इसलिए) ।

शश्वत्= अनादिनिधन द्रव्य का आधार यह । लोकः=लोकाकाश । च=और । अलोकः=अलोकाकाश । ते=तेरे । ज्ञानार्णवस्य=ज्ञानरूपी समुद्र का । द्वीपः=द्वीप है ।

भावार्थ - विस्तृत समुद्र के मध्य में छोटा सा जलरहित प्रदेश वा स्थान होता है, उसको द्वीप कहते हैं । समन्तभद्राचार्य ने आदिनाथ भगवान की स्तुति में प्रभु के ज्ञान की महिमा का कथन किया है कि हे प्रभो ! आप सारे लोक और अलोक को जानते हैं अर्थात् आपके ज्ञान में ज्ञेय रूप से सारे पदार्थ तथा अलोकाकाश भी प्रतिबिम्बित हो रहा है । आपका केवलज्ञान त्रिलोक एवं त्रिकालवर्ती छहों द्रव्यों और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को जानता है, परन्तु यह कथन पदार्थ की अपेक्षा है अर्थात् पदार्थ इतने ही हैं- यदि पदार्थ और भी होते तो उनको भी केवलज्ञान जान लेता । अतः आदिनाथ प्रभु के ज्ञान रूपी समुद्र के मध्य में ये तीन लोक, त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थ द्वीप के समान आचरण करते हैं । अर्थात् जिस प्रकार विस्तृत समुद्र के भीतर द्वीप होता है उसी प्रकार आपके ज्ञान के भीतर लोक और अलोक हैं ।

हे आर्य! जैसे द्वीप की अपेक्षा सागर का विस्तार बहुत बड़ा होता है, वैसे ही प्रभु आपके ज्ञान का विस्तार बहुत अधिक है। पदार्थ अनन्त अवश्य हैं, परन्तु आपके अनन्त ज्ञान की अपेक्षा अल्प हैं- क्योंकि अनन्त के अनन्त भेद होते हैं ॥८॥

यह मुरजबन्ध चित्रालंकार है।

(मुरजबन्धः)

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने यत्त्वय्येवाऽश्नुते परः ।  
क्षतं भूयो मदाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वरः ॥९॥

श्रितःश्रेय इति । श्रितः आश्रितः । श्रेयोपि पुण्यमपि । उदासीने मध्यस्थे । अत्रापि शब्दः सम्बन्धनीयः । यत् यस्मात् । त्वयि युष्मदः ईबन्तस्य प्रयोगः । भट्टारके एव नान्यत्रेत्यर्थः । अश्नुते प्राप्नोति । परः जीवः । क्षतं विवरं छिद्रं दुःखम् । भूयः पुनरपि । मदस्य अहानं यस्मिन् स मदाहानः तस्मिन् मदाहाने । मदः रागविशेषः । अहानं अपरित्यागः । तत् तस्मात् । त्वमेव भवानेव । अर्चितः पूजितः । ईश्वरः प्रधानः स्वामी । एतदुक्तं भवति—भट्टारके उदासीनेपि आश्रितः जीवः अश्नुते श्रेयः सरागे त्वद्व्यतिरिक्तेऽन्यत्र राजादिके जने पुनराश्रितः क्षतं दुःखमेव प्राप्नोति । तस्माद् भट्टारक एव अर्चितेश्वरः नान्यः ॥९॥

अन्वय - यत् उदासीने अपि त्वयि एव श्रितः परःश्रेयः अश्नुते । मदाहाने श्रितः परः भूयः क्षतं अश्नुते तत् त्वं एव अर्चितेश्वरः ॥

अन्वयार्थ - उदासीने=सबमें माध्यस्थ भाव रखने वाले वीतराग । त्वयि=तुझ में । श्रितः=आश्रय-शरण लेने वाला । एव=ही । परः=जीव । यत्=जिस । श्रेयः=कल्याण को । अश्नुते=प्राप्त होते हैं । मदाहाने=मद की जिसके हानि नहीं है, जो रागी-द्वेषी है उसका । श्रितः=आश्रय लेने वाला जीव । भूयः=बार-बार । क्षतं<sup>१</sup>=दुःख को । एव=ही । अश्नुते=प्राप्त होता है । तत्=इसलिए प्रभो ! त्वं=तुम । एव=ही । अर्चितेश्वरः=पूजनीय ईश्वर हो ।

भावार्थ - हे भगवन् ! यद्यपि आप राग-द्वेष रहित हैं, परम उदासीन भाव को प्राप्त हैं- तथापि आपकी स्तुति, वन्दना, ध्यान-पूजा करने वाला पुरुष कल्याण को प्राप्त होता है- अर्थात् पंचकल्याणक का भागी होता है, मोक्षपद को प्राप्त करता है तथा जो कुदेवों, रागी-द्वेषी देवों की आराधना करते हैं वे दुःख को प्राप्त होते हैं- चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं । इसलिए आप ही पूजने योग्य ईश्वर हो ।

१. क्षतं विवरं छिद्रं दुःखं । क्षत शब्द के नाश, छिद्र, दुःख आदि अनेक अर्थ होते हैं ।



समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक में वीतराग प्रभु की भक्ति के फल का कथन किया है कि—हे प्रभो ! मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से आप में रागांश विद्यमान नहीं है अतः किसी की पूजा-वन्दना या स्तुति से नवीन प्रसन्नता का संचार नहीं होता तथा आत्मा में द्वेषांश के न रहने से किसी की निन्दा या अवज्ञा पर कभी अप्रसन्न नहीं होते हैं अतः वीतराग प्रभु आप स्तोता और निन्दक दोनों के प्रति उदासीन हैं तथापि आपकी भक्ति-स्तुति-वन्दना वा निर्मल भावों से ध्यान करने वाले जीव जिस सर्वार्थसिद्धि, चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद आदि अभ्युदय एवं निःश्रेयस, मोक्षसुख स्वात्मोपलब्धि स्वरूप आत्मीय सुख को प्राप्त करते हैं, वह अभ्युदय एवं मोक्षसुख अन्य रागी-द्वेषी देवों की पूजा-स्तुति से प्राप्त नहीं होता, अपितु रागी-द्वेषी देवों की आराधना करने से दुःख ही प्राप्त होता है। अर्थात् आप से विमुख होकर अन्य रागी-द्वेषी देवों की वा राजा-महाराजाओं की सेवा करता है वह अशुभ कर्मों का बंधकर अनेक अमंगल एवं दुःखों को प्राप्त होता है। अतः इस संसार में आप ही पूजने योग्य कल्याणकारी ईश्वर हैं।

यह श्लोक मुरजबंध चित्रालंकार है।

(गतप्रत्यागताद्धः)

भासते विभुताऽस्तोता ना स्तोता भुवि ते सभाः ।

याः श्रिताः स्तुत ! गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१० ॥

भासते इति । अस्य श्लोकस्यार्द्धं पंक्त्याकारेण विलिख्य क्रमेण पठनीयम् । क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीतपाठेऽपि तान्येवाक्षराणि यतस्ततो गतप्रत्यागताद्धः । एवं द्वितीयार्द्धमपि योज्यम् । एवं सर्वत्र गतप्रत्यागताद्धश्लोकाः दृष्टव्याः ।

भासते शोभते । विभोर्भावः विभुता स्वामित्वम् । तथा । अस्ताः क्षिप्ताः ऊनाः न्यूनाः यकाभिः ता विभुतास्तोनाः । ना पुरुषः । स्तोता स्तुतेः कर्ता । भुवि लोके । ते तव । सभाः समवसृतीः, शसन्ताः दृष्टव्याः । याः यदः टाबन्तस्य प्रयोगः । श्रिताः आश्रिताः । हे स्तुत ! पूजित । गीत्या गेयेन । नु वितर्के । नुत्या स्तवेन गीताश्च ताः स्तुताश्च गीतस्तुताः । श्रिया लक्ष्म्या । श्रिता आश्रिताः याः सभाः गीत्या गीताः नुत्या स्तुताः संजाता ना स्तोता पुरुषः भासते ॥१० ॥

अन्वय - स्तुत ! ते स्तोता ना भुवि याः विभुताऽस्तोना गीत्या गीतनुत्या स्तुताः सभाः नु सभाः भासते ।

अन्वयार्थ - स्तुत ! = हे स्तुति के योग्य प्रभो ।

ते=तेरी । स्तोता=स्तुति करने वाला । ना=भव्य पुरुष । भुवि=पृथ्वी पर । याः=जो । श्रिया=अष्ट प्रातिहार्य लक्ष्मी से । श्रिताः=शोभित है । नु=निश्चय से । गीत्या=संगीतमय स्तोत्र से । गीताः=वर्णित है,

प्रशंसनीय है। विभुताऽस्तोना=विभुता से हीन नहीं है अर्थात् उत्कृष्ट परकोटा खातिका आदि से युक्त है अर्थात् जिसने अपनी विभुता से अन्य सभाओं को तिरस्कृत कर दिया है ऐसी। सभाः=सभा-समवसरण में। विभासते=शोभित होते हैं।

**भावार्थ :** हे परमपूज्य प्रभो! आत्मा स्तुतिकर्ता भव्य पुरुष इस भूतल पर उन समवसरण-सभाओं को प्राप्त कर आनन्दित होता है जो सभाएँ अष्टप्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से युक्त हैं, अत्यन्त मनोज्ञ संगीतमय स्तोत्र के द्वारा जिनका कथन किया गया है या स्तुति की गई है, श्रेष्ठ पुरुषों के नमन से जो पूज्यता को प्राप्त हुई- अर्थात् गणधरादि महान् पुरुष जिसका ध्यान करते हैं, नमस्कार करते हैं और जिन्होंने खातिका, पुष्पवाटिका, मानस्तम्भ, सरोवर, परकोटा, रत्नमयी सोपान आदि स्वकीय वैभव से अन्य सभाओं को तिरस्कृत कर दिया है।

परमपूज्य समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक के द्वारा गूढ़ रूप से यह बात प्रकट की है कि भगवान् की भक्ति करने से मानव तीर्थकर होता है, जिससे वह भी समवसरण सभा को प्राप्त कर आपके समान शोभित होता है। यह तीर्थकर पद किसी अन्य आराध्य की आराधना से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थकर प्रकृति का बंध केवली या श्रुतकेवली के चरण-सान्निध्य में ही होता है तथा मनुष्य के ही होता है, तीर्थकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ मनुष्य पर्याय में होता है और जिनभक्त के ही होता है अतः आचार्यदेव ने 'ना' शब्द का प्रयोग किया है।

### (३) गतप्रत्यागताद्धः

भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः।

याः श्रिताः स्तुत गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१०॥

भा	स	ते	वि	भु	ता	स्तो	ना
याः	श्रि	ताः	स्तु	त	गी	त्या	नु

इस कोष्ठक में स्थित अक्षरों को विपरीत क्रम में पढ़ने से सही चरण बन जाता है अर्थात् द्वितीय चरण को उलटा पढ़ने से प्रथम चरण बन जाता है और प्रथम चरण को उलटा पढ़ा तो द्वितीय चरण बन जाता है इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ चरण भी समझने चाहिए।

यद्यपि इस प्रक्रिया से अनुस्वार और विसर्ग की हीनाधिकता होती है जैसे द्वितीय चरण के अन्त में सभाः इस शब्द में विसर्ग की अधिकता है और प्रथम चरण के प्रारम्भ में विसर्ग नहीं है। तृतीय चरण

में 'याः' विसर्ग है। चतुर्थ के अन्त में विसर्ग नहीं है, परन्तु यह दोष नहीं है- क्योंकि अलंकार लक्षण के अनुसार "नाऽनुस्वारविसर्गौ च चित्रभंगाय संमतौ" अर्थात् अनुस्वार और विसर्ग की हीनाधिकता से चित्रालंकार भग्न नहीं होता। यह अलंकार का नियम है।

(श्लोकयमकः)

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते ।

चिराय भवते पीड्यमहोरुगुरवेऽशुचे ॥११॥

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते ।

चिराय भवतेपीड्य ! महोरुगुरवे शुचे ॥१२॥ (युग्मं)

स्वयं शमेति - द्वौ श्लोकावेतौ पृथगर्थौ दृष्टव्यौ ।

स्वयं स्वतः। शमयितुं विनाशयितुम्। नाशं विनाशम् कर्म। विदित्वा ज्ञात्वा उपलभ्य। सन्नतः सम्यग् नतः प्रणतः। तु अत्यर्थम्। ते तुभ्यम्। चिराय नित्याय अक्षयपदनिमित्तं वा। भवते प्रभवते। भू सत्तायामित्यस्य धोः शत्रन्तस्य अबन्तस्य प्रयोगः। पीड्यं सविधातम् न पीड्यं अपीड्यम्, महः तेजः, अपीड्यं च तन्महश्च तदपीड्यमहः, अपीड्यमहसः रुक् अपीड्यमहोरुक्, तथा उरुः महान् अपीड्यमहोरुगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरुगुरवे अथवा अपीड्यमहोश्च रुगुरुश्चासौ अपीड्यमहोरुगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरुगुरवे। शुक् शोकः, न शुक् अशुक् तस्यै अशुचे। अशोकार्थं भवते तेन सम्बन्धः तदर्थे अवियं दृष्टव्या। अन्यत् सुगमम्। उत्तरश्लोके स्थितं क्रियापदमपेक्षते ॥११॥

स्वयमिति - अयः पुण्यम् शोभनः अयः स्वयः तं स्वयम्। शं सुखम्। अयितुं गन्तुम्। ना पुरुषः जीवः। अशं दुःखम्। विद् ज्ञानवान् अथवा विचारवान् इत्वा गत्वा। सन् विद्यमानः। अतः अस्मात् कारणात्। स्तुते स्तुतिविषये। चिराय चिरेण अनन्तकालेन अथवा अचिरेण तत्क्षणात्। झि संज्ञकोयम्। भवते प्राप्नुते। भू प्राप्तावित्यस्य धोः आदृषादा इति अणिजन्तस्यापि प्रयोगो भवति। अपि सम्भावने। हे ईड्य पूज्य। महती उर्वी गौ वर्णी यस्यासौ महोरुगुः, महोरुगुरेव रविः महोरुगुरविः, तस्य सम्बोधनं हे महोरुगुरवे। शुचे शुद्धे सर्वकर्मनिर्मुक्ते। एतदुक्तं भवति-तुभ्यं अशोकार्थं भवते अप्रतिहतकेवलज्ञानदीप्तये आत्मना सन्नतः ना पुरुषः प्रेक्षापूर्वकारी विनाशं विनाशयितुं मोक्षार्थं सुखं गन्तुं हे ईड्य महोरुगुरवे दुःखं गत्वा पुण्यमपि प्राप्नुते ॥१२॥

अन्वय - ईड्य ! महोरुगुरवे, विद् ना स्वयं नाशं शमयितुं विदित्वा ते अपीड्य महोरुगुरवे शुचे ते तु सन्नतः चिराय भवते। स्तुते अशं इत्वा सन् अतः चिराय स्वयं शं अयितुं अशुचे भवते।

अन्वयार्थ - ईड्य=हे स्तुति करने योग्य परम पूज्य भगवान्। महोरुगुरवे=महादिव्य ध्वनिरूप किरणों से सुशोभित सूर्य। विद्=ज्ञानवान। ना=पुरुष। नाशं=कर्मों को। शमयितुं=शमन करने के लिए, नाश करने के लिए।

चिराय=अविनाशी अक्षय पद को प्राप्त करने के लिए। अशुचे=शोक संताप रहित। अपीड्य महोरुगुरवे=निर्बाध प्रताप और केवलज्ञान से सम्पन्न। ते=तेरे लिए। सन्नताः=सम्यक्प्रकार शुद्ध निर्मल मन, वचन, काय से नमस्कार करते हैं। तथा। भवते=आपकी। स्तुतिविषये=स्तुति के विषय में। सन्नताः=लीन होते हैं वे। शं=सुख को। अयितुं=प्राप्त करने के लिए। अशं=दुःख को। इत्वा=प्राप्त करके। अपि=भी। ना=पुरुष। अचिराय=शीघ्र। स्वयं=शोभनीय पुण्यस्वरूप। शं=सुख को। भवते=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - समन्तभद्राचार्य ने प्रभु की स्तुति करने के फल को प्रकट करने के लिए इस श्लोक की रचना की है। उन्होंने कहा है-

हे परमपूज्य, स्तुति करने योग्य, दैदीप्यमान दिव्यध्वनि रूप किरणों से युक्त सूर्य! आदीश्वर भगवान्! जो ज्ञानवान, विचारशील मानव अविनाशी, अजर अमर पद को प्राप्त करने के लिए अविनाशी, शोक संताप से रहित एवं अबाधित प्रताप, अप्रतिहत केवलज्ञान से सम्पन्न आपके लिए भली प्रकार शुद्ध मन वचन काय से नमस्कार करता है तथा सर्वकर्मों का क्षय करने वाले और पवित्रता को प्राप्त आपकी स्तुति करता है, शुद्ध भावों से आपकी स्तुति में लीन होता है, आपको आत्मसात् करता है, वह पुरुष पूर्व अवस्था में कायक्लेशादि तपश्चरण के द्वारा कष्ट को प्राप्त करके भी अन्त में सातिशय पुण्य, पुण्यानुबंधी पुण्य बाँधकर शीघ्र ही अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। स्वतः ही सिद्ध स्वरूप हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वीतराग प्रभु की भक्ति से मोक्षपद की प्राप्ति के कारणभूत सातिशय पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है।

पंचास्तिकाय में भी लिखा है कि जिनभक्ति से सातिशय पुण्य के फलस्वरूप चक्रवर्ती आदि पद को प्राप्त कर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं ॥११-१२॥

(प्रथमपादोद्भूतपश्चाद्धैकाक्षरविरचितश्लोकः)

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः ।

ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोततः ॥१३॥

ततोतीति - प्रथमपादे यान्यक्षराणि तानि सर्वाण्यक्षराणि पश्चिमाद्धै यत्र तत्र व्यवस्थितानि, नान्यानि सन्ति।

तता विस्तीर्णा ऊक्तिः रक्षा तता चासावूतिश्च ततोतिः तस्या भावः ततोतिता। तुर्विशेषे।

अति पूजायां वर्तमानो झि गि ति संज्ञो न भवति, अतएव केवलस्यापि प्रयोगः। किमुक्तं भवति—विशिष्ट-  
पूजितप्रतिपालनत्वम्। ते तव युष्मदः प्रयोगः। इतः इदमः प्रयोग एभ्य इत्यर्थः। केभ्यः तोतृतोतीतितोतृतः।  
अस्य विवरणं—तोतृता ज्ञातृता, कुतः तु गतौ सौत्रिकोय धुः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थे वर्तन्ते इति। ऊतिः रक्षा  
वृद्धिर्वा अव रक्षणे इत्यस्य धोः क्त्यन्तस्य प्रयोगः। तोतृताया ऊतिः तोतृतोतिः इति अवगमः प्राप्तिर्वा इण्  
गतावित्यस्य धोः क्त्यन्तस्य प्रयोगः। तोतृतोतेः इति तोतृतोतीतिः ज्ञातृत्ववृद्धिप्रापणमित्यर्थः। अथवा  
ज्ञातृत्वरक्षणविज्ञानमिति वा। तुदन्तीति तोतृणि तुद् प्रेरणे इत्यस्य धोः प्रयोगः तोतृतीतीतेः तोतृणी।  
तोतृतोतीति तोतृणि ज्ञानावरणादीनीत्यर्थः। तेभ्यः तोतृतोतीतितोतृतः। ततः तस्मात्। तातिः परिग्रहः  
परायत्तत्वम्। दृश्यते चायं लोके प्रयोगः युष्मत्तात्या वयं वसामः युष्मत्परिग्रहेणेत्यर्थः। न तातिः अतातिः  
अतात्या तता विस्तृताः अतातितताः अपरिग्रहेण महान्तो जाता इत्यर्थः। अतातिततेषु उता बद्धा ऊतिः  
रक्षा यस्य स आतातिततोतीतिः तस्य सम्बोधनं हे अतातिततोतीते। ततता विशालता प्रभुता  
त्रिलोकेशत्वमित्यर्थः। ते तव। ततं विशालं विस्तीर्णं उतं बन्धः ज्ञानावरणादीनां संश्लेषः। ततं च तदुतं  
च ततोतम्। तत् तस्यतीति ततोतताः तस्य सम्बोधनं हे ततोततः॥१३॥

**अन्वय -** तोतृतोतीतितोतृतः तोतृता तु ते अतीतः ततः अतातिततोतीते ? ततोतः ते ततता।

**अन्वयार्थ -** तोतृतोतीतितोतृतः=ज्ञातृत्व की वृद्धि की रक्षा के घातक ज्ञानावरणादि कर्मों से।  
तोतृता=विस्तृत रक्षा करने वाले। तु=विशेष रूप से। अतीतः=पूजा को प्राप्त। अतातिततोतीते=परिग्रह  
की पराधीनता से रहित। ततोतं=विशाल ज्ञानावरणादि कर्मों के नाशक। ततः=इसलिए। ते=तेरी ही।  
ततता=विशालता है, प्रभुता है।

**शब्दार्थ एवं भावार्थ -** तोतृतोतीतितोतृतः=इसका विश्लेषण इस प्रकार है। तोतृता=तोतृ धातु  
गति अर्थ में और ज्ञान अर्थ में है। अतः तोतृता का अर्थ ज्ञातृता है। अथवा तोतृ धातु गति अर्थ में है।  
जो धातु गति अर्थ में है वह ज्ञान अर्थ में भी होती है अतः तोतृतः का अर्थ ज्ञातृता होता है। ऊतिः=रक्षा।  
ज्ञातृता की रक्षा तोतृतोतिः। इति=इण् धातु गति अर्थ में है- वा प्राप्ति अर्थ है उसमें 'क्त्यन्तस्य' प्रत्यय  
करने पर तोतृतोतेः इति तोतृतोतीति=ज्ञातृत्व की वृद्धि की रक्षा। तोतृणि धातु घात अर्थ में है- अतः  
ज्ञातृता की वृद्धि की रक्षा के घातक ज्ञानावरणादि कर्म- तोतृतोतीतितोतृतं तेभ्यः-इन ज्ञानावरणादि कर्मों  
से तोतृतोतीति तोतृतः। तोतृता=विस्तार रूप से रक्षा करना। अर्थात् ज्ञान की वृद्धि की रक्षा के घातक  
ज्ञानावरणादि कर्मों से रक्षा करने वाले। तु=विशेष रूप से। अतीतः=पूजा वा ज्ञानादि गुणों को प्राप्त करने  
वाले। अति धातु पूजा अर्थ में है।

तातिः=परिग्रह वा पराधीनता न तातिःअताति परिग्रह वा पराधीनता से रहित-वा स्वाधीनता।  
उस स्वाधीनता की विस्तृता महानता=अतातीतता-उसमें उता=बद्ध है उतिः=रक्षा जिसकी उसको

अतातिततोतोति=कहते हैं उसको सम्बोधन, अतातिततोतोते=हे परिग्रह की पराधीनता से रहित प्रभो।

ततोततः= तत=विशाल। उतं=बंधे हुए, ततोतं=अनादिकाल से घनरूप से बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्म-तत् उन कर्मों का, तस्यति=घात करता है उसको ततोततः! उसको सम्बोधन ततोततः=हे ज्ञानावरणादि कर्मों के घातक प्रभो! तेरी ततता-विशालता है।

भगवन्! आपने ज्ञानगुण की वृद्धि की प्राप्ति के घातक या बाधक ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है- ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेष गुणों को प्राप्त किया है। तथा आप परिग्रहरहित हैं, स्वतंत्र हैं, परिग्रह की पराधीनता से रहित हैं। इसलिए आप पूज्य हैं और सुरक्षित हैं। एवं आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के अनादिकालीन विस्तृत सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है। इसलिए विशालता, प्रभुता स्पष्ट है अर्थात् आप तीनों लोकों के स्वामी हैं।

इस श्लोक के प्रथम चरण में जो अक्षर हैं वे ही सब अक्षर आगे के तीन चरणों में जहाँ-तहाँ व्यवस्थित हैं, अन्य अक्षर नहीं हैं। अतः इस श्लोक का नाम 'प्रथमपादोद्भूतपश्चाद्धैकाक्षर' विरचित श्लोक है।

इस श्लोक की रचना मात्र 'तकार' व्यञ्जन अक्षर से उत्पन्न है अतः यहाँ एक व्यञ्जन चित्र अलंकार है।

(एकाक्षरविरचितैकैकपादः श्लोकः<sup>१</sup>)

येयायायाययेयाय ! नानानूनाननानन !।

ममाममाममामामिताततीतिततीतितः ॥१४ ॥

येयेति- येयः प्राप्यः अयः पुण्यम् यैः ते येयायाः। आयः प्राप्तः अयः सुखं येषां ते आयायाः, येयायाश्च आयायाश्च येयायायायाः तैः येयः प्राप्यः अयः मार्गो यस्यासौ येयायायाययेयायः तस्य सम्बोधनं हे येयायायाययेयाय। नाना अनेकं, अनूनं सम्पूर्णं, नाना च अनूनं च नानानूने। आननं मुखकमलम्, अननं केवलज्ञानम्, आननं च अनूनं च आननानने। नानानूने आननानने यस्यासौ नानानूनाननाननः तस्य सम्बोधनं हे नानानूनाननानन। मम अस्मदः प्रयोगः। ममः मोहः दृश्यते च लोके प्रयोगः कामः क्रोधः ममत्वमिति। न विद्यते ममो यस्यासौ अममः तस्य सम्बोधनं हे अमम। आमो व्याधिस्तम्। आम क्रियापदम्। आम रोगे इत्यस्य धोः रूपम्, आमं आम। न मिता अमिता अपरिमिता। आततिः महत्त्वं। अमिता आततिर्यासां ताः अमिताततयः, ईतयः व्याधयः, अमिताततयश्च ताः ईतयश्च अमिताततीतयः, तासां ततिः संहतिः अमिताततीतिततिः। इतिः गमनं प्रसरः। अमिताततीतिततेः इतिः

१. इस श्लोक का प्रत्येक पाद एक-एक व्यञ्जन अक्षर से बना है।

अमिताततीतिततीतिः । तां तस्यतीति अमिताततीतिततीतिताः । तस्य सम्बोधनं हे अमिताततीतिततीतिः । किमुक्तं भवति—हे एवंगुणविशिष्ट मम आमं रोगं आम विनाशय ॥१४॥

अन्वय - येयायायाययेयाय ! नानानूनाननानन ! अमम ! अमिताततीतिततीतिः ! मम आमं आम ॥१४॥

अन्वयार्थ - येयायायाययेयाय = महान् पुण्यात्मा तथा पुण्यबंध के सम्मुख सुखी (निराकुल) जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है- मार्ग जिसका ऐसे हे जिनेश्वर प्रभो ! नानानूनाननानन=अनेक परिपूर्ण मुख और केवलज्ञान जिसका अर्थात् जिनके परिपूर्ण (सर्वांगसुन्दर) चारमुख तथा परिपूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) है उनका सम्बोधन हे परिपूर्ण चार मुख और केवलज्ञान के धारी ! अमम=हे ममकार अहंकार से रहित ! अमिताततीतिततीतिः अपरिमित महान् व्याधियों का नाश करने वाले भगवन् ! मम=मेरे । आमं=शारीरिक, मानसिक वा जन्म, मरण रूप रोगों को । आम=नष्ट करो ।

शब्दार्थ - येय=प्राप्त किया है- अय=सातिशय पुण्य को जिन्होंने वे 'येयाय' कहलाते हैं । आय=प्राप्त है । अयः=सुख जिनको वे 'आयाय' कहलाते हैं । "येयाय" और "आयाय" इन शब्दों का समास हुआ येयायायाय/उन येयायायाय के द्वारा 'येय' प्राप्त करने योग्य है । अयः=मार्ग जिसका- वह येयायायाययेयाय । वीतराग प्रभु येयायायाययेयाय कहलाते हैं, उनका सम्बोधन हे हे येयायायाययेयाय !

नाना=अनेक । अनून=परिपूर्ण है । आनन=मुख । अननं=केवलज्ञान जिसके, उसका सम्बोधन नानानूनाननानन !

मम= मोह रागद्वेषादि विकार भाव, अहंकार ममकार । 'अ' नहीं है ममकार जिसके वह 'अमम' सम्बोधन में हे अमम !

अमिता=अपरिमित । आततिः=महान् । ईतयः=व्याधयः, अमिताततीतयः=उनकी 'ततिः' समूह । अमिताततीति उनका, इति=गमन वा प्रसार-फैलाव । वह अमिताततीतिततीतिः उन अपरिमित, महान्, सांसारिक व्याधि समूह के प्रसार का, तः=घात करने वाले अमिताततीतिततीतिः 'सम्बोधन' अमिताततीतिततीतिः=संसार सम्बन्धी अपरिमित महान् व्याधियों के समूह के प्रसार का नाश करने वाले हे प्रभो । मेरे जन्म-मरण-बुढ़ापे के महान् रोग को नष्ट करो, दूर करो ।

भावार्थ - समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि वीतराग प्रभु के द्वारा कथित मोक्षमार्ग उन्हीं जीवों को प्राप्त हो सकता है- अर्थात् वही मानव इस वीतराग मार्ग को स्वीकार कर सकता है- जो पुण्यबन्ध के सम्मुख है, अथवा जिसने पूर्व में पुण्यबंध कर लिया है ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रोक्त धर्म के स्वरूप को सुनना, ग्रहण करना देशना लब्धि है। वह देशना लब्धि उसी को प्राप्त होती है जिसको क्षयोपशम लब्धि और विशुद्धि लब्धि प्राप्त हो चुकी हैं।

क्षयोपशम लब्धि का अर्थ है- अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि और विशुद्धि लब्धि का अर्थ है- शुभ कर्मों के अनुभाग की वृद्धि। उन्ही अर्थ को भास्कराचार्य ने दो शब्दों से सूचित किया है। येयायाः आयायाः=येयायाः=अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि और “आयायाः” से शुभ कर्मों के अनुभाग की वृद्धि। मार्ग को स्वीकार का अर्थ है देशना लब्धि। इस मोक्षमार्ग को वही स्वीकार करता है जो पुण्य के सम्मुख और पुण्य को प्राप्त हो।

समवसरण में स्थित भगवान के एक मुख होते हुए भी परिपूर्ण चार मुख दृष्टिगोचर होते हैं तथा भगवान परिपूर्ण केवलज्ञान के धारी हैं। अर्थात् सर्वज्ञ भगवान त्रिलोक एवं त्रिकालगोचर सर्व पदार्थों को एक साथ जानते-देखते हैं।

यद्यपि भगवान ममता मोह परिणामों से रहित हैं तथापि संसारी प्राणियों की संसार सम्बन्धी शारीरिक मानसिक आदि अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। यद्यपि भगवान वीतराग हैं, कुछ करते नहीं हैं- परन्तु उनके नामोच्चारण से सारे रोग, शोक, आधि, व्याधि सब दूर हो जाते हैं- अतः उपचार से कहा जाता है कि भगवान् आधिव्याधिनाशक हैं। समन्तभद्राचार्य कहते हैं- हे सर्व प्राणियों के व्याधिहर्ता प्रभो ! मेरे भी जन्म, जरा, मरण रूप रोग को नष्ट करो ॥१४॥

इस श्लोक का प्रत्येक पाद एक-एक व्यञ्जन अक्षर से रचित है अतः इस श्लोक को एकाक्षर विरचित एकपाद कहते हैं।

(पादाभ्याससर्वपादान्तयमकः, युग्मकयमकः)

गायतो महिमायते, गा यतो महिमाय ते ।

पद्मया स हि तायते पद्मयासहितायते ॥१५॥

गायतो मेति- यादृग्भूतः प्रथमः पादः तादृग्भूतो द्वितीयोऽपि । यादृग्भूतस्तृतीयः तादृशश्चतुर्थोऽपि अयते इति सर्वपादेषु समानं यतः अतो भवति पादाभ्याससर्वपादान्तयमकः ।

गायतः स्तुतिं कुर्वतः । कै गै रै शब्दे इत्यस्य धोः शत्रन्तस्य प्रयोगः । महिमा माहात्म्यम् । अयते गच्छति । गाः वाणीः, गो इत्यस्य शसन्तस्य रूपम् । यतः यस्मात् । महिमानं अयते महिम्नायते स्म वा महिमायः तस्य सम्बोधनं हे महिमाय । ते तव । पद् पादः । दृश्यते च पच्छब्दस्य लोके प्रयोगः गौः पदा न स्पृष्टव्या । मया अस्मदः भान्तस्य प्रयोगः । सः तदः वान्तस्य रूपम् । हि निपातोऽयं स्फुटार्थे । तायते



विस्तार्यते। तस्य पादस्य गुणाः विस्तार्यन्ते तेषां विस्तारे सति पादस्यापि विस्तारः कृतः। गुणगुणिनोरभेदः। पद्मया लक्ष्म्या सहिता आयतिः शरीरायामः यस्यासौ पद्मयासहितायतिः गमकत्वात्सविधिः। यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्। यथायं गुरुशब्दोन्यमपेक्षते एवं सहित शब्दोपि। अथवा पद्मेषु यातीति पद्मयाः। सहितेन वर्तत इति सहिता। आयतिः आज्ञा। सहिता आयतिर्यस्यासौ सहितायतिः पद्मयाश्चासौ सहितायतिश्च पद्मयासहितायतिः। तस्य सम्बोधनं हे पद्मयासहितायते। किमुक्तं भवति—हे महिमाय पद्मया सहितायते ते पदं गायतः महिमा<sup>१</sup> अयते गाः यतः ततो मया स हि पद् तायते विस्तार्यते स्तूयते इत्यर्थः ॥१५॥

**अन्वय** — महिमाय ! पद्मया सहितायते। हि ते महिमा गायतः गा महिमायते। यतः मया सः ते पदं तायते।

**अन्वयार्थ** — महिमाय=हे महिमा को प्राप्त। पद्मयासहितायते=लक्ष्मी से सुशोभित अनुपम शरीर का सौन्दर्य जिसका। सम्बोधन, हे लक्ष्मी से शोभित अनुपम शरीर की सुन्दरता के धारक प्रभो ! अथवा-कमलों पर विहार करने वाले तथा हितकारी आज्ञा का उपदेश देने वाले-प्रभो। ते=आपका। महिमा=माहात्म्य का। गायतः=गुणगान करने वाली की। गा=वाणी। महिमायते=महिमा को प्राप्त होती है। यस्मात्=इसलिये। मया=मेरे द्वारा। स=वह। ते=आपके। पद=चरण। तायते=विस्तृत किये जाते हैं। अर्थात् तेरे चरणों का मैं गुणगान करता हूँ।

महिमा को अयते=प्राप्त होता है उसे 'महिमायः' कहते हैं। सम्बोधन में 'महिमाय' शब्द की व्युत्पत्ति होती है।

पद्मया=लक्ष्मी। सहिता=सहित। आयतिः=शरीर का आयाम। वह पद्मयासहितायतिः लक्ष्मी से शोभित शरीर के धारक। सम्बोधन में पद्मयासहितायते। अथवा- पद्मयाय=पद्मों (कमलों) पर गमन करने वाले को 'पद्मयाय' कहते हैं। सहिता=हितसहित (हितकारी) आयतिः=आज्ञा जिसकी होती है उसे "सहितायतिः" कहते हैं। अतः कमलों पर विहार और हितकारी आज्ञा जिसकी होती है वह "पद्मयासहितायतिः" कहलाते हैं, उनका सम्बोधन "पद्मयासहितायते"। संस्कृत में चरण स्थान में 'पद' और 'पाद' दोनों शब्दों का प्रयोग होता है।

**भावार्थ** — हे स्वयं माहात्म्य को प्राप्त, लक्ष्मी से शोभित अनुपम सौन्दर्ययुक्त शरीर के धारक, वा कमलों पर विहार करने वाले तथा भव्य जीवों को हितकारी आज्ञा (उपदेश) देने वाले भगवन् ! जो आपका गुणगान करता है- स्तुति करता है, उसकी वाणी महत्त्व को प्राप्त होती है, अनेक अतिशयों से

१. महिमा गाः अयते इत्यनेन महिम्नः स्तुतिविषयत्वमुक्तम्।

युक्त होती है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के चरणारविन्द की स्तुति करने से मानव के वचनों में वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे वह सर्वोपकारी उपदेश देने में समर्थ होता है वा दिव्यध्वनि का स्वामी बनता है- अतः हे भगवन्! मैं आपके चरण-कमलों की स्तुति करता हूँ। आपके चरणों की स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ॥१५॥

इस श्लोक में, जो अक्षर जिस प्रकार प्रथम चरण में स्थित हैं, वैसे द्वितीय चरण में हैं तथा जैसे तृतीय चरण में हैं वैसे ही चतुर्थ चरण में हैं- अतः इस श्लोक की रचना को “पादाभ्याससर्वपादान्त यमक” वा ‘युग्मक यमक’ कहते हैं।

## 卐 अजित-जिन-स्तुतिः 卐

(श्लोकयमकः)

सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः ।

सतां तमो हरन् जयन् महो दयापराजितः ॥१६॥

सदेति- सत् शोभनम्। अक्षर अनश्वर। न विद्यते जरा वृद्धत्वं यस्यासावजरः तस्य सम्बोधनं हे अजर। अजित द्वितीयतीर्थकरस्य नाम। प्रभो स्वामिन्। दयस्व-दय दाने इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम्। वर्द्धनः नन्दनः त्वं यतः। सतां भव्यलोकानाम्। तमः अज्ञानम्। हरन् नाशयन्। जयन् जयं कुर्वन् इत्यर्थः। महः तेजः केवलज्ञानम्, दयस्व इत्यनेन सम्बन्धः। दयापर दयाप्रधान। न जितः अजितः। किमुक्तं भवति- अन्ये सर्वे जिताः त्वमजितः अतः हे अजित भट्टारक महः सद्ज्ञानं दयस्व॥१६॥

अन्वय - अक्षर! अजर! अजित! दयापर! प्रभो! वर्द्धनः अजितः सतां तमोहरन् जयन् सत् महः दयस्व।

अन्वयार्थ - अक्षर! हे अनश्वर। अजर=हे जरा रहित। अजित=हे द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ भगवान। प्रभो=हे प्रभो। दयापर=हे दयाप्रधान। सतां=सज्जन भव्य जीवों के तमः=अज्ञान अन्धकार को। हरन्=हरण (नाश) करने वाले। अजितः=दूसरे हरिहरादिक के द्वारा नहीं जीते जाने वाले, मोहनीय आदि कर्मों को। जयन्=जीतने वाले। वर्द्धनः=ज्ञानादि गुणों से वृद्धि को प्राप्त। भगवान्! मेरे लिए। सत्=समीचीन। महः=ज्ञान को। दयस्व=प्रदान करो।

भावार्थ - अजितनाथ भगवान की स्तुति करते हुए समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि- भगवन्! आप अविनाशी हैं, वृद्धत्व रहित हैं, हे अजितनाथ भगवान्! आप क्षमा आदि गुणों से वर्धमान हैं, सज्जन पुरुषों के अज्ञान अन्धकार के नाशक हैं, अन्य संसारी प्राणियों के द्वारा नहीं जीते गये ऐसे क्रोध, मान,

माया, लोभ आदि विकार भावों को जीतने वाले हैं। हे दयालु प्रभो! वह दिव्य तेजस्वी केवलज्ञान मुझ को प्रदान करो जिससे मैं आपके समान परिपूर्ण ज्ञानी, कृतकृत्य हो जाऊँ; परम पूज्य उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाऊँ ॥१६॥

**सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः ।**

**स तान्तमोह रंजयन् महोदयापराजितः ॥१७॥**

सदक्षेति - सह दक्षैर्विचक्षणैः सह वर्तन्त इति सदक्षाः। सदक्षाश्च ते राजानश्च सदक्षराजानः तैः राजितः शोभितः सदक्षराजराजितः तस्य सम्बोधनं हे सदक्षराजराजित। प्रभायाः विज्ञानस्य उदयो वृद्धिर्यस्यासौ प्रभोदयस्तस्य सम्बोधनं हे प्रभोदय। स्वेषां स्वानां वा वर्द्धनः नन्दनः स्ववर्द्धनस्त्वम्। अथवा स्ववर्द्ध नः अस्माकम्। स एवं विशिष्टस्त्वं। तान्तः विनष्टः मोहः मोहनीयकर्म यस्यासौ तान्तमोहः तस्य सम्बोधनं भो तान्तमोह। रंजयन् अनुरागं कुर्वन् इत्यर्थः। महान् पृथुः पूज्यः उदयः उद्भूतिर्येषां ते महोदयाः देवेन्द्रचक्रेश्वरादयः। अपरान् सन्तः शत्रून् मोहान् आसमन्तात् जयंतीति कर्त्तरि क्तिप् अपराजितः। महोदयाश्च ते अपराजितश्च ते महोदयापराजितः। अथवा द्वन्द्वः समासः तान् महोदयापराजितः कर्मणि इपो बहुत्वम्। समुदायार्थः— हे अजित भट्टारक सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः त्वं सः तान्तमोह रंजयन् महोदयापराजितः महः दयस्व ॥१७॥

अन्वय - सदक्षराजराजित! प्रभोदय! तान्तमोह! महोदयापराजितः रंजयन् स नः स्ववर्द्ध। अथवा स्ववर्द्धनः स महः दयस्व।

अन्वयार्थ - सदक्षराजराजित! हे दक्ष समर्थ राजाओं के साथ शोभित! प्रभोदय=हे ज्ञान की वृद्धि (केवलज्ञान) से युक्त। तान्तमोह=नष्ट मोह विकार जिनका अर्थात् मोह विकार से रहित। स्ववर्द्धनः=आत्मीय जनों की वृद्धि करने वाले। महोदयापराजितः=महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष और काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले मुनिजनों को। रंजयन्=आनन्दित करने वाले। सः=वह अजितनाथ भगवान। महः=केवलज्ञान। दयस्व=प्रदान करो।

शब्दार्थ - स-सहित, दक्ष=चतुर वा ज्ञानी, राजा=राजा लोगों से। राजित=शोभित। दक्ष राजाओं के साथ शोभित। अतः "सदक्षराजराजितः संबोधन में सदक्षराजराजित! प्रभा=ज्ञान, उसकी उदय-वृद्धि=सम्बोधन में प्रभोदय! स्ववर्द्धनः=स्वकीय या आत्मीय जनों की वृद्धि करने वाले। अथवा सु=सुष्ठु। नः=हमारी, अव=रक्षा करो। ऋद्ध=वृद्धि करो। तान्त=नष्ट कर दिया है। मोह=मोहनीय कर्म को जिन्होंने वह तान्तमोहः=सम्बोधन तान्तमोह।

महोदयः=महान् पूज्य। उदयः=उद्भूतिः उत्पत्ति जिनकी वे महोदय अर्थात् इन्द्र, चक्रवर्ती आदि। अपरान् दूसरे आंतरिक काम, क्रोधादि शत्रुओं को। आ समन्तात् जयति इति अपराजितः

चारों तरफ से जीतने वाले। अर्थात् मुनिराज इति महोदयापराजितः। महोदय=इन्द्र चक्रवर्ती आदि तथा अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले मुनिराजों को। रंजयन्=अनुरंजित करने वाले। अजितनाथ भगवान्।

भावार्थ - समर्थशाली अथवा ज्ञानी राजाओं से शोभित ! केवलज्ञान के धनी ! मोहनीय कर्म के नाशक ! हे अजितनाथ भगवान् ! आत्मीय जनों को (भक्तजनों को) उन्नति स्थान पर पहुँचाने वाले और महान् ऐश्वर्यशाली चक्रवर्ती इन्द्र धरणेन्द्र तथा आन्तरिक काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतने वाले गणधरादिकों को अनुरंजित करने वाले भगवन् ! मुझे वह ज्ञान प्रदान करो, जिसके प्रसाद से मैं भी आपके समान उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाऊँ। अथवा ऐसे महान् अजितनाथ भगवान् हमारी भली प्रकार रक्षा करो। मेरी वृद्धि करो।

‘इस श्लोक में ‘महोदयस्व’ पूर्व श्लोक के साथ कर्मक्रिया का सम्बन्ध होने से ‘मुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करो’ यह अर्थ होता है और ‘स्ववर्द्धनः’ इसका परिच्छेद सु, अव, ऋद्ध, नः ऋद्ध=हे ऋद्धिसम्पन्न अजितनाथ भगवान् ! नः=हमारी। सु=भलीप्रकार। अव=रक्षा करो। यह अर्थ होता है।

## 卐 शम्भव-जिन-स्तुतिः 卐

(अर्द्धभ्रमः)

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।

नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीभुवि यस्य च ॥१८॥

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयादरुचा ।

स्वया वामेश पाया मा नतमेकाचर्यं शंभव ॥१९॥ (युग्मं)

नचेन इति - न च प्रतिषेधवचनम्। इनः स्वामी। न च प्रतिषेधे। रागः आदि येषां ते रागादयः तेषां चेष्टा कायव्यापारः रागादिचेष्टा। वा समुच्चये। यस्य देवस्य तव। पापं गच्छतीति पापगा। चेष्टा च पापगा यस्य नचास्ति। नो न च। वामैः क्षुद्रैः मिथ्यादृष्टिभिः। श्रीयते आश्रीयते। अपारा अगाधा अर्थनिचिता। यस्य ते। नयस्य आगमस्य त्वदभिप्रायस्य श्रीः लक्ष्मीः नयश्रीः। भुवि लोके। हे शंभव एवं विशिष्टस्त्वं मा पायाः। उत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ॥१८॥

पूतस्वेति - पूतः पवित्रः सु सुष्ठु अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम्। तन्वा शरीरेण आयातं आगतम्। भयात् संसारभीतेः। रुचा

१. ‘महोदयस्व’ इति पूर्वश्लोकगतकर्मक्रियाभ्यां सम्बन्धः। अथवा ‘स्ववर्द्धनः’ इत्यस्य ‘सु+अव+ऋद्ध+नः’ इतिच्छेदं विधाय ‘हे ऋद्धसम्पन्न ! नोऽस्मान्; स्ववसुष्ठु रक्षे’ - त्यर्थकरणे न पूर्वेण श्लोकेन सहान्वय-योजनप्रयासः करणीयः।

तेजसा । स्वया आत्मीयया आत्मीयतेजसेत्यर्थः । वामाः प्रधानाः प्रधानेपि वामशब्दः प्रवर्तते । वामानामीशः स्वामी वामेशः तस्य सम्बोधनं हे वामेश । पायाः रक्ष । पा रक्षणे इत्यस्य धोः आशीर्लिङ्गतस्य प्रयोगः । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । नतं प्रणतम् । एकैः प्रधानैः अर्च्यः पूज्यः एकार्च्यः, अथवा एकश्चासावर्च्यश्च एकार्च्यः तस्य सम्बोधनं हे एकार्च्य ! शम्भवः तृतीयतीर्थकरभट्टारकः तस्य सम्बोधनं हे शम्भव ! किमुक्तं भवति—यस्य न इनः रागादिचेष्टा च पापगा यस्य नास्ति यस्य नाश्रीयते वामैः नयश्रीः हे शम्भव ! स त्वं स्वतेजसा मा आगतं शोभनाचारं नतं पायाः एतदुक्तं भवति ॥१९॥

**अन्वय -** यस्य पापगा रागादिचेष्टा न च यस्य अपारा नयश्री भुवि वामैः नो श्रीयते यस्य न च इनः । वामेश एकार्च्य, शंभव भयात्-पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं नतं मा स्वया रुचा पाया ।

**अन्वयार्थ -** यस्य=जिसके । इनः=स्वामी । न च=नहीं हैं । च=और । पापगा=पापबन्धकारक । रागादिचेष्टा=रागादि रूप मन वचन काय की चेष्टा । न=नहीं है । च=और । यस्य=जिसकी । अपारा=अगाध अर्थ से निश्चित । नयश्रीः=नयश्रीः=नयश्री । भुवि=पृथ्वीपर । वामैः=क्षुद्र मिथ्यादृष्टियों के द्वारा । न च=नहीं । श्रीयते=आश्रित नहीं है अर्थात् जिनदेव की नयविवक्षा को मिथ्यादृष्टि नहीं जान सकते ।

वामेश ! हे प्रधान चक्रवर्ती आदि के स्वामी !

एकार्च्य ! = हे प्रधानों के द्वारा पूज्य ! शंभव ! = हे संभवनाथ भगवान (तृतीयतीर्थकर प्रभो)

भयात्=भय से, संसार के दुःखों से भयभीत होकर ।

पूतस्वनवमाचारं=पवित्र समीचीन गणधरादि के द्वारा अनुष्ठित है पापक्रियानिवृत्तिरूप है आचार जिसका ।

तन्वायातं=शरीर सहित आये हुए ।

नतं=नतमस्तक हुए । मा=मुझको । स्वया=स्वकीय । रुचा=तेज (ज्ञान) के द्वारा ।

पायाः=रक्षा करो ।

**शब्दार्थ -** पूत का अर्थ पवित्र है । सु=समीचीन, अनवमः निकृष्ट प्रतिकृष्ट, अधम अर्थ का वाचक अवमः होता है । न अवमः=अनवमः । निर्दोष । आचारः= चारित्र है जिसका उसको पूतस्वनवमाचार कहते हैं । इस शब्द से जाना जाता है कि जिस समय समन्तभद्राचार्य ने स्तुतिविद्या की रचना की थी, उस समय वे दिगम्बर मुनिमुद्रा में निर्दोष चारित्र का पालन कर रहे थे ।

तन्वायातं = तनु शरीर भी होता है और तनु का अर्थ कृश भी होता है । तनु-शरीर सहित आया

हूँ। इससे यह ज्ञात होता है कि आचार्यवर्य स्वयं प्रतिमा के सम्मुख बैठकर स्तुति की रचना कर रहे थे, केवल मन से नहीं। शेष शब्दार्थ सरल हैं।

**भावार्थ -** वीतराग प्रभु की क्रियायें रागद्वेष रूप नहीं होती हैं और न वे किसी का भला-बुरा करते हैं। परन्तु वीतराग प्रभु की भक्ति से शुभकर्मों का अनुभाग अधिक पड़ता है तथा अशुभ कर्मों का अनुभाग घट जाता है, निर्बल पड़ जाता है, अन्तराय कर्म बाधक न रहकर इष्ट कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। वीतराग प्रभु के पापबन्धकारक रागादि रूप मन, वचन, काय की चेष्टा नहीं होती।

जिनके अगाध अर्थ से खचित नयश्री को भूतल पर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित नयविवक्षा को जान नहीं सकते। ऐसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के नायक, अद्वितीय पूज्य पुरुष, तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथ भगवान आप सबके स्वामी हैं, रक्षक हैं, अतः अपने दिव्य तेज के द्वारा मेरी भी रक्षा करो।

मैं पवित्र चारित्र का धारक हूँ, उत्कृष्ट हूँ, संसार के दुःखों से भयभीत होकर शरीर के साथ आपकी शरण में आया हूँ। आपके चरणों में नतमस्तक हूँ। हे देवाधिदेव! मेरा दुःख दूर करो। क्योंकि आप इस कार्य को करने में समर्थ हैं। यद्यपि आप रागद्वेष रहित हैं, कुछ भी करने वाले नहीं हैं, तथापि आपकी शरण में पहुँचने से रक्षाकार्य स्वतः ही बिना आपकी इच्छा के स्वयमेव बन जाता है॥१८-१९॥

यहाँ अर्द्धभ्रम अलंकार है—

यह अर्द्धभ्रम और गूढपश्चार्ध नामक चित्रालंकार है। इसका विवरण इस प्रकार है—

श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखिए। चारों चरणों के प्रथम और अन्तिम चार अक्षरों को मिलाने से श्लोक का पहला पाद बन जाता है।

उन्हीं चारों चरणों के द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलाने से द्वितीय पाद बन जाता है। इसी तरह तृतीय और चतुर्थ पाद भी सिद्ध कर लेने चाहिए। इस न्याय से यह श्लोक अर्द्धभ्रम कहलाता है।

इसका चित्र इस प्रकार है—

न	चे	नो	न	च	रा	गा	दि
चे	ष्टा	वा	य	स्य	पा	प	गा
नो	वा	मैः	श्री	थ	ते	पा	रा
न	य	श्री	र्भु	वि	य	स्य	च

(अर्द्धभ्रमः)

धाम स्वयममेयात्मा मतयादध्रया श्रिया ।

स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥२०॥

धामेति - धाम अवस्थानं तेजो वा । शोभनः अयः पुण्यं सुखं वा यस्मिन् तत् स्वयम् । अथवा स्वयं आत्मना । अमेयः अपरिमेयः आत्मा ज्ञानं स्वभावो वा यस्यासौ अमेयात्मा । मतया अभिमतया । अदध्रया । महत्या । श्रिया लक्ष्या । स्वया आत्मीयया । हे जिन परमेश्वर । विधेयाः कुरु । वि पूर्वः धाम करोत्यर्थे वर्तते । मे मम । यत् अनन्तं न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य तदनन्तं धाम । विभ्रमः मोहः न विद्यते विभ्रमो यस्यासावविभ्रमः । तस्य सम्बोधनं हे अविभ्रम । एतदुक्तं भवति-हे जिन अविभ्रम स्वकीयया श्रिया धाम अवस्थानं यदनन्तं मे मम तत् विधेयाः ॥२०॥

अन्वय - जिन ! अविभ्रम ! स्वया, मतया, अदध्रया श्रिया अमेयात्मा मे यत् अनन्तं स्वयं धाम विधेया ॥२०॥

अन्वयार्थ - जिन ! = हे जिनेश्वर । अविभ्रम ! = हे निर्मोही भगवन् आप । स्वया=अपनी । मतया=अभिमत । अदध्रया=विशाल । श्रिया=लक्ष्मी से । अमेयात्मा=अनन्तज्ञानी हो । अथवा आपका वास्तविक स्वरूप छद्मस्थ जीवों के अगोचर हैं ।

जिन ! हे जिनेश्वर । यत्=जो । अनन्तं=अन्त रहित है वह स्वयं=प्रशंसनीय सुख का । धाम=स्थान वा तेजस्वी ज्ञान । मे=मेरे लिए । विधेया=प्रदान करो ॥२०॥

शब्दार्थ - स्वयं=सु-सुष्ठु-शोभनीय । अयः=पुण्य वा सुख जिस स्थान में है वह स्वयं कहलाता है । अदध्रं बहुलं बहुः इत्यमरः=अदध्र शब्द का विशाल या बहुल अर्थ है, ऐसा अमरकोश में लिखा है । शेष शब्दों का अर्थ सरल है ।

भावार्थ - समन्तभद्राचार्य ने भक्ति में विभोर होकर प्रभु से प्रार्थना की है कि हे निर्मोही वीतराग जिनेश्वर ! आप स्वकीय अमित विशाल लक्ष्मी से अमेयात्मा हैं, अनन्त ज्ञानी हैं अतः हे संभवनाथ भगवान् ! मेरे लिए भी उत्तम पुण्य वा सुख वाला वह धाम (स्थान वा तेज ज्ञान) प्रदान करो, जिसका कभी अन्त न हो ॥२०॥

यह श्लोक भी अर्द्धभ्रम चित्रालंकार से युक्त है जिसका कथन पूर्व में किया है ॥२०॥

## ॐ अभिनन्दन-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमः)

अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।

महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥२१॥

अतम इति - तमः अज्ञानं न विद्यते तमो यस्यासावतमाः तस्य सम्बोधन हे अतमः । स्वतः आत्मनः नताः प्रणताः स्वस्मिन् नताः वा स्वनताः । आरक्षणशीलः आरक्षी । स्वनतानामारक्षी स्वनतारक्षी । तमो मोहं च हन्ति जहातीति तमोहा त्वं वन्दनेश्वरः वन्दनायाः ईश्वरः स्वामी वन्दनेश्वरः । महती चासौ श्रीश्च महाश्रीः महाश्रीः विद्यते यस्यासौ महाश्रीमान् । न जायत इत्यजः । नेता नायकः । स्वव रक्ष सुपूर्वस्य अब रक्षणे इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम् । मां अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अभिनन्दनः चतुर्थजिनेश्वरः तस्य सम्बोधनं हे अभिनन्दन । किमुक्तं भवति-हे अभिनन्दन ! अतमः ! स्वनतारक्षी सन् त्वं तमोहा सन् इत्येवमादिः सन् मां अभिरक्ष ॥२१॥

अन्वय - अतमः ! अभिनन्दन ! स्वनतारक्षी, तमोहा, वन्दनेश्वरः महाश्रीमान्, अजः, नेता, मां स्वव ॥२१॥

अन्वयार्थ - अतमः ! = हे अज्ञान अन्धकार से रहित ! अभिनन्दन ! = अभिनन्दन भगवान् । स्वनतारक्षी = स्व को नमस्कार करने वाले की रक्षा करने वाले । तमोहा = मोहरूपी अन्धकार के नाशक । वन्दनेश्वरः = वन्दना के ईश्वर । महाश्रीमान् = महान् अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से युक्त अजः = जन्म, मरण से रहित । नेता = मोक्षमार्ग के उपदेष्टा भगवान् । मां = मेरी । स्वव = रक्षा करो ।

भावार्थ - हे अज्ञान अन्धकार के नाशक ! अभिनन्दनप्रभो ! आप भक्तों के रक्षक हैं, रागद्वेष मोहादि विकार भावरूप अन्धकार के घातक हैं । हे प्रभो ! आप निर्मोह हैं, परम समरसीभाव के धनी हैं, जो भव्य प्राणी आपके चरणों में नतमस्तक है, आपके चरणारविन्द में अनुरंजित है उसके आप रक्षक हैं, वन्दना के ईश्वर हैं- अर्थात् सब के द्वारा वन्दनीय हैं । अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अन्तरंग लक्ष्मी तथा समवसरण आठ प्रातिहार्य आदि बहिरंग लक्ष्मी से सम्पन्न हैं, भावी भवग्रहण रूप जन्म से रहित होने से आप अज हैं । मोक्षमार्ग के उपदेशक होने से नेता हैं, अतः प्रभुवर मेरी रक्षा करो । मुझे संसारदुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचा दो ॥२१॥

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनन्तद्धर्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।

नन्दनर्द्धिरनम्रो, न नम्रो नष्टोऽभिनन्दन ॥२२॥



नन्दनन्तेति - चक्रं भूमौ व्यालिख्य गर्भे चक्रमध्ये चतसृषु महादिक्षु च एकाक्षरैः समानाक्षरैर्भवितव्यम्। चक्रमध्ये नकारं दत्त्वा, तस्योर्ध्वं बहिर्भागे अरमध्ये 'न्द' न्यस्य तस्याप्यूर्ध्वं महादिशि नकारं संस्थाप्य, नेमिमध्ये दक्षिणदिशि 'न्तर्ध्वं' अक्षरे न्यसनीये। पुनर्महादिशि नकारं संस्थाप्य अरमध्ये 'न्ते' न्यस्य, गर्भे पुनरपि नकारो न्यसनीयः। पुनरपि गर्भे नकारः। अरमध्ये 'न्ते' न्यस्य, महादिशि नकारः। एवं सर्वत्र तस्य संदृष्टिः। सप्ताक्षराणि समानानि गर्भाक्षरेणैवैकेन लभ्यन्ते। अरमध्ये चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते। महादिक्ष्वपि चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते एवमेतानि पञ्चदशाक्षराणि चक्रस्थितसप्तदशाक्षराणि गृहीत्वा श्लोकः सम्पद्यते। एवं सर्वे चक्रश्लोका दृष्टव्याः।

अस्यार्थः कथ्यते—नन्दो वृद्धिः सोस्यास्तीति नन्दी अथवा नन्दनशीलो नन्दी अशुष्यपि शीले णिन् भवति। अनन्ता ऋद्धिः विभूतिर्यस्यासौ अनन्तर्द्धिः। न विद्यते अन्तो विनाशो यस्यासावनन्तः नन्दी चासौ अनन्तर्द्धिश्च नन्दनन्तर्द्धिः सचासावनन्तश्च नन्दनन्तर्द्ध्यनन्तः तस्य सम्बोधनं हे नन्दनन्तर्द्ध्यनन्त। इन स्वामिन्। नन्ता स्तोता। इनः स्वामी, सम्पद्यत इत्यध्याहार्यः। ते तव! हे अभिनन्दन। नन्दना ऋद्धिर्यस्यासौ नन्दनर्द्धिः। न नम्रः अनम्रः। न प्रतिषेधे। किमुक्तं भवति-प्रवृद्धश्रीर्यः पुरुषः स तव अनम्रो अप्रणतः न किन्तु नम्र एव। नम्र प्रणतः यः स नष्टो विनष्टो न। अभिनन्द्य त्वा अभिनन्द्य इत्यध्याहार्यः। किमुक्तं भवति- हे अभिनन्दन ते नन्ता इनः सम्पद्यते कुतः नन्दनर्द्धिः यतः अप्रणतो नास्ति ते अभिनन्द्य च यो नम्र स विनष्टो न यतः ॥२२॥

अन्वय - नन्दनन्तर्द्ध्यनन्त, इन अभिनन्दन! ते नन्ता इनः (स्यात्) नन्दनर्द्धिः ते अनम्रः न अभिनन्द्य। नम्रः नष्टो न।

अन्वयार्थ - नन्दनन्तर्द्ध्यनन्त! = हे समृद्धि-सम्पन्न अनन्त ऋद्धियों से युक्त! इन = हे स्वामिन्। अनन्त! = हे, अविनाशी। अभिनन्दन! = हे अभिनन्दनस्वामी। ते - आपको। नन्ता = नमस्कार करने वाला इनः = स्वामी (परमात्मा) बन जाता है। इसलिए। नन्दनर्द्धिः = महान् ऋद्धिधारी मानव। ते = तेरे प्रति। अनम्रः = अनम्र। न = नहीं हैं। आपको नमस्कार करते हैं। जो तुझको। नम्रः = नमस्कार करता है वह। नष्टो = नष्ट। न = नहीं होता है।

शब्दार्थ - नन्दनशील वा वृद्धि वाली अनन्त ऋद्धियाँ, विभूति, नहीं है अन्त विनाश जिसका वह अनन्त कहलाता है। अन्तरहित ऋद्धि। नन्दनशील अविनाशी ऋद्धि नन्दनन्तर्द्धि। इस प्रकार वृद्धियुक्त अविनाशी विभूतियों की अनन्तता जिसके होती है, वह कहलाता है नन्दनन्तर्द्ध्यनन्तः, उसका संबोधन नन्दनन्तर्द्ध्यनन्त। शेष शब्द सरल हैं।

**भावार्थ -** समृद्धिसम्पन्न, अनन्त ऋद्धियों से युक्त अविनाशी अभिनन्दनभगवन्! जो भव्य प्राणी आपको नमस्कार करते हैं वे आपके समान सब के स्वामी परमात्मा बन जाते हैं।

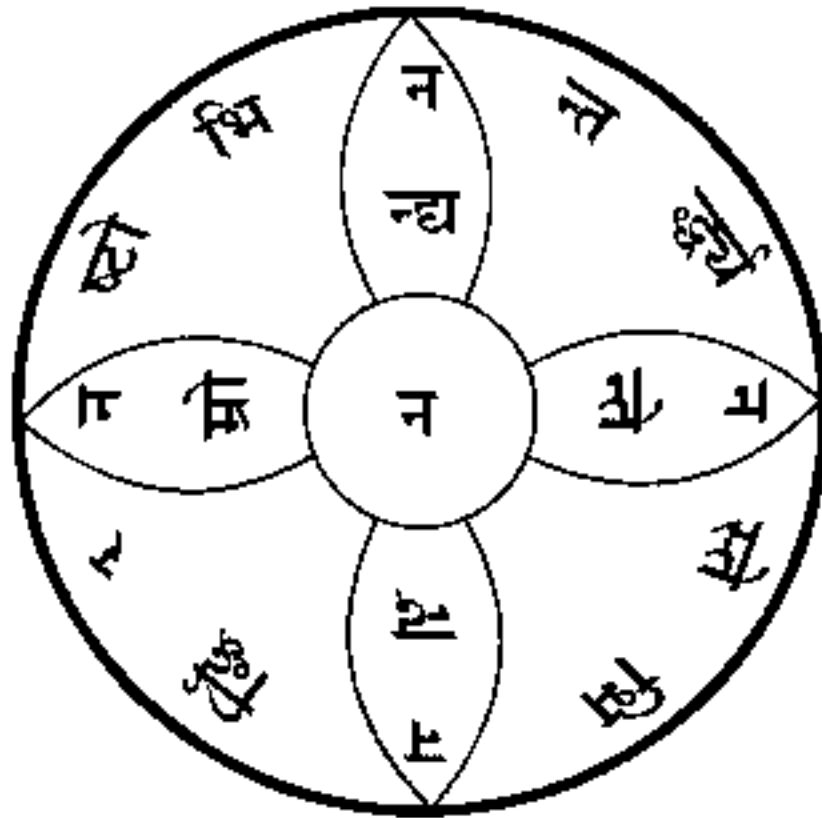
बड़े-बड़े ऋद्धिधारी मुनीश्वर आपके चरणों की सेवा करते हैं, तथा जो आपकी स्तुति, भक्ति, नति करता है वह अवश्य ही अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। उस स्थान से कभी च्युत नहीं होता है।

भगवान की स्तुति करने वाला भगवान के समान बन जाता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह श्लोक एकाक्षर और चतुराक्षर चक्र श्लोक है। इसकी रचना इस प्रकार है-

**गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरश्चक्रश्लोकः**

नन्दनन्तद्धर्यनन्तेन नन्तेनस्तेभिनन्दन ।

नन्दनद्धिरनमो न नमो नष्टोभिनन्द्य न ॥२२॥



एवं २३, २४ श्लोकौ

यह श्लोक के प्रथमाक्षर को गर्भ में रखकर बनाया हुआ चार आरों वाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओं में स्थित चारों आरों के अन्त में भी वही अक्षर पड़ता है। अन्त और उपान्त्य के अक्षर दो-दो बार पढ़े जाते हैं। २३, २४ क्रम के श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनश्रीर्जिन त्वा न नत्वा ऋद्ध्या स्वनन्दि न ।

नन्दिनस्ते विनन्ता न नन्तानऽन्तोभिनन्दन ॥२३॥

नन्दनेति - नन्दना चासौ श्रीश्च नन्दनश्रीः पुरुषो वा । हे जिन ! त्वा युष्मदः इबन्तस्य प्रयोगः । न न नत्वा किन्तु नत्वैव । ऋद्ध्या विभूत्या सह स्वनन्दि, क्रियाविशेषणम् । स्वनन्दि यथा भवति तथा स्वहर्षं यथा भवति । नन्दिनः समृद्धिमतः । ते तव । विनन्ता च विशेषनन्ता । न न नन्ता स्तोता । अनन्तः अविनश्वरः सिद्धः सम्पद्यते यतः । हे अभिनन्दन ! किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन जिन नन्दिनस्ते नन्दनश्रीः ऋद्ध्या सह त्वा न न नत्वा विनन्ता च तव न न यस्मात् नन्ता सर्वोऽपि अनन्तसिद्धः सम्पद्यते ॥२३॥

अन्वय - अभिनन्दन ! जिन ! नन्दनश्रीः त्वा ऋद्ध्या न नत्वा स्वनन्दि न न । नन्दिनः ते विनन्ता, ननन्ता अनन्तः ।

अन्वयार्थ - अभिनन्दन ! = हे अभिनन्दन ! जिन ! भगवान् ! नन्दनश्रीः = वर्द्धनशील लक्ष्मी वाले । त्वा = तुझको । ऋद्ध्या = स्वकीय विभूति के साथ । न नत्वा = अतिशय रूप से नमस्कार करके स्वनन्दि न न = हर्षित नहीं होता है, ऐसा नहीं है अपितु हर्षित होता ही है । तथा नन्दिनः = समृद्धिशाली । ते = तेरे को । विनन्ता = विशिष्ट रूप से नमस्कार करने वाला । ननन्ता = स्तुति करने वाले । अनन्तः = अविनाशी बन जाता है । इसमें दो 'न' कार का जो प्रयोग किया है वह अतिदृढ़ता का सूचक है अर्थात् ऐसा नहीं है ऐसी बात है अपितु ऐसा ही है ।

भावार्थ - हे अभिनन्दन ! जिनेन्द्र भगवान् ! आप अनन्त चतुष्टय रूप महाश्री से सुशोभित हैं । जो समृद्धिशाली पुरुष आनन्दविभोर होकर आपको नमस्कार करता है, अपनी विभूति के साथ आपकी स्तुति करता है, आपकी पूजा करता है भक्ति करता है, वह अवश्य ही जन्ममरण रहित अनन्त सुख वाले अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है, सिद्ध बन जाता है ॥२३॥

इसमें चक्रक अलंकार है जिसका वर्णन पूर्व में किया है ।

(गर्भमहादिशैकाक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वाभिनन्दन ।

नन्दनस्वर नत्वेन नत्वेनः स्यन्न नन्दनः ॥२४॥

नन्दनं त्वेति - नन्दनं वृद्धिकरं । त्वा युष्मदः इबन्तस्य रूपम् । आप्य प्राप्य । नष्टो विनष्टो न । नष्टो विनष्टोऽनत्वा अस्तुत्वा । हे अभिनन्दन । नन्दनः प्रीतिकरः स्वरो वचनं यस्यासौ नन्दनस्वरः

तस्य सम्बोधनं हे नन्दनस्वर । त्वा इत्यध्याहार्यः । त्वा नत्वा स्तुत्वा । इन स्वामिन् । नतु एनः पापम् । स्यन् । विनाशयन् न नन्दनः किन्तु नन्दन एव । द्वौ नजौ प्रकृतमर्थं गमयतः । किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन ! त्वा नन्दनं आप्य न नष्टः यो नष्टः सः अनत्वैव, त्वा नत्वा एनः स्यन् न तु न नन्दनः किन्तु नन्दन एव ॥२४॥

अन्वय — नन्दनस्वर ! अभिनन्दन ! इन ! नन्दनं त्वा आप्य न नष्टः अनत्वा नष्टः । त्वा नत्वा एनः स्यन् न तु न नन्दनः (अपितु नन्दन एव) ।

अन्वयार्थ — नन्दनस्वर ! = हे प्रीतिकर वचन वाले । अभिनन्दन ! = चतुर्थ तीर्थकर अभिनन्दन । इन ! स्वामी, त्वा = तुझको । आप्य = प्राप्तकर । न = नहीं । नष्टः = नष्ट हुआ है । अपितु तुझको । अनत्वा = नमस्कार नहीं करके ही । नष्टः = हुआ है संसार में परिभ्रमण कर रहा है । नत्वा = तेरी स्तुति करने । एनः = पापों को । स्यन् = विनाश कर रहा हुआ ! न नन्दनः = आनन्दित नहीं हुआ ऐसा । न = नहीं है । तु = अपितु आनन्दित हुआ ही है ॥२४॥

अर्थ — हे प्रिय वचन बोलने वाले अभिनन्दन भगवान् ! केवलज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाले आपको प्राप्त कर आपकी चरण-शरण में आकर कोई भी जीव नष्ट नहीं हुआ- संसार समुद्र में नहीं भटका है- अपितु आप को नमस्कार नहीं करके, आपसे विमुख होकर ही नष्ट हुआ है । संसार समुद्र में डूबकर जन्ममरण के दुःखों को भोग रहा है । अर्थात् तेरे चरणों का आश्रय लेने वाला प्राणी अवश्य ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है और जिसने भक्तिभाव में लीन होकर आपको नमस्कार नहीं किया, वह स्वकीय स्वभाव से च्युत होकर संसार में भ्रमण कर रहा है ।

हे भगवन् ! आपको नमस्कार कर भव्य प्राणी पाप कर्मों का नाशकर अवश्य ही ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न हो आनन्दित होता है, परम आत्मीय सुख को प्राप्त होता है ।

भावार्थ — समन्तभद्राचार्य कहते हैं- भगवन् ! जिनका हृदय आपकी भक्ति से ओतप्रोत है, निर्मल है, वे भव्य प्राणी घातिया कर्म रूप दुष्कर्मों का क्षयकर उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, सकल परमात्मा अर्हन्त भगवान बन जाते हैं और अन्त में सर्व कर्मों का क्षयकर निकल परमात्मा रूप सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, परमानन्द को प्राप्त होते हैं ।

जो प्राणी बीतराग देव से विमुख रहते हैं वे स्वस्वभाव से च्युत होकर संसार में जन्म-मरण के दुःखों को भोगते रहते हैं, अनन्त दुःखों के पात्र बनते हैं ।

यह गर्भ महादिश एकाक्षर चक्र श्लोक है । इसका चित्र पूर्व में २२वें श्लोक में दिया है । क्योंकि २२-२३-२४ ये तीनों एक समान अलंकार वाले हैं ।

## 卐 सुमति-जिन-स्तुतिः 卐

(समुद्गकयमकः)

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमते ! हितः ।

देहि नोजयिनः श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥२५॥

देहीति - यादृग्भूतं पूर्वार्द्धं पश्चार्द्धमपि तादृग्भूतमेव समुद्गक इव समुद्गकः ।

देहिनः प्राणिनः । जयिनः जयनशीलस्य । कर्त्तरि ता । श्रेयः श्रेयणीयः । सदा सर्वकालम् । अतः अस्माद्धेतोः हे सुमते । हितः त्वम् । सुमतिरिति पंचमतीर्थङ्करस्य नाम । देहि दुदाञ् दाने इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम् । नः अस्माकम् । न जायते इत्यजः । इन स्वामिन् । श्रेयः सुखम् । स एवं विशिष्टिस्त्वम् । हे दातः दानशील । मतं आगमः ईहितं चेष्टितम् । मतं च ईहितं च मतेहिते शोभने मते हिते यस्यासौ सुमतेहितः । किमुक्तं भवति-यो देहिनः श्रेयः यो वा दानशीलः यो वा सुमतेहितः हे सुमते स त्वं अतः देहि नः श्रेयः ॥२५॥

अन्वय - सुमते ! जयिनः देहिनः श्रेयः अतः सदा हितः । सुमतेहितः अजः इनः दातः ! सः (त्वं) नः श्रेयः देहि ॥

अन्वयार्थ - सुमते ! हे सुमतिनाथ भगवान् । जयिनः=कर्म शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले । देहिनः=प्राणियों के द्वारा । श्रेयः=उपासना करने योग्य हो । अतः=क्योंकि आप उनके सदा=निरन्तर । हितः=हित (कल्याण) करने वाले हो । सुमतेहितः=सुष्ठु-समीचीन है, उत्तम है आगम और मन वचन काय की चेष्टा जिसकी ऐसे सुमतिनाथ भगवान आप । अजः=जन्म-मरण के दुःखों से रहित हैं । इनः=सबके स्वामी हैं । दातः=हे मोक्ष के देने वाले स्वामिन् ! अतः=इसलिए, नः=हमारे लिए । सः=वह । श्रेयः=कल्याण, देहि=प्रदान करो ॥२५॥

भावार्थ - समन्तभद्राचार्य प्रभु से याचना करते हैं- हे सुमतिनाथ भगवान् ! आप मोहरूपी (मिथ्यादर्शन रूपी) शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाले प्राणियों के द्वारा उपासनीय हैं, अर्चनीय हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टी ही वास्तव में जिनभक्त होता है । इसीलिए समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दृष्टी को ही जिनभक्त कहा है ।

अथवा - जो कर्म रूपी शत्रुओं को जीतना चाहते हैं वे आपकी उपासना करते हैं । क्योंकि आपकी उपासना के बिना प्राणी कर्मशत्रु पर विजय प्राप्त कर नहीं सकते ।

आप सदा भव्यजीवों का हित करने वाले हैं । आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आप की चेष्टा सर्वोत्कृष्ट है । आप अज हैं- जन्म की पीड़ा से रहित हैं । आप प्राणिमात्र के स्वामी हैं । इसलिए हे दानशील प्रभो ! हमारे लिए वह लक्ष्मी प्रदान करो- जिससे मैं आपके समान अजर अमर बन जाऊँ ।

यह समुद्गमकयमक अलंकार है, जैसे अक्षर पूर्वार्द्ध और पश्चार्द्ध में है वैसा ही, तृतीय चतुर्थ पाद में है। समुद्गमक के समान होने से यह समुद्गमक है ॥२५॥

(चक्रश्लोकः)

वरगौरतनुं देव वन्दे नु त्वाक्षयार्जव ।

वर्जयार्त्तिं त्वामार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥२६॥

वरगौरैति—बरा श्रेष्ठा गौरी उत्तमकाञ्चननिभा तनुः शरीरं यस्यासौ वरगौरतनुः अतस्तं वरगौरतनुं । हे देव भट्टारक । वन्दे स्तौमि । नु अत्यर्थम् । त्वा भट्टारकम् । क्षयः विनाशः आर्जवं ऋजुत्वम्, अपेक्षापूर्वकारित्वमित्यर्थः । क्षयश्च आर्जवं च क्षयार्जवे न विद्येते क्षयार्जवे यस्यासावक्षयार्जवः तस्य सम्बोधनं हे अक्षयार्जव । वर्जय निराकुरु । अर्त्तिं पीडाम् । त्वं आर्य योगिन् । नः इत्यध्याहार्यः तेन सम्बन्धः । नः अस्मान् । अव रक्ष । हे वर्य प्रधान । अमानोरुगौरव । अमानं अपरिमाणं उरु महत् गौरवं गुरुत्वं यस्य सः अमानोरुगौरवः तस्य सम्बोधनं हे अमानोरुगौरव । एतदुक्तं भवति—हे देव त्वां वन्दे । अस्माकं अर्त्तिं- वर्जय । अस्मान् रक्ष च ॥२६॥

अन्वय — अक्षयार्जव ! आर्य ! वर्य ! अमानोरुगौरव ! देव ! नु वरगौरतनुं त्वां वन्दे । (नः) अर्त्तिं वर्जय, अव ॥२६॥

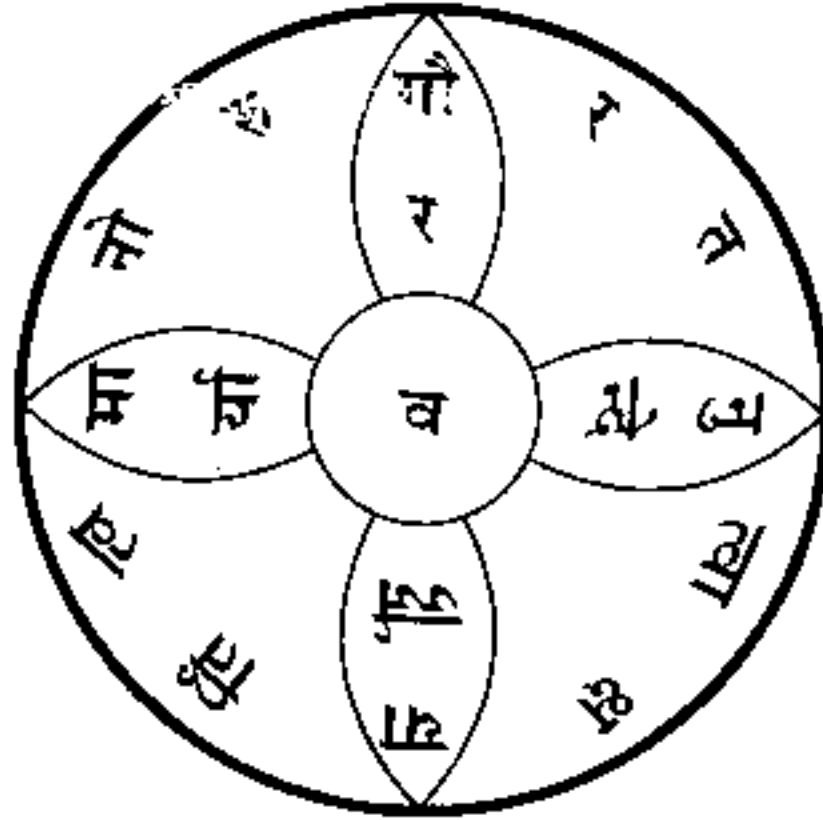
अन्वयार्थ — अक्षयार्जव ! = अविनाशी है आर्जव धर्म जिसका ऐसे हे अविनाशी आर्जव धर्मवाले । आर्य ! हे आर्य, वर्य ! = हे सर्वश्रेष्ठ । अमानोरुगौरव ! = अप्रमित विशाल गौरवशाली । देव = सुमतिनाथ भगवान् । नु = अत्यधिक भक्ति से । वरगौरतनुं = श्रेष्ठ तपाये हुए सुवर्ण के समान गौरवर्ण वाले भगवान् । त्वां = तुझको । वन्दे = नमस्कार करता हूँ । (नः = इस नकार का अध्याहार करना चाहिए । अतः हमारे) अर्त्तिं = शारीरिक पीड़ा वा जन्म-मरण की व्यथा का । वर्जय = निराकरण करो, नाश करो । अव = मेरी रक्षा करो ।

अर्थ — समन्तभद्रआचार्य कहते हैं— हे अविनाशी आर्जव धर्म के धारक ! हे आर्य ! हे सर्वोत्तम ! हे अपरिमित विशाल गौरवशाली प्रभो ! तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर कान्ति के धारक सुमतिनाथ भगवान् ! मैं आपको भक्ति में विभोर होकर नमस्कार करता हूँ- आपकी वन्दना करता हूँ । शरणागत आये हुए मेरी रक्षा करो तथा मेरे जन्म-मरण के दुःखों का नाश करो ॥२६॥

यद्यपि इस श्लोक की रचना २२वें श्लोक के समान है तथापि २२वें श्लोक में गर्भ और महादिशाओं के अन्तिम अक्षर एक समान थे परन्तु इसमें महादिशाओं के अक्षर भिन्न हैं । इसका चित्र इस प्रकार है—

चक्रश्लोकः

वरगौरतनुन्देव वन्दे नु त्वाक्षयार्जव ।  
वर्जयार्तिं त्वमार्याव चर्यामानोरुगौरव ॥२६॥



यह श्लोक के प्रथमाक्षर को गर्भ में रखकर बनाया हुआ चार आरोंवाला चक्रवृत्त है। इसके प्रथमादि कोई-कोई अक्षर चक्र में एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़ने में आते हैं। ५३, ५४ वें श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

卐 पद्मप्रभ-जिन-स्तुतिः 卐

(अर्द्धधमः)

अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोऽर्दय ।

पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रद ॥२७॥

अपापेति - पापं पुराकृतं दुष्कृतम्, आपत् अन्यकृतशारीरमानसदुःखम्, पापं च आपच्च पापापदौ न विद्येते पापापदौ ययोस्तौ अपापापदौ। अमेया अपरिमेया श्रीर्लक्ष्मीः ययोस्तौ अमेयश्रियौ। अपापापदौ च तावमेयश्रियौ च तौ अपापापदमेयश्रियौ। पादावेव पद्मौ पादपद्मौ। अपापापदमेयश्रियौ तौ पादपद्मौ यस्यासौ अपापापदमेयश्रीपादपद्मः तस्य सम्बोधनं हे अपापापदमेयश्रीपादपद्म। प्रभो स्वामिन्। अर्दय हिंसय विनाशय। पापं दुष्कृतम्। अप्रतिमा अनुपमा आभा

दीप्तिर्यस्यासावप्रतिमाभः अनुपमतेजाः । मे मम । पद्मप्रभं षष्ठं तीर्थकरं । मतिं सद्विज्ञानं प्रददातीति मतिप्रदः  
तस्य सम्बोधनं हे मतिप्रद । एतदुक्तं भवति—हे पद्मप्रभ मम पापं अर्दय । अन्यानि सर्वाणि पदानि तस्यैव  
विशेषणानि ॥२७॥

अन्वय - अपापापदमेयश्रीपादपद्म ! मतिप्रद ! पद्मप्रभ ! अप्रतिमाभः प्रभो ! मे पापं अर्दय ॥२७॥

अन्वयार्थ - अपापापदमेयश्रीपादपद्म ! = पाप एवं आपत्ति से रहित अपरिमित लक्ष्मी है  
चरणारविन्द में जिसके, उसका सम्बोधन हे पाप और आपत्तियों से रहित अपरिमित श्रीयुक्त चरण  
कमल वाले ! मतिप्रद ! = सम्यग्ज्ञान देने वाले !

अप्रतिमाभः = अनुपम आभा से युक्त । पद्मप्रभ ! = हे पद्मप्रभ ! प्रभो = प्रभो भगवान् ।  
मे = मेरे । पापं = पापों को । अर्दय = नष्ट करो ।

अर्थ - हे प्रभो ! आपके पादारविन्द पूर्वोपार्जित पाप कर्म से रहित, सांसारिक  
आधिव्याधिरूप आपत्तियों से शून्य और अपरिमित लक्ष्मी का आधार हैं । हे प्रभो ! आप स्वयं  
अनुपम आभा के पुंज हैं अर्थात् आपके शरीर की आभा से कोटि सूर्य का तेज लुप्त हो जाता है,  
रातदिन का भेद मिट जाता है । हे प्रभो ! आप भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञान प्रदान करने वाले हैं  
इसलिए हे पद्मप्रभ प्रभो ! मेरे पापों का नाश करो ।

अर्थात् निष्पाप, अनन्त चतुष्टय के धनी पद्मप्रभ भगवान् के पवित्र चरणों का आश्रय लेने वाले  
मानव रत्नत्रय के स्वामी बन जाते हैं तथा रत्नत्रय के द्वारा सर्व कर्मजन्य आपत्तियों को दूर कर अनन्त  
चतुष्टय रूप लक्ष्मी को प्राप्तकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । तब उसकी आत्मा अनन्त तेज से  
प्रकाशित हो जाती है ।

(गतप्रत्यागतपादयमकश्लोकः)

वन्दे चारुरुचां देव भो वियाततया विभो ।

त्वामजेय यजे मत्वा तमितान्तं ततामित ॥२८॥

वन्दे इति - प्रथमपादस्थाक्षरचतुष्टयं क्रमेणालिख्य पठित्वा पुनरपि तेषां व्युत्क्रमेण पाठः  
कर्तव्यः । क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीतपाठेऽपि तान्येव । एवं सर्वे पादा द्रष्टव्याः ।

वन्दे नौमि । चार्वी शोभना स्मृ दीप्तिर्भक्तिर्वा येषां ते चारुरुचः अतस्तेषां चारुरुचाम् । देव भो  
भट्टारक ! वियाततया वियातस्य भावो वियातता तथा वियाततया धृष्टत्वेन । विभो प्रभो । त्वाम् । अजेयः  
न जीयत इत्यजेयः तस्य सम्बोधनं अजेय । यजे पूजये । मत्वा विचार्य । तमितः नष्टः अन्तः क्षयो यस्यासौ  
तमितान्तः तं तमितान्तम् । ततं प्रतिपादितं अमितः अमेयं वस्तु येनासौ ततामितः तस्य सम्बोधनं हे  
ततामित । एतदुक्तं भवति—भो चारुरुचां देव त्वां वन्दे यजे च वियाततया । अन्यान्यस्यैव विशेषणानि ॥२८॥



अन्वय - चारुचां देव ! अजेय ! ततामित ! भो विभो ! तमितांतं मत्वा त्वां वियाततया वन्दे यजे ।

अन्वयार्थ - चारुचां=शोभनीय कान्ति, ज्ञान एवं भक्ति वाले प्राणियों के देव ! =स्वामी । अजेय ! =अंतरंग, बहिरंग शत्रुओं के द्वारा अजेय । ततामित ! =हे अनन्त पदार्थों का निरूपण करने वाले ! भो विभो=हे स्वामिन् ! तमितांतं=अन्तरहित अविनाशी । मत्वा=मानकर । त्वां=तुझको । वियाततया=धृष्टता से । वन्दे=नमस्कार करता हूँ । यजे=पूजा करता हूँ ।

अर्थ - उत्तम कान्ति, भक्ति तथा ज्ञान से सम्पन्न भव्य प्राणियों के स्वामी, अन्तरंग, बहिरंग शत्रुओं को जीतने वाले, अमेय अनन्त पदार्थों का निरूपण करने वाले अथवा असीम ज्ञान, दर्शन के धारक, पद्मप्रभ भगवान् ! मैं आपको अविनाश्वर मानकर निर्लज्ज होकर नमस्कार करता हूँ और पूजा करता हूँ । अर्थात् आचार्यदेव ने इस श्लोक में यह भाव प्रकट किया है कि जिसकी स्तुति करने के लिए गणधरादि भी समर्थ नहीं हैं, उसकी स्तुति करने का प्रयत्न करना मेरी धृष्टता है ।

शब्दार्थ - 'वियात' का अर्थ धृष्टता है 'धृष्टेधिष्णुर्वियातश्च इत्यमरः' धृष्ट, धिष्णु और वियात ये धृष्टता के नाम हैं, ऐसा अमरकोश में लिखा है । उस वियात का भाव 'वियातता' तथा धृष्टता से इति 'वियाततया' धृष्टता से ।

तमितान्तः= 'तमित' नष्ट कर दिया है 'अन्त' विनाश को जिसने इति 'तमितान्तः' तं तमितान्तं । अविनाशी । ततं=प्रतिपादित की है । अभितः अमेयवस्तु जिसने वह ततामितः सम्बोधन में ततामित !

यह गतप्रत्यागतपाद यमक अलंकार है । इसमें प्रथम पादस्थ अक्षर चतुष्टय को क्रम से लिखकर विपरीत पढ़ने से प्रथम चरण के अक्षर बन जाते हैं । इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण को जानना चाहिए ।

## 卐 सुपार्श्व-जिन-स्तुतिः 卐

(मुरजः)

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।

भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः ॥२९॥

स्तुवान इति-स्तुवाने वन्दमाने । कोपने क्रोधने कोपं करोतीति कोपनः अतस्तस्मिन् । च समुच्चये । एवाऽधवारणे । समानः सदृशः । यत् यस्मात् । न प्रतिषेधे पुनातीति पावकः पवित्रः । नाग्निः । भवान् भट्टारकः । न प्रतिषेधे । एकोपि प्रधानोपि असहायोपि । नेतेव नायक इव । त्वं युष्मदः प्रयोगः । आश्रेयः आश्रयणीयः । सुपार्श्वकः सप्तमतीर्थकरस्वामी । किमुक्तं भवति-स्तुतिं करोति यः

कोपं करोति यः तयोः द्वयोर्न न समानः किन्तु समान एव । ततः त्वं सुपार्श्वकः एकोपि सन् पावक इति कृत्वा नेतेव सर्वेरपि आश्रेयः ॥२९॥

अन्वय — सुपार्श्वकः भवान् स्तुवाने च कोपने समानः न एव समानः एव । यत् पावकः एकः अपि नेता इव त्वं आश्रेयः ॥२९॥

अन्वयार्थ — सुपार्श्वकः=सुपार्श्वनाथ भगवान् । भवान्=आप । स्तुवाने=स्तुतिकरने वाले में । च=और । कोपने=कोप करने वाले पर । समानः=सदृश । एव=ही है । यत्=क्योंकि आप । पावकः=पवित्र हैं । न पावकः=अग्नि नहीं हैं । जिस प्रकार अग्नि निन्दा-स्तुति में समान है, वैसे नहीं है अपितु पवित्र करने वाले हैं । त्वं=आप । एकः=असहाय होते हुए भी वा प्रधान होते हुए । नेता=नेता के । इव=समान । आश्रेयः=आश्रय करने योग्य हैं ।

अर्थ — हे सप्तम तीर्थकर सुपार्श्वनाथ भगवान् ! आप स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले दोनों में समभाव रखने वाले हैं, रागद्वेष रहित हैं तथा सर्व निकट भव्यों को पवित्र करने वाले हैं अर्थात् भक्तजन आपकी भक्ति से द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मल से रहित होकर निर्मल बन जाते हैं । अथवा आप सब को हित का उपदेश देकर कर्मबन्धन से छुड़ाने वाले हैं ।

प्रभुवर ! आप एक असहाय (प्रधान) होने पर भी नेता (मुखिया) के समान सर्व भव्य जीवों के द्वारा सेवनीय हैं । अर्थात् जैसे एक ही नेता अनेक मानवों को मार्ग-प्रदर्शन कर इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार आप भी अनेक भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाकर इष्ट (मोक्ष) स्थान पर पहुँचाने वाले हैं । अतः आप ही स्वकल्याण इच्छुक के द्वारा पूजनीय, वन्दनीय एवं सेवनीय हैं ॥२९॥

इसमें मुरजबन्ध अलंकार है, जिसका चित्र एवं कथन प्रथम श्लोक में किया है, वहाँ पर देखना चाहिए ।

## 卐 चन्द्रप्रभ-जिन-स्तुतिः 卐

(मुरजः)

चन्द्रप्रभो दयोऽजेयो विचित्रेऽभात् कुमण्डले ।

रुद्रशोभोऽक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥३०॥

चन्द्रप्रभ इति—चन्द्रप्रभः अष्टमतीर्थकरः । दयते इति दयः रक्षकः । न जीयते इत्यजेयः जितारिचक्र इत्यर्थः । विचित्रे नानाप्रकारे । अभात् शोभितः भा दीप्तौ अस्य धोर्लङन्तस्य रूपम् । कुमण्डले

पृथ्वीमण्डले मण्डलमिति वृत्तप्रदेशस्य संज्ञा । रुद्रा अमन्दा महती शोभा दीप्तिर्यस्यासौ रुद्रशोभः । न क्षीयत इत्यक्षयः । अमेयः अपरिमेयः । रुचिरे दीप्ते । भानूनां प्रभाणां मण्डलं संघातः भानुमण्डलं तस्मिन् भानुमंडले सति । चन्द्रेण सह श्लेषः । कानिचित्साधर्म्येण विशेषणानि कानिचिद्वैधर्म्येण । एतदुक्तं भवति— चन्द्रप्रभस्त्वं कुमण्डले विचित्रे अभात् रुचिरे भानुमंडले सति । अन्यानि चन्द्रप्रभभट्टारकस्यैव विशेषणानि । दयः, अजेयः रुद्रशोभः अक्षयः अमेयः चन्द्रप्रभचन्द्रयोः समानत्वं, किन्तु एतावान् विशेषः । स जेयो राहुणा अयमजेयः । स सक्षयः अयमक्षयः । स मेयः अयममेयः । स पृथ्वीमण्डले अयं पुनस्त्रैलोक्ये अलोके च । अयं व्यतिरेकः ॥३०॥

**अन्वय** - चन्द्रप्रभः दयः अजेयः रुद्रशोभः अक्षयः अमेयः विचित्रे कुमण्डले, रुचिरे भानुमण्डले अभात् ॥३०॥

**अन्वयार्थ** - चन्द्रप्रभः=चन्द्रप्रभ अष्टम तीर्थकर । दयः=रक्षक है । अजेयः=किसी के द्वारा जीते नहीं जाते वा अरिचक्र को जिसने जीत लिया है । रुद्रशोभा=महान् शोभा के धारक हैं ।

अक्षयः=क्षय रहित हैं । अमेयः=अपरिमित गुणों वाले हैं । विचित्रे=नाना प्रकार की । कुमण्डले=पृथ्वीमण्डल पर । रुचिरे=रुचिर । भानुमण्डले=भानुमण्डल में । अभात्=शोभित होते हैं ॥३०॥

**भावार्थ** - चन्द्रप्रभ भगवान् ! आप चन्द्रमा के समान प्रभा के धारक हैं तथापि चन्द्रमा के समान नहीं हैं- यह गूढ़ रूप से व्यतिरेक विश्लेषण गर्भित है ।

जैसे चन्द्रप्रभ भगवान् 'दय' सबके रक्षक वा सुख देने वाले हैं- परन्तु चन्द्रमा दिनविकासी कमल और चकवा-चकवी को दुःख देने वाला है- अतः इस श्लोक में 'चन्द्रप्रभो अदय' निकाल कर पढ़ना चाहिए । उसीप्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् 'अजेय' शत्रु के द्वारा अजेय हैं । चन्द्रमा राहु के द्वारा 'जेय' है । अतः दयोजेय और दयोऽजेय दोनों अर्थ होते हैं । इसी प्रकार-रुद्रशोभोक्षयः अक्षयः मेयः अमेयः दोनों अर्थ निकलते हैं । चन्द्रप्रभ भगवान् क्षयरहित हैं और चन्द्रमा क्षयसहित है, कृष्ण पक्ष में क्रमशः क्षीण होता जाता है । चन्द्रप्रभ अमेय है-चन्द्रमा मेय है, परिमित है, १६ कलाओं से युक्त है, अनुमान एवं प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है । भगवान् के गुण 'अप्रमेय' अनन्त हैं, परन्तु चन्द्रमा १६ कलाओं से युक्त है, मेय है । भगवान् 'रुद्रशोभः' विशाल शोभा वाले हैं । चन्द्रमा परिमित शोभा वाला है । भगवान् सारी पृथ्वी पर शोभित होते हैं, लोक-अलोक सब को जानते हैं- उनके ज्ञान में तीन लोक प्रतिभासित होते हैं- परन्तु चन्द्रमा केवल पृथ्वी पर ही प्रकाशित होता है ।

भगवान् देदीप्यमान भानुमण्डल (सूर्य) के रहते हुए भी शोभित हैं- परन्तु चन्द्रमा सूर्य के रहने पर फीका पड़ जाता है, देदीप्यमान नहीं रहता ।

इसप्रकार इस श्लोक में 'चन्द्रप्रभ' इस श्लिष्ट विशेषण से पूर्व में तो अष्टम तीर्थकर चन्द्रप्रभ

और चन्द्रमा में सादृश्य बतलाया गया है परन्तु बाद में उन्हीं विशेषणों के अर्थ का परिवर्तन करके चन्द्रमा की अपेक्षा अष्टम तीर्णक में वैशिष्ट्य सिद्ध किया गया है। अर्थात् चन्द्र की प्रभा के समान होते हुए भी चन्द्रप्रभ भगवान् चन्द्रमा से विलक्षण हैं, ऐसा कथन किया गया है ॥३०॥

यह श्लोक 'मुरजबन्ध' अलंकार युक्त है- जिसका कथन प्रथम श्लोक में किया है।

(मुरजः)

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः ।

विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥३१॥

प्रकाशेति- चन्द्रप्रभः अभादिति सम्बन्धः। किं विशिष्टः प्रकाशयन् तिमिरं प्रपाटयन्। खं आकाशं। उद्भूतः उद्गतः। त्वं। उद्घः महान् अंकः चिह्नं यस्यासौ उद्घांकः, कलानां कलागुणविज्ञानानां लेखानां वा आलयः आधारः कलालयः, उद्घांकश्चासौकलालयश्च उद्घांककलालयः। विकासयन् प्रबोधयन्। समुद्भूतः। कुमुदं पृथ्वीहर्षम्। अन्यत्र कुमुदं पुष्पम्। कमलायाः लक्ष्म्याः प्रिय इष्टः। अन्यत्र कमलानां पद्यानां अप्रियः अनिष्टः कमलाप्रियः। एतदुक्तं भवति-त्वं चन्द्रप्रभोऽभात् एतत् कुर्वन् एवं गुणविशिष्टः चन्द्रेण समानः। श्लेषालंकारोऽयम् ॥३१॥

अन्वय - त्वं उद्घांककलालयः खं प्रकाशयन् उद्भूतः कमलाप्रियः कुमुदं विकासयन् समुद्भूतः ॥३१॥

अन्वयार्थ - त्वं=आप भगवान्। उद्घांककलालयः=महान् चिह्न और कलाओं के आलय (स्थान) हैं। खं=आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश को) प्रकाशयन्=प्रकाशित करते हुए। लोक और अलोक को ज्ञान के द्वारा जानते हुए। उद्भूतः=प्रकट हुए हैं। कमलाप्रियः=लक्ष्मी को प्रिय आप। कुमुदं=पृथ्वी के हर्ष को। विकासयन्=विकसित करते हुए। समुद्भूतः=उत्पन्न हुए हैं।

अर्थ - यह श्लेषालंकार से युक्त है, इसमें चन्द्रप्रभ भगवान् को चन्द्रमा की उपमा दी है- जैसे- भगवान् चन्द्रप्रभ चन्द्रमा की प्रभा के समान उज्वल हैं, श्वेतवर्ण हैं।

चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है, अन्धकार को दूर करता है। चन्द्रप्रभ भगवान् अज्ञान अन्धकार को दूर करते हुए अपने केवलज्ञान के द्वारा लोकाकाश और अलोकाकाश को प्रकाशित करते हैं।

जैसे चन्द्रमा मनोहर हरिण के चिह्न से युक्त है, उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् भी मनोज्ञ 'अर्धचन्द्र' के चिह्न से युक्त हैं।

चन्द्रमा षोडशकलाओं का आलय (गृह) है, चन्द्रप्रभ भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन,

अनन्तसुख और वीर्यरूप कलाओं से सम्पन्न हैं। जैसे चन्द्रमा कुमुदों (रात्रिविकाशीनीलकमलों) को विकसित करता हुआ उदित होता है, उसीप्रकार चन्द्रप्रभ भगवान, कु-पृथ्वीगत समस्त जीवों के 'मुद्' हर्ष को वृद्धिगत करते हुए उदित-उत्पन्न हुए हैं। जैसे चन्द्रमा कमलाप्रिय (दिनविकाशी- कमलों को अप्रिय) (कमल-अप्रिय) है, उनको निमीलित कर देता है। चन्द्रप्रभ भगवान कमलाप्रिय हैं, केवलज्ञानादि लक्ष्मी को प्रिय हैं।

इस प्रकार इस श्लोक में विशेषणों के सादृश्य से चन्द्रप्रभ भगवान को चन्द्रमा कहा गया है। यह श्लेषालंकार है।

जिस प्रकार इस श्लोक में विशेषणों से चन्द्रप्रभ भगवान और चन्द्रमा का सादृश्य सिद्ध किया है, उसी प्रकार उन्हीं शब्दों के दूसरे अर्थ से इन दोनों में भिन्नता-व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। जैसे- 'खं' आकाश-चन्द्रमा आकाश के थोड़े से भाग को ही प्रकाशित करता है जबकि भगवान् लोक-अलोक सारे आकाश को प्रकाशित करते हैं, जानते हैं। चन्द्रमा केवल रात्रि में उदित होता है, परन्तु भगवान् सर्वकाल में उदित रहते हैं। चन्द्रमा 'उद्घांक कलालय' महान् कृष्ण चिह्न से युक्त है, कलंकरूप है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान मनोहर अर्धचन्द्र चिह्न से युक्त हैं वा शरीरस्थ अनेक सामुद्रिक १००८ चिह्नों (लक्षणों) से अत्यन्त मनोहर हैं।

चन्द्रमा स्वकीय 'कला-लय' कलाओं के लय यानी विनाश वाला है अर्थात् चन्द्रमा की कलाओं का कृष्णपक्ष में एक-एक कर नाश होता है। परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान केवल-ज्ञानादि अनन्त कलाओं (गुणों) के आलय हैं-घर हैं।

चन्द्रमा 'कुमुद' रात्रिविकाशी कमल को वृद्धिगत करता है वा-कु-कुत्सित वैषयिक इन्द्रियजन्य मुद् हर्ष को वृद्धिगत करता है अर्थात् सांसारिक प्राणियों के काम को उद्दीप्त करता है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान 'कु' पृथ्वीगत सभी जीवधारियों के 'मुद्' आनन्द को वृद्धिगत करते हैं वा 'कु' आत्मा सम्बन्धी उत्कृष्ट आत्मीय आनन्द को वृद्धिगत करते हैं। चन्द्रमा प्रतिरात्रि उदय को प्राप्त होता है और अस्त होता है। परन्तु प्रभो! आप उदित होकर कभी अस्त नहीं होते हैं। चन्द्रमा 'कमलाप्रिय-कमल-अप्रिय' दिनविकाशी कमलों को अप्रिय है, इष्ट नहीं है, कमलों के विकास का नाशक है- परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् 'कमलाप्रिय' अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के प्रिय हैं, लक्ष्मी के स्वामी हैं- अतः आप अनोखे विलक्षण चन्द्रमा हैं।

इसमें भी 'मुरज बंध' अलंकार है।

(मुरजः)

धाम त्विषां तिरोधानविकलो विमलोक्षयः ।

त्वमदोषाकरोस्तोनः सकलो विपुलोदयः ॥३२॥

धामेति—चन्द्रप्रभोऽभात् अत्रापि सम्बन्धनीयः । धाम अवस्थानम् । त्विषां तेजसाम् । तिरोधानेन व्यवधानेन विकलः विरहितः अन्यत्राविकलः तिरोधानविकलः । विमलो निर्मलः, चन्द्रः पुनः समलः । न क्षीयत इत्यक्षयः, अन्यः सक्षयः । त्वं भट्टारकः । अदोषाणां गुणानां आकरः निवासः, अन्यत्र दोषायाः रात्रेः आकरः दोषाकरः । अस्ताः क्षिप्ताः ऊनाः असर्वज्ञतारकाः येनासावस्तोनः । सकलः सम्पूर्णः, अन्योऽसम्पूर्णः । विपुलः महान् उदयः उद्गमो यस्वारौ विपुलोदयः । अन्यः पुनः अविपुलोदयः । किमुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः एवंविधगुणविशिष्टः सन् पृथ्वीमण्डले अभात् शोभित इति सम्बन्धः ॥३२॥

अन्वय — चन्द्रप्रभः त्वं त्विषां धाम तिरोधानविकलः विमलः अक्षयः अदोषाकरः अस्तोनः सकलः विपुलोदयः अभात् ।

चन्द्रमा के प्रति — त्विषां अधाम, तिरोधानविकलः, अविमलः क्षयः दोषाकरः अस्तोनः न सकलः अविपुलोदयः अभात् ।

अन्वयार्थ — हे चन्द्रभगवान् ! त्वं=आप । त्विषां=तेज के वा केवलज्ञान के । धाम=स्थान । तिरोधानविकलः=तिरोधान से रहित । विमलः=कर्ममल कलंक से रहित । अक्षयः=अक्षय, अविनाशी । अदोषाकरः=गुणों की खान हैं । अस्तोनः=ऊनता से रहित हैं । अर्थात् असर्वज्ञरूप ताराओं का नाश कर दिया है । सकलः=सम्पूर्ण परिपूर्ण केवलज्ञान सहित । विपुलोदयः=विपुल उदय से युक्त । अर्थात् आप एक स्थान में रहकर के भी सारे जगत् को प्रकाशित करते हैं । चन्द्रमा-त्विषां=तेज का । अधाम=स्थान नहीं है । अतिरोधानविकलः=तिरोधान से रहित नहीं है । अविमलः=निर्मलता रहित है । क्षयः=क्षयसहित है-प्रतिदिन क्षीण होता है । दोषाकरः=अनेक दोषों की खान है अर्थात् रात्रि को करने वाला है । स्तोनः=न्यूनता का नाश करने वाला नहीं है । असकलः=असम्पूर्ण है । अविपुलोदयः=विपुल उदय से रहित है । अतः आप चन्द्रमा से अधिक हैं ।

भावार्थ — समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आप चन्द्रमा की प्रभा के समान प्रभा वाले हैं, परन्तु चन्द्रमा और आप में बहुत अन्तर है । प्रभुवर ! आप केवलज्ञान एवं कोटि सूर्य-चन्द्र के तेज को तिरस्कार करने वाली कान्ति से युक्त हैं, जबकि चन्द्रमा कान्तिहीन है ।

सांसारिक किसी भी भौतिक पदार्थ से आपका आवरण नहीं होता वा आप निरावरण ज्ञान के धारी हैं जबकि चन्द्रमा बादल आदि से आच्छादित होता है, अतः सावरण है ।

हे भगवन्! आप कर्मकलंक से रहित होने के कारण विमल मलरहित हैं, निर्मल हैं जबकि चन्द्रमा कलंक सहित होने से समल है, मलसहित है।

हे स्वामिन्! आप अक्षय हैं, अविनाशी हैं, आपके केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का नाश कभी नहीं होता है, परन्तु चन्द्रमा कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्षीण होता है, एक-एक कला से हीन होता है।

हे नाथ! आप अदोषाकर हैं- क्षुधा, तृषा, पिपासा, निद्रा, चिंता आदि अठारह दोषों से रहित हैं तथा काम, क्रोधादि विभाव भावों से रहित हैं अतः दोषों की खान नहीं होने से अदोषाकर हैं परन्तु चन्द्रमा दोषा (रात्रि) का करने वाला होने से दोषाकर है- वा संसारी आत्मा होने से काम-क्रोधादि दोषों से संयुक्त है।

प्रभुवर! आपने असर्वज्ञरूपी ताराओं को अस्त कर दिया है अर्थात् आपके समक्ष असर्वज्ञ हरिहरादि प्रभावशून्य हो जाते हैं अतः आप अस्तोनः हैं परन्तु चन्द्रमा ताराओं को प्रभावहीन नहीं कर सकता, अतः वह अनस्तोन है।

हे भगवन्! आप सम्पूर्ण हैं, अथवा आप परिपूर्ण केवलज्ञानादि गुणों से युक्त हैं परन्तु चन्द्रमा विकल है, अपूर्ण है, परिपूर्ण कलाओं से रहित है। चन्द्रमा का सोलहवाँ भाग कला कहलाता है- चन्द्रमा पूर्णिमा के सिवाय कभी परिपूर्ण कला वाला नहीं होता है, अतः चन्द्रमा विकल है।

हे स्वामिन्! आप विपुलोदय हैं। आपका उदय महान् है अतः आप एक स्थान में स्थित होकर भी तीनों लोकों और तीनों कालों में स्थित छहों द्रव्यों के अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों को एक साथ जानते हैं, प्रकाशित करते हैं परन्तु चन्द्रमा का उदय सीमित है, वह सीमित पदार्थों को ही प्रकाशित करता है अतः अविपुलोदय है। हे भगवन्! इसप्रकार भूमण्डल पर आप अद्वितीय चन्द्रमा शोभित होते हैं। इसमें 'अभात्' क्रिया का सम्बन्ध ऊपर के श्लोक से करना होता है। इसप्रकार यह श्लेषमूलक व्यतिरेकालंकार है।

यह मुरजबन्ध है।

(मुरजः)

यत्तु खेदकरं ध्वान्तं सहस्रगुरपारयन् ।

भेतुं तदन्तरत्यन्तं सहसे गुरु पारयन् ॥३३॥

यत्तुखेदेति— यत् यदोरूपम् । तु अप्यर्थे । खेदकरं दुःखकरं खेदं करोतीति खेदकरम् । ध्वान्तं तमः अज्ञानं मोहः । सहस्रगुरादित्यः अपिशब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः । सहस्रगुरपि अपारयन् अशक्नुवन् भेतुं विदारयितुम् । तत् ध्वान्तम् । अन्तः अभ्यन्तरम् । अत्यन्तं अत्यर्थम् । अथवा अन्तमतिक्रान्तं अत्यन्तम् ।

सहसे समर्थो भवसि । भेतुं अत्रापि सम्बन्धनीयं काकाक्षिवत् । गुरु महत् । पारयन् शक्नुवन् । त्वं चन्द्रप्रभ इति सम्बन्धनीयम् । किमुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः यदन्तर्ध्वान्तं खेदकरं भेतुं सहस्रगुरपि अपारयन् तत् ध्वान्तं भेतुं सहस्रं समर्थो भवसि पारयन् सन् ॥३३॥

अन्वय— यत् तु खेदकरं अत्यन्तं अन्तःध्वान्तं भेतुं सहस्रगुः अपारयन् तत् भेतुं गुरुः पारयन् सहसे ।

अन्वयार्थ— यत्=जिस । खेदकरं=खेदकरने वाला । अत्यन्त दुःख देने वाला । अत्यन्तं=अतिसघन । अन्तः=आंतरिक । ध्वान्तं=मोहरूप अन्धकार को भेतुं=भेदने (नाश करने) के लिए । सहस्रगुः=सहस्र किरणवाला सूर्य । तु=भी । अपारयन्=समर्थ नहीं है । तु=परन्तु । तत्=उस गुरुः=महान् । आंतरिक अज्ञानरूपी अन्धकार को । भेतुं=विदारने के लिए-नाश करने के लिए चन्द्रप्रभ भगवान् ! आप ही । पारयन्=समर्थ होते हुए । सहसे=नष्ट करते हैं ।

अर्थ— समन्तभद्राचार्य चन्द्रप्रभ भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! जिस अत्यन्त दुःखदायी सघन अनादिकालीन आंतरिक मोह एवं अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सहस्रकिरणधारी सूर्य भी समर्थ नहीं है, उस अज्ञान अन्धकार को आपने जड़ मूल से उखाड़ दिया है अर्थात् आप ही उसका नाश करने में समर्थ हैं ।

भावार्थ— सूर्य केवल अपने विषयक्षेत्र में स्थित भौतिक अन्धकार को दूर कर सकता है, प्राणियों के अन्तरंग में होने वाले अज्ञान अन्धकार को दूर नहीं कर सकता, परन्तु भगवान् के शरीर के तेज से रात-दिन का भेद मिट जाता है, कोटि सूर्य से भी अधिक तेज प्रभु के शरीर में होता है तथा तपश्चरण के द्वारा जिन्होंने आन्तरिक अज्ञान अन्धकार को नाशकर लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया है और अपने वचनों के द्वारा अन्य भव्य जीवों के अज्ञान अंधकार को दूर किया है अतः आप सूर्य से श्रेष्ठतर हैं ।

जिसमें दो में से एक में विशिष्टता दिखाई जाती है वह व्यतिरेकालंकार है । इसमें चन्द्रप्रभु भगवान् की सूर्य से विशिष्टता दिखलाई गई है ।

(मुरजः)

खलोलूकस्य गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः ।

कालोविकलगोघातः समयोप्यस्य भास्वतः ॥३४॥

खलोलूकेति—त्वं चन्द्रप्रभोऽभूः इति सम्बन्धः । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवतीति त्वमिति भास्वतः सम्बन्धात् च भवति । खलश्चासावुलूकश्च खलोलूकः तस्य खलोलूकस्य । गवां रश्मीनां व्रातः



संघातः गोत्रातः। तमः अन्धकारः। तापी दहनस्वरूपश्च सम्पद्यत इत्यध्याहार्यः। अति अत्यर्थम्। भास्वतः आदित्यस्य। ते पुनः चन्द्रप्रभस्य भास्वतः प्रकाशयतः गोत्रातः वचनकदम्बकः नापि कस्यचित्तमो न ताप्यति तापि व्यतिरेकः। कालः समयः मुहूर्तादिः। अविकलगः अप्रतिहतः। अन्यत्र विकलगः प्रतिहतः। अघातः प्रतिपक्षरूपैर्घातो नास्ति। अन्यत्र मेघादिभिरस्त्येव। समयोऽपि दर्शनमपि। अस्य भट्टारकस्य भास्वतः सन्। एवंभूत एव अघातः अविकलगः नान्यत्र। एतदुक्तं भवति-भास्वतः गोत्रातः एवंभूतः कालः समयश्च नादित्यस्य। अतस्त्वं चन्द्रप्रभः अभूः कुमण्णे इति सम्बन्धः ॥३४॥

अन्वय-भास्वतः गोत्रातः खलोलूकस्य तमः अति तापि। कालः विकलगः अस्य भास्वतः समयः अपि घातः। परन्तु भास्वतः चन्द्रप्रभस्य गोत्रातः खलोलूकस्य तमः अति तापि परन्तु अस्य कालः अविकलगः अस्य भास्वतः समयः अपि अघातः ॥३४॥

अन्वयार्थ - भास्वतः=सूर्य की। गोत्रातः=किरणों का समूह। खलोलूकस्य=दुष्ट उल्लू को। तमः=अन्धकार करने वाला, उल्लू की आँखों को अन्धकारित करने वाला। अपि=और। अति=अत्यन्त। तापि=ताप देने वाला है। तथा-अस्य=इस। भास्वतः=सूर्य का। कालः=काल। विकलगः=घटिका, वर्ष आदि से विकल है और। समयः=ऋतु वा दिन। घातः=प्रतिहत-मेघादि के द्वारा घात सहित है परन्तु भास्वतः=देदीप्यमान चन्द्रप्रभु भगवान के। गोत्रातः=वचनों का समूह। यद्यपि। खलोलूकस्य=खल, दुष्टरूपी उल्लूको तीव्र मिथ्यादृष्टि रूपी उल्लू को। तमः=अन्धकार रूप है। ताप्यति=संताप देने वाला है, परन्तु भव्यजीवों के अज्ञान अन्धकार को दूर करता है और आनन्ददायक है।

अस्य=इस। भास्वतः=निरंतर प्रकाशित रहने वाले चन्द्रप्रभ स्वामी। कालः=काल। अविकलः=अव्यवहित है। दिन-रात का भेद नहीं है। इसका समयः=सिद्धान्त-दर्शन। अघातः=घात रहित है- अर्थात् इसके सिद्धान्त कोई भी प्रतिवादी खण्डित नहीं कर सकते।

भावार्थ - यहाँ व्यतिरेक अलंकार है- सूर्य से भगवान की विशेषता का कथन किया है। 'गो' और 'समय' शब्द का श्लेष इसकी शोभा बढ़ा रहा है।

विश्वलोचन कोश में 'गौः' शब्द के 'गौःपुमान् वृषभे स्वर्गे खण्ड वज्र हिमांशुषु। स्त्री गवि भूमि, दिनेत्र, वाक् वाण सलिले स्त्रियः' इसीप्रकार पुमान् (पुरुष) के वृषभःबैल, स्वर्ग, खण्ड, वज्र, चन्द्रमा, स्त्री, गाय, भूमि, दिशा, नेत्र, वचन, वाण और जल ये १५ नाम हैं।

अविकल और विकल, घात और ये दो पदच्छेद करके सूर्य और प्रभु के प्रति व्यतिरेक किया है।

'समय' शब्द का अर्थ अमरकोश में 'समय, शपथाचार, काल, सिद्धान्त, संविदः' शपथ=सौगन्ध, आचार, काल, सिद्धान्त और ज्ञान किया है।

समन्तभद्र कहते हैं- भगवन्! यद्यपि आप भास्वान् की अपेक्षा सूर्य के समान हैं- तथापि आप में और सूर्य में महान् अन्तर है। हे भगवन्! सूर्य की किरणों का समूह दुष्ट उलूक के लिए अन्धकार रूप परिणत होता है तथा सर्व जीवों को सन्ताप करने वाला होता है परन्तु निरन्तर प्रकाशमान रहने वाले चन्द्रप्रभ स्वामी के शरीर का तेज एवं वचनों का समूह यद्यपि मिथ्यादृष्टि अभव्य को अन्धकार एवं ताप करने वाला है तथापि सम्यादृष्टि भव्यजीव के अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला है तथा सर्व जीवों को आनन्ददायी है। भव्यजीवों के हृदय कमल को प्रफुल्लित करता है। यह व्यतिरेक अलंकार है।

सूर्य का काल, रात्रि से व्यवहित है वा समय, निमेष, मुहूर्त, घटिका आदि से विकल है। आपका काल अधोरात्रि एक समान है, हानि-वृद्धि रहित है। हे भगवन्! सूर्य का समय मेघादि के द्वारा आच्छादित होता है अतः घात (रुकावट) सहित है। परन्तु भगवन्! आपका समय (सिद्धान्त) घातरहित है। मिथ्यादृष्टि वादी प्रतिवादियों के द्वारा घात (खण्डन) रहित है, उनके द्वारा अनुल्लंघ्य है, अजेय है।

इसप्रकार गो-वचन और समय-सिद्धान्त के अर्थ से सूर्य के साथ भगवान् का व्यतिरेक बताया गया है।

(मुरजः)

लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।

एकप्रियसहायाय नम एकस्वभाव ते ॥३५॥

लोकत्रयेति- लोकत्रयमेव महामेयं वस्तु लोकत्रयमहामेयम्, कमलानां पद्मानां आकरः कमलाकरः नलिनीवनम् । लोकत्रयमहामेयमेव कमलाकरः लोकत्रयमहामेयकमलाकरः तस्य भास्वान् रविः लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वान् तस्मै लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते । एकः प्रधानः । प्रियः इष्टः । सहायः बन्धुः । प्रियश्चासौ सहायश्च प्रियसहायः एकश्चासौ प्रियसहायश्च एकप्रियसहायः तस्मै एकप्रियसहायाय । नमः अव्युत्पन्नो झि संज्ञकः पूजावचनः अस्य योगे अप् । एकस्वभाव एकस्वरूप । ते तुभ्यम् । किमुक्तं भवति-चन्द्रप्रभ इत्यनुवर्तते हे चन्द्रप्रभ एकस्वभाव तुभ्यं नमः एवं विशिष्टाय ॥३५॥

अन्वय - एकस्वभाव ! लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते, एकप्रियसहायाय ते नमः ।

अन्वयार्थ - एकस्वभाव ! निरन्तर एक रूप रहने वाले चन्द्रप्रभ भगवान् । लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते=ऊर्ध्व-मध्य-पाताल तीन लोकरूपी विशाल कमल वन को विकसित करने के लिए सूर्य । एकप्रियसहायाय=अद्वितीय प्रिय (इष्ट) बन्धु । ते=तेरे लिए । नमः=नमस्कार हो ।

अर्थ - चन्द्रप्रभ भगवान् ! आप सदा एकस्वरूप रहने वाले हैं अर्थात् संसार के अन्य महापुरुष अन्य साधारण प्राणियों की अपेक्षा उच्च पद को प्राप्त हुए हैं परन्तु उनके वे पद सत्कर्मोदयजनित होने से

कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं, उनके परिणाम निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं, एक विषय पर स्थिर नहीं रहते हैं- अतः उन्हें एकस्वभाव नहीं कहा जा सकता। परन्तु चन्द्रप्रभ स्वामी ने जिस पद को प्राप्त किया है वह कर्मक्षयजनित होने से कालान्तर में कभी नाश को प्राप्त नहीं होता अतः आचार्य समन्तभद्र ने भगवान को एकस्वभाव कहा है।

तीन लोक रूप अपरिमित कमल-वन को आनन्दित करने के लिए भगवान् सूर्य के समान हैं तथा सारे जगत् की सहायता व उनके दुःख को दूर करने के लिए अद्वितीय इष्ट परम मित्र हैं, बन्धु हैं। ऐसे महान् परमोपकारी प्रभु आपको नमस्कार हो। यह नमः शब्द अव्युत्पन्न झि संज्ञक है, पूजा वचन है। 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

यह श्लोक भी मुरजबन्ध है।

(अर्द्धभ्रमगूढद्वितीयपादः)

चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ।

श्रीवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तव शशिप्रभ ॥३६॥

चारुश्रीति—यानि द्वितीयपादाक्षराणि तानि सर्वाणि अन्येषु पदेषु सन्तीति।

श्रीश्च शुभं च श्रीशुभे चारुणी च ते श्रीशुभे च चारुश्रीशुभे ते दत्तः इति चारुश्रीशुभदौ। नौमि स्तौमि क्रियापदमेतत्। रुचा दीप्त्या। वृद्धौ महान्तौ। प्रपावनौ पवित्रीभूतौ। श्रियं वृणुत इति श्रीवृत्तौ श्रीवृत्तौयं च तौ धौतौ च प्रक्षालितौ श्रीवृद्धौतौ। शिवौ शोभनौ। पादौ चरणौ। शुद्धौ शुची। तव ते। हे शशिप्रभ। एतदुक्तं भवति—शशिप्रभ तव पादौ नौमि किं विशिष्टौ तौ एवं गुणविशिष्टौ। अन्यानि सर्वाणि अन्ययोरेव विशेषणानि ॥३६॥

अन्वय - शशिप्रभ ! तव चारु श्रीशुभदौ, रुचा वृद्धौ प्रपावनौ श्रीवृद्धौतौ, शिवौ, शुद्धौ पादौ नौमि।

अन्वयार्थ - शशिप्रभ ! = हे चन्द्रप्रभ भगवान्। तव = आपके। चारुश्रीशुभदौ = मनोज्ञ समवसरण तथा निःश्रेयस्रूप लक्ष्मी के दायक। रुचा = कान्ति से। वृद्धौ = वृद्धि को प्राप्त। प्रपावनौ = परम पवित्र। श्रीवृद्धौतौ = अंतरंग एवं बहिरंग लक्ष्मी को प्राप्त करने से प्रक्षालित वा उज्वल। अथवा - इन्द्र चक्रवर्ती योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीवान् महापुरुषों के द्वारा प्रक्षालित। शिवौ = कल्याणकारी वा शोभनीय। शुद्धौ = अत्यन्त शुद्ध। पादौ = चरणों को। नौमि = नमस्कार करता हूँ।

अर्थ - समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे चन्द्रप्रभ भगवन् ! आपके चरणकमल अतिमनोज्ञ, शोभनीय, समवसरणादि लौकिक लक्ष्मी और निःश्रेयस् रूप कल्याण के दाता हैं; कान्ति से वर्द्धित

हैं, कान्तिमान हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी को स्वीकार करने वाले हैं तथा निर्मल हैं- अथवा इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, योगीन्द्र आदि लक्ष्मीवान् महापुरुष जिनके चरणों का प्रक्षालन करते हैं, पूजा करते हैं अतः प्रभु के चरण लक्ष्मीवान् पुरुषों के द्वारा प्रक्षालित हैं, कल्याणकारी हैं और अत्यन्त शुद्ध हैं अतः मैं उन प्रभु के चरणों को नमस्कार करता हूँ।

यह श्लोक अर्द्धभ्रम गूढ द्वितीयपाद है। इसके द्वितीय पाद के सारे अक्षर सारे अन्य पदों में हैं।

इसका चित्र इस प्रकार है-

चा	रु	श्री	शु	भ	दौ	नौ	मि
रु	चा	वृ	द्वौ	प्र	पा	व	नौ
श्री	वृ	द्वौ	तौ	शि	बौ	पा	दौ
शु	द्वौ	त	व	श	शि	प्र	भ

### 卐 पुष्पदन्त-जिन-स्तुति 卐

(निर्गुणश्लोकयमकः)

शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहिनः ।

नयेनाशंसितं श्रेयः सद्यः सन्नज राजितः ॥३७॥

शं स नायक ! निष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहि नः ।

न येनाशं सितं श्रेयः सद्यः सन्नजराजितः ॥३८॥ (युग्मम्)

शंसेति-औष्ठ्यमक्षरमत्र श्लोके नास्ति द्विरावर्त्तते च इति हेतोः । शंसनाय प्रशंसनायै । कनिष्ठायाः अणुभूतायाः । चेष्टायाः कायवाङ्-मनःक्रियायाः । यत्र यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे । देहिनः प्राणिनः सम्बन्धेन । नयेन अभिप्रायेण । आशंसितं सम्भावितं । श्रेयः पुण्यम् । सत् शोभनम् । यः यश्च । द्वितीयार्थे व्याख्यायमाने च शब्दोऽतिरेकः सोऽत्र सम्बन्धनीयः । हे अज सर्वज्ञ । राजितः शोभितः । सन् भवन् । उत्तरार्धे क्रिया तिष्ठति तथा सम्बन्धः कर्तव्यः ॥३७॥

शंसनेति-शं सुखम् । स पूर्वोक्तः । नायकः नेता प्रभुर्वा तस्य सम्बोधनं नायक । निष्ठायाः मोक्षावाप्तेः । च अयं चशब्दः पूर्वार्धे दृष्टव्यः । इष्टायाः प्रियायाः । अत्रास्मिन् । देहि दीयताम् । नः अस्मभ्यम् । न । येन । अशं दुःखम् । सितं बद्धम् । श्रेयः श्रेयणीयः सन् । सद्यः तत्क्षणादेव । सन्ना विनष्टा जरा

वृद्धित्वं यस्यासौ सन्नजरः तस्य सम्बोधनं हे सन्नजर । अन्यैरजितः अजितः सन् । वान्तैःपदैः सर्वत्र सम्बन्धनीयः । समुदायार्थः—यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे प्राणिभिः स्तुतिमात्राद्वा पुष्पखण्डाद्वा पुण्यं भावितं सत् प्रशंसायै भवति यश्च राजितः । पुष्पदन्त इति उत्तरश्लोके तिष्ठति सोत्र सम्बन्धनीयः । स त्वं श्रेयः सन् हे पुष्पदन्त अज अस्मभ्यं शं देहि, येन सुखेन दुःखं सितं बद्धं न भवति तत्सुखं देहीत्युक्तं भवति ॥३८॥

अन्वय — सन्नजर ! इष्टायाः निष्ठायाः नायक ! अजितः यत्र कनिष्ठायाः चेष्टायाः देहिनः यः सन् श्रेयः सः नयेन आशंसितं च शंसनाय राजितः । अज सद्यः स नः शं अत्रदेहि । येन अशं न सितं सद्यः श्रेयः ।

अन्वयार्थ — सन्नजर ! = नष्ट कर दिया है जरा (वृद्धत्व) को जिसने ऐसे हे सन्नजर ! इष्टायाः = प्रिय । निष्ठायाः = मोक्षप्राप्ति के । नायक ! = नायक पुष्पदन्त भगवन्त । अजितः = अन्य किसी के भी द्वारा जीते नहीं गये हैं, हरि-हरादि सब को पराजित करने वाले हैं । यत्र = जिस सर्वज्ञ के विषय में वा जहाँ आपके विषय में की गई । कनिष्ठायाः = अल्पसी । चेष्टायाः = मन, वचन, काय की चेष्टा । देहिनः = प्राणियों को । यः = जो । सन् = श्रेष्ठ । श्रेयः = पुण्यबन्ध । सः = वह पुण्यबन्ध । नयेन = अनुमान द्वारा वा अभिप्राय द्वारा । आशंसितं = संभावित है, अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है । शंसनाय = प्रशंसा के लिए । राजितः = शोभित है अर्थात् वह प्रशंसा के योग्य है । अज ! = हे जन्मरहित सर्वज्ञ भगवन् । नः = हमारे लिए । सद्यः = शीघ्र ही । सः = वह । शं = सुख । देहि = दीजिए । येन = जिससे । अत्र = इस संसार में । अशं = दुःख का । सितं = बन्ध । न = नहीं । सद्यः = शीघ्र ही । श्रेयः = कल्याण हो ॥३७-३८॥

अर्थ — हे अत्यन्त श्रेष्ठ ! हे जन्मरहित ! हे वृद्धत्व का नाश करने वाले ! सर्वप्रिय ! मोक्षलक्ष्मी के प्रसिद्ध नायक प्रभो ! आप किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते अतः अजित हैं, अपराजित हैं । हे भगवन् ! आपके विषय में की गई मन वचन काय की छोटी-छोटी चेष्टाओं से-आपके चिन्तन, स्तवन तथा नमस्कार से प्राणियों के जिस श्रेष्ठ पुण्य का बन्ध होता है वह पुण्य मात्र अनुमानगम्य है । छद्मस्थ जीवों के स्वानुभवगम्य नहीं है, छद्मस्थज्ञान के प्रत्यक्ष नहीं है । अर्थात् यद्यपि प्रभु के स्तवन, नमन, चिन्तन से उपार्जित पुण्य से जो ऐहिक सुख मिलते हैं- उनसे उस पुण्य का अनुमान किया जाता है; पूर्णतया पुण्यबन्ध का ज्ञान नहीं होता, तथापि वह पुण्य प्रशंसनीय है (क्योंकि उस पुण्य से अनेक ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है) हे सर्वज्ञ प्रभो ! हम भक्तों के लिए शीघ्र ही वह अविनाशी सुख प्रदान करो जिससे पुनः वह सुख यहाँ दुःखबद्ध न हो, दुःख को प्राप्त न हो । हम हमेशा के लिए सुखी बन जायें ।

इस श्लोक में ओष्ठ स्थानीय उवर्ण, पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं । साथ में श्लोकावृत्ति होने से श्लोक यमक भी है । यमक का लक्षण और उसके भेद पाँचवें और छठे श्लोक के अर्थ में बताये गये हैं, वहाँ से देखने चाहिए ।

संक्षेप में, जहाँ अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णों की पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है।

जहाँ एक ही श्लोक को दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोक यमक कहते हैं। इस ३७-३८ वें श्लोक में एक ही श्लोक को दो बार पढ़ा गया है भिन्न-भिन्न रूप से। अतः यह महायमक अथवा श्लोकयमक है। इसमें ओष्ठ से उच्चरित उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय नहीं होने से निरौष्ठ्य श्लोक यमक अलंकार है।

(मुरजः)

शोकक्षयकृदव्याधे ! पुष्पदन्त ! स्ववत्पते !

लोकत्रयमिदं बोधे गोपदं तव वर्तते ॥३९॥

शोकेति-शोकक्षयकृत् शोकस्य क्षयः शोकक्षयः तं करोतीति शोकक्षयकृत्। अव्याधे न विद्यते व्याधिर्यस्यासावव्याधिः तस्य सम्बोधनं हे अव्याधे ! पुष्पदन्त नवमतीर्थकर। स्ववत्पते आत्मवतां पते। लोकानां त्रयम्। इदं प्रत्यक्षवचनम्। बोधे केवलज्ञाने। गोपदं गोष्पदम् अत्र सुपो नुब् भवति। तव ते वर्तते प्रवर्तते। ज्ञानस्य माहात्म्यं प्रदर्शितम्। गुणव्यावर्णनं हि स्तवः। किमुक्तं भवति हे पुष्पदन्त परमेश्वर ! तव बोधे लोकत्रयं गोष्पदं वर्तते यतः ततो भवानेव परमात्मा ॥३९॥

अन्वय - शोकक्षयकृत ! अव्याधे ! स्ववत्पते ! पुष्पदन्त ! तव बोधे इदं लोकत्रयं गोपदं वर्तते ॥३९॥

अन्वयार्थ - शोकक्षयकृत ! = हे शोक का क्षय करने वाले ! अव्याधे ! = हे व्याधियों से रहित। स्ववत्पते = आत्मज्ञानियों के स्वामी पुष्पदन्त ! हे पुष्पदन्त भगवान्। तव = आपके। बोधे = ज्ञान में। इदं = यह। लोकत्रयं = तीनों लोक। गोपदं = गाय के खुर में स्थित जल के समान। वर्तते = हैं।

अर्थ - हे शोक का क्षय करने वाले ! हे आधि-व्याधि से रहित ! हे आत्मस्वरूप का संवेदन करने वालों में श्रेष्ठतर ! पुष्पदन्त भगवन् ! आपके समुद्र के समान विशाल ज्ञान में ये तीनों लोक गोपद (कीचड़ में चिह्नित गाय के खुर) के समान प्रतीत होते हैं। अर्थात् तुच्छ हैं अतः प्रमेय पदार्थों की इयत्ता से आपके प्रमाण ज्ञान की इयत्ता नहीं आँकी जा सकती। भगवान का ज्ञान स्वभाव से अनन्त है, न कि अनन्त पदार्थों की अपेक्षा से।

इस श्लोक में समन्तभद्राचार्य ने पुष्पदन्त भगवान के ज्ञान गुण के माहात्म्य का कथन करके स्तवन किया है तथा आपका ज्ञान महान् होने से आप ही परमात्मा हैं। इस श्लोक में 'मुरज' बन्ध अलंकार है।

लोकस्य धीर ! ते वाढं रुचयेपि जुषे मतम् ।

नो कस्मै धीमते लीढं, रोचतेपि द्विषेऽमृतम् ॥४० ॥

लोकेति—लोकस्य भव्यजीवानां । हे धीर गम्भीर ! ते तव । वाढं अत्यर्थम् । रुचये दास्यं । अपि भिन्नक्रमे । जुषे च प्रीतये । तादर्थ्ये अप्ययं । मतं प्रवचनम् । नो प्रतिषेधवचनम् । कस्मैचित् जीवाय । धीमते च बुद्धिमते । लीढं आस्वादितम् । रोचते रुचिं करोति । अपि समुच्चयेऽर्थे । द्विषे-विद्विषे । अमृतं षोडशभागः । एतदुक्तं भवति—हे पुष्पदन्त धीर ! ते मतं लीढं लोकस्य रुचये जुषेपि वाढं रोचते । ननु धीमते रोचताम् । यावता हि यो द्वेषि तस्य कथं रोचते द्विषेपि अमृतं लीढं धीमते च । न कस्मै रोचते किन्तु रोचत एव ॥४० ॥

अन्वय — धीर ! लीढं ते मतं लोकस्य जुषे रुचये अमृतं वाढं कस्मै धीमते नो रोचते अपितु द्विषे अपि रोचते ।

अन्वयार्थ — धीर ! हे गम्भीर ! ते=आपका । लीढं=आस्वादन किया हुआ । मतं=प्रवचन । लोकस्य=भव्य जीवों को । वाढं=अत्यन्त । रुचये=रुचि के लिए-दीप्ति के लिए । जुषे=प्रीति के लिए होता है । अपि=क्योंकि । अमृतं=अमृत । कस्मै=किस । धीमते=बुद्धिमान के लिए । न=नहीं । रोचते=रुचिकर होता । अपितु आस्वादन किया हुआ अमृत । द्वेषे=शत्रु के लिए । अपि=भी । रोचते=रुचिकर होता है ॥४० ॥

अर्थ — हे गम्भीर, धीर, वीर पुष्पदन्त भगवन् ! आपका पावन प्रवचन वा दर्शन आस्वादन करने पर श्रवण, मनन, पठन करने पर किस भव्य प्राणी को आनन्द देने वाला नहीं होगा अपितु सर्व जीवों को तथा आप से द्वेष करने वाले को भी आनन्ददायक होगा । जैसे अमृत का आस्वादन, द्वेष रखने वाले और स्नेह रखने वाले दोनों को ही सुख देने वाला होता है । समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक में स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले दोनों में वीतराग प्रभु की समानता प्रकट की है ।

ॐ शीतल-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजः)

एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि प्रसादकः ।

भूतनेत्रे ! पतेऽस्यैव शीतलोपि च पावकः ॥४१ ॥

एतदिति—एतत् प्रत्यक्षवचनम् । चित्रं आश्चर्यम् । क्षितेः पृथिव्याः । एव अप्यर्थः । घातकोपि हिंसकोपि । प्रसादकः प्रपालकः । भूतानां जीवानां नेत्रं चक्षुः भूतनेत्रं तस्य सम्बोधनं हे भूतनेत्र । पते स्वामिन् । असि भवसि । एव अत्यर्थः । शीतलः भव्याह्लादकः दशमतीर्थविधाता । अपि च तथापि । पावकः

पवित्रः । विरुद्धमेतत् कथं शीतलः शीतलक्रियः पावकः अग्निः । यदि शीतलः कथं पावकः । अथ पावकः कथं शीतलः । यथा यो घातकः कथं प्रसादकः । अथ प्रसादकः कथं घातकः । विरुद्धमेतत् । एतदुक्तं भवति—हे भूतनेत्रपते क्षितेरेव आश्चर्यमेतत् । यो घातकोपि प्रसादकः । त्वं पुनः शीतलोपि च पावकः भवस्येव ॥४१॥

अन्वय - भूतनेत्रे ! पते ! एतच्चित्रं, क्षितेः घातकः अपि प्रसादकः एव च शीतलः अपि पावकः एव असि ।

अन्वयार्थ - भूतनेत्रे !=हे प्राणियों के लोचन ! पते=हे भगवन् । एतत्=यह । चित्रं=आश्चर्य है कि । क्षितेः=पृथिवी के । घातकः=घातक है । अपि=तथापि । प्रसादकः=पालक । एव=ही । असि=है । च=और । शीतलः=शीतल होकर । अपि=भी । पावकः=अग्नि । असि=है ।

अर्थ - इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है । इसलिए पहले इसमें विरोध प्रतीत होता है परन्तु एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । जब दूसरा अर्थ करते हैं तो विरोध का परिहार हो जाता है । जहाँ श्लेष इसका मूल होता है वहाँ विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इस श्लोक में 'क्षिति' 'शीतल' और 'पावक' शब्द श्लिष्ट हैं । जो पृथिवी का घातक है- वह पालक कैसे होगा ? तथा जो शीतल है वह पावक (अग्नि) कैसे होगा ? यह विरोध है परन्तु विरोध का परिहार इस प्रकार है ।

हे भव्य जीवों को सन्मार्ग दिखाने वाले शीतलनाथ भगवान् ! आप क्षितेः=पुद्गल परमाणुओं से निर्मित ज्ञानावरणादि कर्म रूप पृथ्वी पटल के । घातक=घातक हैं, नाश करने वाले हैं- अर्थात् आपने कर्म रूपी पृथ्वी का नाश कर दिया है और जो आप की भक्ति करता है उसके भी कर्मपटल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । आप सारे पृथ्वीगत प्राणियों के पालक, रक्षक हैं । अर्थात् आपकी किसी भी चेष्टा से प्राणियों का घात नहीं होता है तथा आप सब को 'अहिंसा परमोधर्मः' का उपदेश देने वाले हैं अतः क्षिति के पालक हैं ।

हे शीतलनाथ भगवान् ! आप परम शीतल, आन्तरिक शीतलता प्रदान करने वाले तथा 'पावक' परम पवित्र हैं । इस प्रकार भगवान् घातक भी हैं, प्रसादक (पालक, रक्षक) भी हैं और 'शीतल' भी हैं और 'पावक' परम पवित्र हैं । इस प्रकार विरोध का परिहार होता है । यह 'विरोध' क्षिति के समान जड़ (मूर्ख) मनुष्यों के ही होता है, विद्वानों के नहीं होता ।

(मुरजः)

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।

विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥४२॥



**कामेति**—काममत्यर्थं कमनीयं वा । एत्य गत्वा । जगत्सारं त्रिलोकसारम् । जनाः लोकाः । स्नात अज्ञानमलप्रक्षालनं कुरुष्वम् । महसां तेजसां निधिः अवस्थानं यः सः अतस्तं महोनिधिम् । विमलः निर्मलः अत्यन्तः अपर्यन्तः गम्भीरः अगाधः यः सः विमलात्यन्तगम्भीरः अतस्तं विमलात्यन्तगम्भीरम् । जिन एव अमृतमहोदधिः क्षीरसमुद्रः जिनामृतमहोदधिः अतस्तं जिनामृतमहोदधिम् । एतदुक्तं भवति—यतः एवम्भूतः शीतलभद्रारकः ततस्तं शीतलं जिनामृतमहोदधिं विमलं अत्यन्तगम्भीरं हे जना एत्य गत्वा स्नात कामम् ॥४२॥

**अन्वय** — जनाः एत्य कामं विमलात्यन्तगम्भीरं जगत्सारं महोनिधिं जिनामृतमहोदधिं स्नात ॥४२॥

**अन्वयार्थ** — जनाः=हे संसारी भव्य जीवो । एत्य=यहाँ आकर । कामं=इच्छानुसार । विमलात्यन्तगम्भीरं=निर्मल अत्यन्तगम्भीर । जगत्सारं=संसार में सारभूत वा श्रेष्ठ । महोनिधिं=मह-तेज की निधि (खान) । जिनामृतमहोदधिं=जिनेन्द्र रूपी क्षीरसमुद्र में । स्नात=स्नान करो ।

**अर्थ** — हे भव्य जीवो ! यहाँ आकर विमल (कर्ममल) रूपी कीचड़ एवं शैवाल से रहित, तीन लोक में श्रेष्ठ महान् तेज का स्थान, जिनेन्द्र भगवान रूपी अमृतसागर में अपनी इच्छानुसार स्नान करो तथा कर्ममल का प्रक्षालन करके अपने आपको पवित्र बनाओ ।

इस श्लोक में समन्तभद्राचार्य ने रूपक अलंकार के द्वारा जिनेन्द्र भगवान में और क्षीरसमुद्र में समानता प्रकट की है । इसमें जो विशेषण दिये गये हैं— वे प्रायः श्लेषमय होने से जिनेन्द्र और क्षीरसमुद्र दोनों में अच्छी तरह घटित होते हैं ।

जैसे- जिस प्रकार क्षीरसमुद्र कर्दम, शैवाल आदि मल से रहित होने से विमल है, अन्त वा पार रहित है— अत्यन्त विस्तृत है, अगाध होने से गम्भीर है; उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान भी द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित होने से विमल हैं, निर्मल हैं । अन्त से रहित हैं, अविनाशी हैं, रागद्वेष रहित होने से धीर वीर गम्भीर हैं । जिसप्रकार जिनेन्द्रदेव तीन लोक में सारभूत हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं; उसी प्रकार क्षीरसमुद्र भी जिनेन्द्र की अभिषेक क्रिया में उसका जल उपयोग में आने के कारण सारभूत है, जगत् में श्रेष्ठ है । 'मह' शब्द का अर्थ तेज, ज्ञान और उत्सव आदि अनेक हैं । 'महस्तूत्सवतेजसोः' इति विश्वलोचनः । जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि महातेज के भण्डार हैं, उसी प्रकार क्षीरसमुद्र भी 'महानिधि' देव कृत अनेक उत्सवों का भण्डार वा महारत्नों का स्थल है । जिस प्रकार समुद्र में स्नान करने से शरीर का मैल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिनामृतमहोदधि में स्नान करने से भक्तिपूर्वक प्रभु के गुणों का चिन्तन-मनन कर मन के द्वारा जिनामृत रूप महासमुद्र में अवगाहन करने से कर्म मल दूर हो जाता है, आत्मा पवित्र बन जाती है । इसलिए आचार्यदेव ने भव्य प्राणियों को इस जिनामृत रूप महाक्षीरसमुद्र में अवगाहन-स्नान करने का आदेश दिया है ।

इस श्लोक में भी 'मुरज बंध' अलंकार है।

卐 श्रेयोजिन-स्तुतिः 卐

(अर्द्धभ्रमनिरौष्ठ्यगूढचतुर्थपादः)

हरतीज्याहिता तान्तिं रक्षार्थायस्य नेदिता ।

तीर्थादि श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि ॥४३॥

हरतीति—अर्द्धेन भ्रमति यतः औष्ठ्याक्षरमपि न विद्यते सर्वत्र चतुर्थपादाक्षराणि च सर्वेषु पादेषु सन्ति ततो भवत्ययं एवंगुणः ।

हरति विनाशयति । इज्या पूजा । आहिता कृता । तान्तिं खेदं क्लेशं दुःखम् । रक्षार्था पालनार्था, आयस्य प्रयस्य यत्नं कृत्वा । नेदिता समीपीकृता अन्तिकस्य णिचि कृते नेदादेशस्य रूपमेतत् कान्तस्य । शीतलतीर्थविच्छेदे उत्पन्नो यतः ततः तीर्थादिः संजातः तस्य सम्बोधनं हे तीर्थादि । श्रेयसे अभ्युदयाय । नेता नायकः । अज्यायः वृद्धत्वहीनः । श्रेयसि एकादशतीर्थकरे त्वयि । अयस्य पुण्यस्य । हि यस्मात् । एतदुक्तं भवति—हे तीर्थादि अज्यायः त्वयि श्रेयसि आहिता इज्या रक्षार्था प्रयस्य पुण्यस्यान्तिका श्रेयोर्था इह लौकिकार्था तान्तिं दुःखं हरति । यतस्ततस्त्वं नेता नायक एव नान्यः । उत्तरश्लोके यानि विशेषणानि तान्यत्रैव दृष्टव्यानि ॥४३॥

अन्वय — तीर्थादि ! अज्यायः ! श्रेयसि, आयस्य नेदिता आहिता इज्या तान्तिं हरति, अयस्य रक्षार्था श्रेयसे हि नेता ॥४३॥

अन्वयार्थ — तीर्थादि ! = हे तीर्थ के प्रारम्भ में होने वाले । अज्यायः = वृद्धत्व से रहित प्रभो । श्रेयसि = श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थकर के प्रति । आयस्य = प्रयत्नपूर्वक । नेदिता = समीपीकृत । आहिता = की गई । इज्या = पूजा । तान्तिं = सांसारिक दुःखों को । हरति = नाश करती है । अस्य = पुण्य की । रक्षार्था = रक्षा के लिए । तथा । श्रेयसे = कल्याण के लिए होती है । हि = निश्चय से, हे भगवन् आप ही । नेता = नायक (महान्) हैं ।

अर्थ — भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ के समय जिनधर्म का भारतक्षेत्र में विच्छेद हो गया था । उसके बाद श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ था । इसलिए समन्तभद्राचार्य ने उन्हें तीर्थ की आदि में होने वाले कहा है ।

हे तीर्थ की आदि में होने वाले ! वृद्धत्व रहित-निरन्तर बुढ़ापे से रहित श्रेयांसनाथ भगवन् ! आप कल्याणकारी श्रेयांसनाथ के प्रति प्रयत्नपूर्वक समीपीकृत-मन, वचन, काय को एकाग्र करके अत्यन्त आंतरिक भक्तिपूर्वक की गई पूजा-स्तुति भव्य प्राणियों के मानसिक, शारीरिक, आगन्तुक आदि सारे

दुःख-खेद-क्लेश-संताप को दूर करती है, नाश करती है। भव्यों के पुण्य की रक्षा करती है अर्थात् पुण्यकर्म की वृद्धि करती है। सातिशय, परम्परा से मुक्ति के कारण ऐसे पुण्यानुबन्धी पुण्य के बंध की कारण होती है तथा अनेक स्वर्ग-सम्पदा, पंचकल्याणक आदि प्रदान करती है वा श्रेयांस-मोक्ष प्रदान करती है। अतः हे प्रभो ! आप ही इस लोक में सर्वश्रेष्ठ नेता हैं, नायक हैं ॥४३॥

यह श्लोक अर्द्धभ्रम है, इसमें ओठस्थानीय उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं। साथ में श्लोकावृत्ति होने से श्लोकत्रयमक भी है तथा चतुर्थ पाद के समस्त अक्षर तीन पादों में गूढ़ हैं अतः इस श्लोक की रचना को “अर्द्ध भ्रम निरौष्ठ्य गूढ़ चतुर्थ पाद” कहते हैं।

(अर्द्धभ्रमः)

अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।

वेषा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ॥४४॥

अविवेकेति—त्वयि श्रेयसि इत्यनुवर्तते। अविवेकः अनालोचनम्। न प्रतिषेधवचनम्। वा समुच्चये। जातु कदाचित्। विभूषा शरीरालंकारः। आपत् विपत् महासंक्लेशः। मनोरुजा चित्तपीडा। वेषा शरीरविन्यासः। माया वंचना। हे अज ! सर्वज्ञ ! वा समुच्चये। एनो वा पापं वा। कोपः क्रोधः हिंसापरिणामः। आगश्च अपराधश्च। जन्म उत्पत्तिः। न प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। किमुक्तं भवति—हे श्रेयन् अस्मिन् त्वयि अविवेको न कदाचिदभूत्, विभूषा वा न, आपद्वा न, मनोरुजा वा न, वेषा वा न, माया वा न, हे अज एनो वा न, कोपः आगश्च जन्म च न, यतः यतः ततो भवानेव नेतेति सम्बन्धः। अविवेको नास्तीति वचनेन सांख्य-सौगत-यौगानां निराकरणं कृतम्। अन्यैर्विशेषणैरन्ये निराकृताः ॥४४॥

अन्वय — अज ! त्वयि जातु अविवेकः न वा विभूषा आपत् मनोरुजा, वेषा, माया, एनः कोपः आगः वा च जन्म न।

अन्वयार्थ — इस श्लोक में ‘त्वयि श्रेयसि’ यह ऊपर के श्लोक से ग्रहण करना है अतः अज ! = हे सर्वज्ञ। त्वयि = आप में। श्रेयसि = श्रेयांसनाथ में। जातु = कभी भी। अविवेकः = अविवेक-अज्ञान। न = नहीं है तुझ में। विभूषा = शरीर के अलंकार। आपत् = विपत्ति महासंक्लेश परिणाम। मनोरुजा = मानसिक पीडा। वेषा = चित्रविचित्र वस्त्र के द्वारा या केशविन्यासादि। न = नहीं है। वा = तथा आप में। माया = छल-कपट। एनः = पाप। कोपः = क्रोध। अगः = अपराध। च = और। जन्म = जन्म-उत्पत्ति। न = नहीं हैं।

अर्थ — समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि हे सर्वज्ञ ! आप में अज्ञान का लेश मात्र नहीं है। आपके शरीर पर शरीर को अलंकृत करने वाले हार, मुकुट आदि आभूषण नहीं हैं। प्रभुवर ! आपके शरीर सम्बन्धी कोई व्याधि वा इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि आपत्तिर्यो नहीं हैं।

हे स्वामिन्! आपके किसी प्रकार मानसिक व्यथा नहीं है। किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प नहीं हैं, आप निर्द्वंद्व हैं।

आप स्वयं सौन्दर्य के स्वाभाविक ज्ञानादि आभूषणों से युक्त हैं- कामादि दुर्गुणों को आच्छादित करने वाले वस्त्र आदि से आपका शरीर अलंकृत नहीं है, आप सहज नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारी हैं।

भगवन्! आपका हृदय छल-कपट से रहित है, सरल है। हिंसादि पापों से रहित है, क्रोध के आवेश से रहित है।

हे प्रभुवर! आपकी क्रायादि की चेष्टा से कोई अपराध नहीं होता है अतः आप निरपराध हैं तथा आप जन्म से रहित हैं, अतः आप सब के नायक हैं, स्वामी हैं।

समन्तभद्राचार्य बहुत बड़े तार्किक, षट् दर्शन के ज्ञाता और न्यायनीति को जानने वाले थे इसलिए उनके भक्तिपरक ग्रन्थों में भी न्यायभरा है। उसी के अनुसार इस श्लोक में आचार्यवर्य ने सांख्य, बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य मतावलम्बी जो ईश्वर को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते किन्तु ज्ञान के संयोग से ज्ञानी मानते हैं वा सुख, दुःख ज्ञानादि गुणों से रहित मानते हैं उनका खण्डन करने के लिए कहा है कि आप में स्वप्न में भी अविवेक नहीं है, आप अनन्त गुणों के भण्डार हैं, निरन्तर ज्ञानमय रहते हैं। कितने ही दर्शन वाले अपने देव को अनेक आभूषणों, वेष विन्यास सहित तथा शत्रुओं को मारने के लिए चिन्ता, छल-कपट, क्रोध, पापाचार एवं अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से संयुक्त मानते हैं, उनका निराकरण करने के लिए अस्त्र-शस्त्र से रहित कहा है। कुछ अन्य मतावलम्बी एक बार ईश्वर के मुक्त हो जाने पर भी असत् पुरुषों का निग्रह तथा सज्जनों का उपकार करने के लिए उनका भूतल पर पुनर्जन्म मानते हैं- अर्थात् वे फिर से संसार के दुःखों को प्राप्त होते हैं, इस मत का निराकरण करने के लिए- 'आप पुनः जन्म नहीं लेते हैं-' ऐसा कथन किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय में लिखा है-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां ।

धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥

गीता, चतुर्थ अध्याय, श्लोक ६-७-८

“ 'अज' होने पर भी अव्यय आत्मा भूतों का ईश्वर होता हुआ भी जब-जब संसार में धर्म की ग्लानि होती है तब-तब मैं दुष्टों का निग्रह करने के लिए, शिष्टों का पालन करने के लिए तथा धर्म

की रक्षा करने के लिए माया से इस भूतल पर जन्म लेता हूँ।”

इस प्रकार जो मुक्तात्मा का संसार में अवतार मानते हैं उनका निराकरण करने के लिए समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक की रचना की है।

इस श्लोक में अर्द्धभ्रम अलंकार है।

(मुरजः)

आलोक्य चारु लावण्यं पदाल्लातुमिवोर्जितम् ।

त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम् ॥४५॥

आलोक्येति—आलोक्य दृष्ट्वा । चारु शोभनम् । लावण्यं सारूप्यं सौभाग्यम् । पदात् पादात् लातुं ग्रहीतुम् । इव औपम्ये । ऊर्जितं महत् । त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी । च अत्यर्थे । अखिला निरवशेषा । पुण्यं शुभम् । मुदा हर्षेण । दातुं दत्तुम् । ध्रुवोदितं नित्योद्गतम् । श्रेयसीत्यनुवर्त्तते । किमुक्तं भवति—यस्य श्रेयसो भट्टारकस्य पादात् त्रिलोकी अखिला आलोक्य लावण्यं किं विशिष्टं पुण्यं दातुं ध्रुवोदितमिवोर्जितं लतामिव ननाम इति सम्बन्धः । भट्टारकस्त्वं मा अव इत्युत्तरसम्बन्धः ॥४५॥

अन्वय — मुदा पुण्यं दातुं ध्रुवोदितं ऊर्जितं चारु लावण्यं आलोक्य पदात् लातुं इव अखिला त्रिलोकी (नमामि) ।

अन्वयार्थ — मुदा=हर्षपूर्वक । पुण्यं=पुण्य को । दातुं=प्रदान करने के लिए । ध्रुवोदितं=निरंतर उदित रहने वाले । ऊर्जितं=विस्तृत चारु=मनोहर । लावण्यं=सौन्दर्य को । आलोक्य=देखकर पदात्=तेरे चरणों से । लातुं=उस लावण्य को प्राप्त करने के लिए ही । इव=मानो । च=अत्यन्तार्थ (विशेषरूप से) अखिला=सारे । त्रिलोकी=तीन लोक का समूह । ननाम=नमस्कार करता है । इस श्लोक में 'तव' ऊपर के श्लोक से तथा 'ननाम' पद ४६ वें श्लोक से ग्रहण करना चाहिए ।

अर्थ — समन्तभद्राचार्य कहते हैं— हे प्रभो ! हर्षपूर्वक पुण्य को प्रदान करने के लिए निरंतर उदित और विस्तृत तेरे मनोहर लावण्य को देखकर 'यह ऐसा लावण्य हमको भी प्राप्त हो जावे' इस भावना से तेरे जैसे सौन्दर्य को तेरे चरणों से प्राप्त करने के लिए ही मानों सारा जगत् तेरे चरणों में नमस्कार करता है । इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है । कवि उत्प्रेक्षा करता है कि संसारी प्राणी बिना प्रयोजन आपके चरणों में नहीं झुकता है अपितु आपके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उस सौन्दर्य का इच्छुक होकर आपके चरणों में नम्र होता है ।

इस श्लोक के अर्थ में तव-ननाम शब्द लगाकर अन्त में हे ऐसे श्रेयांसनाथ ! आप हमारी रक्षा करो, यह सम्बन्ध भी लगाना चाहिए । यह श्लोक मुरजबंध है ।

(श्लोकयमकः)

अपराग ! समाश्रेयन्ननाम यमितोभियम् ।

विदार्यं सहितावार्यं ! समुत्सन्नज ! वाजितः ॥४६॥

अपराग ! स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।

विदार्यसहितावार्यं ! समुत्सन्नजवाजितः ॥४७॥ (युग्मं)

अपरागेति—अपराग वीतराग । समाश्रेयं सम्यगाश्रेयम् । ननाम नौतिस्म । त्रिलोकी इति सम्बन्धः । यं भङ्गारकं । इतः प्राप्तः । भियं भीतिम् । विदार्यं प्रभिद्य । सह हितेन वर्तन्ते इति सहिता तैरावार्यः परिवेष्टितः सहितावार्यः तस्य संबोधनं हे सहितावार्यं । सम्यग् मुत् हर्षः यस्यासौ समुत् । सन् भवन् । हे अज सर्ववित् । वाजितः कंटकितः । किमुक्तं भवति—यस्य पादात् त्रिलोकी लावण्यं लातुमिव यं ननाम । यं वा भव्यजनः इतः भयं विदार्यं सहर्षः सन् वाजितः कंटकितः पुलकितशरीरो भवति स त्वं मा अव इत्युत्तरत्र सम्बन्धः ॥४६॥

अपरागेति—परागः संपरायः । न विद्यते परागो यस्यासावपरागः तस्य संबोधनं हे अपराग । स त्वं । मा अस्मान् । हे श्रेयन् एकादशतीर्थकर । आमयः व्याधिः, न विद्यते आमयो यस्यासावनामयः तं अनामयं, मा इति सम्बन्धः । इतः इतः प्रभृति । अभियं अभयम् । विद् ज्ञानम्, आर्याः साधवः, तैःसहितः युक्तः विदार्यसहितः तस्य विदः ज्ञानिनः सम्बोधनं हे विदार्यसहित । अव रक्ष । आर्यं पूज्य । समुत्सन्नजव । आजितः संग्रामात् कलहात् प्रणयसंग्रामाद्वा । किमुक्तं भवति—स एवं विशिष्टः त्वं हे श्रेयन् इतः प्रभृति अनामयं अभियं मा रक्ष आजितः समुत्सन्नजव अपराग ॥४७॥

अन्वय — अपराग ! अज ! सहितावार्यं ! यं इतः भयं विदार्यं समुत्सन् वाजितः । समाश्रेयं ननाम । अपराग ! श्रेयन् ! विदार्यसहित ! आजितः समुत्सन्नजव स श्रेयः इतः अनामयं अभियं मा अव ।

अन्वयार्थ — अपराग=हे वीतरागदेव ! अज !=हे सर्वज्ञ । सहितावार्यं !=हे हितइच्छुक देव चक्रवर्ती आदि भव्यजीवों के द्वारा परिवेष्टित । यं=जिसको । इतः=प्राप्त हुए जो भव्यं । भयं=भय को । विदार्यं=नाशकर । समुत्सन्=हर्षित होकर । वाजितः=पुलकित होता हुआ । समाश्रेयं=सम्यक्प्रकार से आश्रय लेने योग्य आपको । ननाम=नमस्कार करता था । सः=वह । अपराग ! हे कषायरज से रहित प्रभो । श्रेयन्=ग्यारहवें तीर्थकर ! विदार्यसहित ! हे ज्ञानी साधुगणों से युक्त । आर्य ! सर्वश्रेष्ठ पूजनीय स्वामी । आजितः=रागद्वेषरूप संग्राम से । समुत्सन्नजव=उत्साह जिसका नष्ट हो गया अर्थात् रागद्वेष रूप संग्राम से रहित निष्कषायी भगवन् । इतः=आज से वह । अनामयं=नीरोगता । अभियं=निर्भयता को प्राप्त हो जाता है । अतः श्रेयन्=हे श्रेयांसनाथ भगवान् । मा-मेरी । अव=रक्षा करो ।

अर्थ - हे वीतराग सर्वज्ञदेव ! आप तीन लोक के सुर-असुरचक्रवर्ती आदि सभी जीवों को आश्रय देने वाले हैं, सभी के द्वारा पूज्य हैं, ध्येय हैं, सबका हित करने वाले हैं। स्वहित इच्छुक भव्य प्राणी रूप भँवरे निरन्तर आपके पदारविन्द को घेर कर बैठे रहते हैं। आपकी भक्ति-पूजा- वन्दना-ध्यान करते हैं।

हे प्रभो ! आप जैसे महापुरुष का सान्निध्य पाकर भक्त निर्भय हो जाते हैं अर्थात् सप्तभयों से मुक्त होकर आनन्द से रोमांचित पुलकितवदन हो जाते हैं।

प्रभुवर ! आप पराग से-कषायरज से (कषायरूपी धूलि से) रहित हैं। ज्ञानी श्रेष्ठ गणधरादि के द्वारा पूज्य हैं और रागद्वेष संग्राम से निर्मुक्त हैं।

हे एकादशवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ भगवान् ! जो आप की शरण में आकर आपको नमस्कार करता है, वह रोग से रहित और निर्भय हो जाता है। आपके दर्शन मात्र से प्राणी कृतकृत्य हो जाता है, हे भगवन् ! मैं आपकी शरण आया हूँ, मेरी रक्षा करो। मुझे संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दो। इस श्लोक का उपरितन श्लोक के साथ सम्बन्ध है। हे जिनेश्वर ! आप जैसी अवस्था वा सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिए जो आपके चरणों में नमस्कार करते हैं, वे भव्य वास्तव में निर्भय, नीरोग अवस्था को प्राप्त कर आनन्द से पुलकितवदन वाले बन जाते हैं। ऐसे हे भगवन् ! मुझ शरणागत की रक्षा करो, मुझे भी आप जैसी अवस्था प्रदान करो। यह यमक श्लोक है।

### 卐 वासुपूज्य-जिन-स्तुतिः 卐

(अनन्तरपादमुरजबन्धः)

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।

वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः क ईदृशः ॥४८॥

अर्थात्-प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोः पादयोः मुरजबन्धो दृष्टव्यः ।

अभिषिक्तः मेरुमस्तके स्नापितः । सुरैः देवैः । लोकैस्त्रिभिः भवनवासिमनुष्यदेवेन्द्रैः । भक्तः सेवितः । परैरन्यैः कैर्न सेवितः किन्तु सेवित एव । हे वासुपूज्य द्वादशतीर्थंकर । मयि विषये मम वा । ईशानामीशः ईशेशः त्वं । सुष्ठु पूज्यः सुपूज्यः । क ईदृशः युष्मत्समानः अन्यः क इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-हे वासुपूज्य यः लोकैः त्रिभिः अभिषिक्तः भक्तश्च सः अन्यैः कैर्न भक्तः सेवितश्च ततो मयि मम त्वमेव ईशेशः अन्यः ईदृशः सुपूज्यः कः यः अस्माकं स्वामी भवेत् ॥४८॥

अन्वय - वासुपूज्य ! त्वं सुरैः अभिषिक्तः त्रिभिः लोकैः भक्तः परैः कैः न भक्तः मयि त्वं ईशेशः ईदृशः सुपूज्यः कः ।

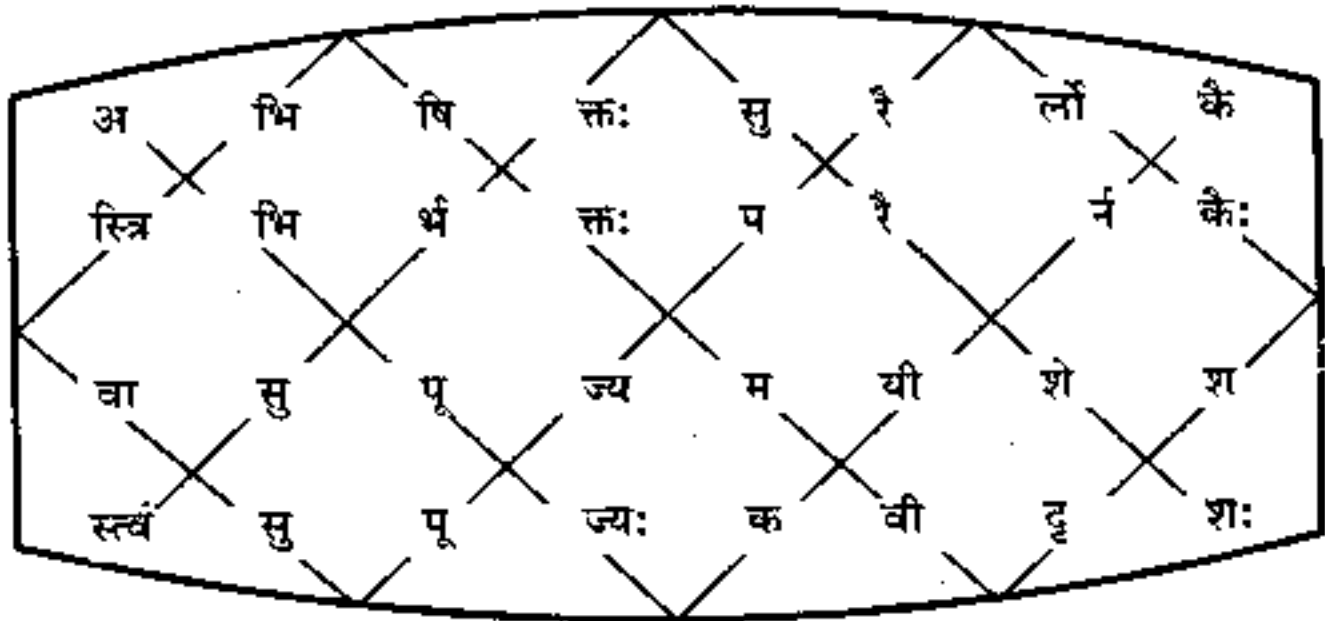
अन्वयार्थ - वासुपूज्य ! = हे वासुपूज्य बारहवें तीर्थकर । त्वं = आप । सुरैः = चार प्रकार के देवों के द्वारा । अभिषिक्तः = अभिषेक किये गये । त्रिभिः = तीन । लोकैः = लोकों के द्वारा । भक्तः = सेवित हो । परैः = अन्य । कैः = किसके द्वारा । न = सेवित नहीं हो अर्थात् सब के द्वारा पूजित हो । मयि = मेरे विषय में । त्वं = तुम ही । ईशेशः = ईशेश्वर हो । ईदृशः = आप जैसा । कः = कौन दूसरा । सुपूज्यः = पूजनीय है ।

अर्थ - हे प्रभुवर चतुर्निकाय (भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी) देवों ने सुदर्शन मेरु के मस्तक पर क्षीरसमुद्र के जल से आपका अभिषेक किया था । तीन लोक के सारे इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि ने आपकी सेवा-पूजा की थी । संसार में ऐसा कौन देव, दानव और मानव है जो आपका भक्त नहीं है । हे वासुपूज्य भगवान् ! मेरे लिए तो आप ही सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं, देवाधिदेव हैं, इस जगत् में आपके समान दूसरा महान् ईश्वर कौन है अर्थात् कोई नहीं है ।

अनन्तरपाद-मुरजबन्धः

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।

वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः करीदृशः ॥४८॥



इस चित्र में श्लोक का एक चरण अपने उत्तरवर्ती चरण के साथ मुरजबन्ध को लिये हुए है । ऐसे दूसरे श्लोक क्र.सं. ६४, ६६ और १०० हैं ।



(मुरजः)

चार्वस्यैव क्रमेऽजस्य तुंगः सायो नमन्नभात् ।

सर्वतो वक्त्रमेकास्यमंगं छायो नमप्यभात् ॥४९॥

चार्वेति—चारु शोभन्तुः अस्यैव क्रमे पद्ये। अथास्य सर्वज्ञस्य। तुंगः महान्। सायः सपुण्यः। नमन् स्तुतिं कुर्वन्। अभात् शोभते स्म। विरुद्धमेतत्। नमन् सन् कथं तुंगः। अस्य पुनरजस्य नमन्नपि तुंगः। अतः एवकारः अत्रैव। सर्वतः समंततः। वक्त्रं मुखं। एकास्यं यस्याङ्गस्य तदेकास्यं एकमुखम्। अङ्गं शरीरम्। छाया ऊनं छायेन छाया रहितम्। अछायत्वं ज्ञापितं भवति। छायेनमपि अभात् शोभते स्म। विरुद्धमेतत्—एकास्यमंगमपि सर्वतो वक्त्रं यद्येकास्यं कथं सर्वतो वक्त्रं, अथ सर्वतो वक्त्रं कथमेकास्यम्। एतदपि विरुद्धम्—यदि छायेनं कथमभात्, अथाभात् कथं छायेनम्। अन्यत्र विरुद्धं अस्य पुनः सर्वज्ञस्य न विरुद्धम्। घटत एव सर्वं यतश्च विरुद्धालंकृतिरियम्। किमुक्तं भवति—अनेन व्याजेन माहात्म्यं प्रदर्श्यास्य स्तवनं कृतं भवति ॥४९॥

अन्वय - अस्य अजस्य क्रमे नमन् तुंगः सायः अभात्। एकं आस्यं सर्वतः वक्त्रं छायेनं अपि चारु अंगं अभात् ॥४९॥

अन्वयार्थ - अस्य=इस। अजस्य=सर्वज्ञ भगवान् के। क्रमे=चरण-कमलों में। नमन्=नमस्कार करने वाला। तुंगः=उच्च। सायः=पुण्यवान् होता हुआ। अभात्=शोभित होता है। अस्य=इसके। एकास्यं=एक मुख होते हुए। अपि=भी। सर्वतः=चारों तरफ। वक्त्रं=मुख (दृष्टिगोचर होते हैं) छायेनं=छाया रहित। अंगं=शरीर। चारु=अत्यन्त। अभात्=शोभित होता है ॥४९॥

अर्थ - इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। जैसे- दूसरों के चरणों में झुकने वाला उच्च पद प्राप्त नहीं कर सकता, वह दास ही रहता है। जो उच्च होता है वह किसी के चरणों में नम्र नहीं होता। यह लोकप्रसिद्ध बात है, परन्तु तीन लोक के नाथ, इन्द्रों से पूजित, सर्वज्ञदेव वासु पूज्य भगवान् के चरणों में नमस्कार करने वाला पुरुष सातिशय पुण्य बाँध कर अन्त में उच्चपद मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है, यह वासुपूज्य के प्रति विरोध नहीं है।

जिसके एक मुख होता है वह एक तरफ एक दिशा में दिखाई देता है परन्तु भगवान् का मुख एक होकर भी चारों दिशाओं में दृष्टिगोचर होता है, यह बात विरुद्धसी प्रतीत होती है परन्तु केवली भगवान् के प्रति यह विरोध नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान के १० अतिशयों में से एक अतिशय यह भी है कि भगवान् का एक मुख चारों तरफ दिखता है। जो शरीर छाया-कान्ति रहित होता है वह शोभित वा सुन्दर प्रतीत नहीं होता है परन्तु वीतराग प्रभु का शरीर छाया रहित होकर भी शोभायमान है, यह विरोध प्रतीत होता

है। परन्तु छाया शब्द के छाया, कान्ति, सूर्य, प्रिया, प्रतिबिम्ब, अनातप आदि अनेक अर्थ होते हैं। छायारहित के विरोध का निराकरण है। छाया का अर्थ कान्ति नहीं है अपितु शरीर का प्रतिबिम्ब छाया। केवलज्ञान होने पर शरीर की छाया नहीं पड़ती, यह केवलज्ञान का अतिशय है- अतः जिसके शरीर की छाया नहीं पड़ती है तथा जो शरीर अत्यन्त सुन्दर है, यह अर्थ है।

समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक में भगवान् के अतिशय का कथन करके स्तुति की है कि भगवान् के चरणों में झुकने वाला सातिशय पुण्य का बन्ध करके परम्परा से मुक्ति पद को प्राप्त होता है। एकमुख होते हुए भी भगवान् के चार मुख दिखाई देते हैं। तथा भगवान् के शरीर की छाया नहीं पड़ती और भगवान् का शरीर अत्यन्त शोभनीय होता है।

## 卐 विमल-जिन-स्तुतिः 卐

(इष्टपादमुरजबन्धः)

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।

श्रीमद्विमलमर्च्यं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥

क्रमेति—क्रमतां अप्रतिबन्धेन ब्रजतु। ब्रजतां वा। अक्रमं युगपत्। क्षेमं कुशलं सुखम्। धीमतां बुद्धिमताम्। कर्त्तरि ता। अर्च्यं पूज्यम्। अश्रमं श्रमरहितं अक्लेशम्। श्रीमांश्चासौ विमलश्च श्रीमद्विमलः अतस्तं श्रीमद्विमलं परमतीर्थकरं त्रयोदशम्। अर्चं क्रियापदं लोडन्तम्। इमं प्रत्यक्षवचनम्। वामैः प्रधानैः काम्यते इष्यते इति वामकामः अतस्तं वामकामम्। नम च चशब्दोऽनुक्तो दृष्टव्यः। क्षमं समर्थं क्रोधादिरहितमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—श्रीमद्विमलं सर्वविशेषणविशिष्टं अर्चं नम च धीमतामर्च्यं क्षेमं क्रमतां अक्रमं सर्वेषां प्रणामादेव शान्तिर्भवति ॥५०॥

अन्वय - अक्रमं क्रमतां क्षेमं, धीमतां अर्च्यं, अश्रमं, वामकामं क्षमं इमं श्रीमद्विमलं अर्चं नम।

अन्वयार्थ - अक्रमं=क्रमरहित एक साथ सर्वपदार्थों को। क्रमतां=जानने वाले। क्षेमं=कल्याणकारी। धीमतां=बुद्धिमानों के द्वारा। अर्च्यं=पूजनीय। अश्रमं=श्रमरहित। वामकामं=गणधरादि महापुरुषों के द्वारा वाञ्छित। क्षमं=समर्थ वा क्षमता के धारी। इमं=इस। श्रीमद्विमलं=श्रीमान् विमलनाथ भगवान् को। अर्चं=पूजो। नम=नमस्कार करो।

अर्थ - तीन लोक और त्रिकालवर्ती सारे पदार्थों को जो एक साथ जानते हैं, महामंगल स्वरूप हैं, ज्ञानीजनों के द्वारा पूज्य हैं, आराध्य हैं। जो सर्व क्लेश, खेद, चिन्ता आदि से रहित हैं वा अनन्त शक्ति के धारक हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि प्रधान पुरुष जिनके चरणों की सेवा करने

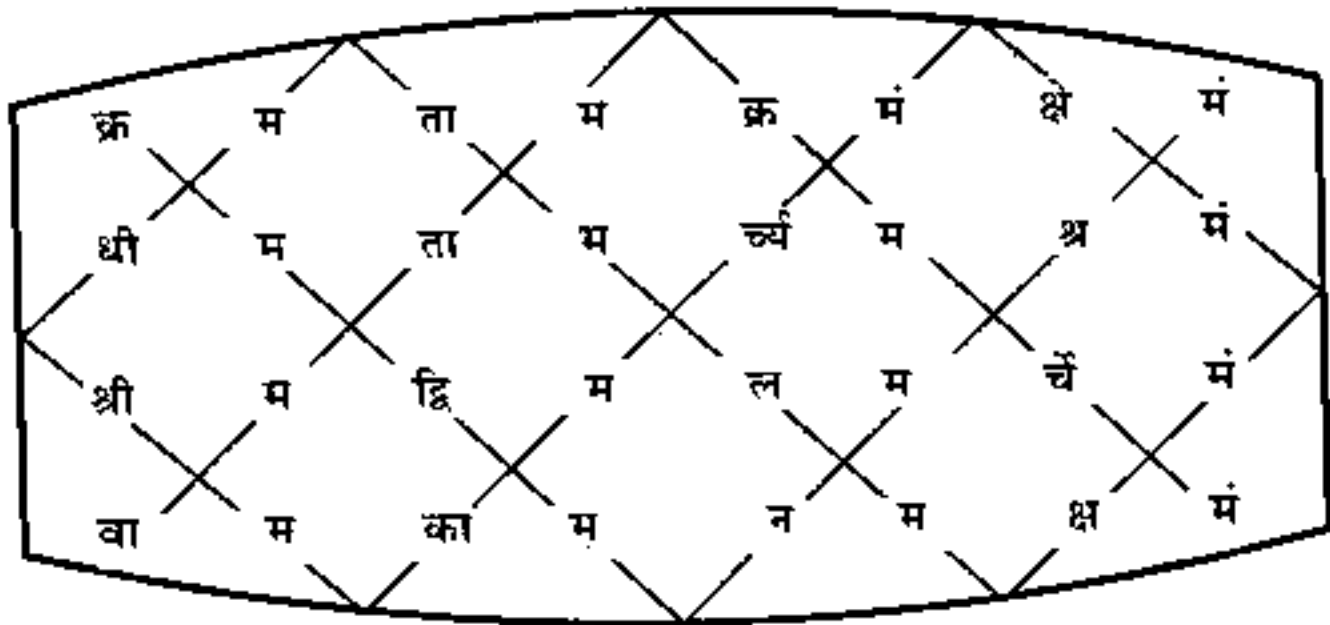
की इच्छा करते हैं। जो क्षम-समर्थ हैं, क्रोधादि विभाव भावों से रहित हैं, ऐसे अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी इन तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ भगवान को हे भव्य जीवो! नमस्कार करो, उनकी पूजा करो।

संसार में दुःख की प्राप्ति के मुख्य दो कारण हैं— कषाय और अज्ञान। हमारे आराध्य देव वीतराग-कषायरहित हैं और सर्वज्ञ-अज्ञानरहित हैं। अर्थात् दुःख के दोनों कारणों से रहित हैं, वे अनन्त सुख के धनी हैं। जो भव्य जीव सच्चे हृदय से उनकी भक्ति-अर्चा-श्रद्धा करता है, वह भी वीतराग प्रभु के समान सुख का भोक्ता परमात्मा बन जाता है। अतः संसार के दुःखों से छूटने के लिए भगवान की अर्चा करनी चाहिए।

यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्धः

क्रमतामक्रमं क्षमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।

श्रीमद्विमलमर्च्यं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥



मुरजबन्ध के इस चित्र में ऊपर के चित्र से यह विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट अक्षर (म) एक-एक अक्षर के अन्तर से पद्य के चारों ही चरणों में बराबर प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार के दूसरे श्लोक ८९ और ९१ हैं। अतः इसको यथेष्टैकाक्षरान्तरित मुरजबन्ध कहते हैं।

(द्व्यक्षरपादाभ्यासयमकः)

ततोमृतिमतामीमं तमितामतिमुत्तमः ।

मतोमातातिता तोत्तुं तमितामतिमुत्तमः ॥५१॥

ततोमृतीति-द्वितीयपादोभ्यस्तः पुनरुक्तः तकारमकारयोरेवास्तित्वं नान्येषाम् । यतस्ततो भवत्ययं

द्व्यक्षरपादाभ्यासयमकः ।

विमल इत्यनुवर्तते। ततस्तस्मादहं विमलं अमृतिं मरणवर्जितम्। अतामि सततं गच्छामि। इमं प्रत्यक्षवचनम्। तमिता विनाशिता अमतिः अज्ञानं येनासौ तमितामतिः तं तमितामतिम्। उत्तमः प्रधानः यतस्त्वमिति सर्वत्र सम्बन्धः। मतः पूजितः अमाता अहिंसकः। अतिता सततगतिरहमिति सम्बन्धः। तोत्तुं प्रेरितुम् तमितां अक्षमस्व रूपम्। अति पूज्या मुत् हर्षः यस्यासौ अतिमुत्, सर्वे इमे अतिमुदः, एतेषां मध्ये अयमतिशयेन अतिमुत् अतिमुत्तमः किमुक्तं भवति—यतो भवतः प्रणामादक्रमः क्षेमं क्रमते स्तोतृणाम् ततोऽहमुत्तमः सन् अति मुत्तमः सन् मतः अमाता अतिताहं तोत्तुं तमितां क्लेशितुं अताम विमलं अमृतिम्॥५१॥

अन्वय — ततः अतिमुत्तमः अहं तमितां तोत्तुं अमृतिं तमितामतिं इमं अतामि त्वं उत्तमः मतः अमाता अहं अतिता।

अन्वयार्थ — ततः=आपकी स्तुति से अनेक कल्याण प्राप्त होते हैं इसलिए। अतिमुत्तमः=अत्यन्त हर्षित हुआ (अहं=मैं) तमितां=दुःखों का। तोत्तुं=नाश करने के लिए। अमृतिं=मृत्यु से रहित। तमितामतिं=अज्ञान को नाश करने वाले। इमं=इन विमलनाथ भगवान् की। अतामि=शरण जाता हूँ। हे भगवन्! आप। उत्तमः=अति उत्तम हो। मतः=सबके द्वारा पूजित हो। अमाता=अहिंसक। अतिता=सतत गमन करने वाला हूँ।

अर्थ — समन्तभद्राचार्य कहते हैं- भगवन्! सच्चे हृदय से आपकी भक्ति करने वाले भव्य प्राणी शीघ्र ही आपके समान बन जाते हैं, सांसारिक दुःखों से छूट जाते हैं इसलिए मैं भी उन दुःखों से छूटने के लिए वा कर्मों को जड़मूल से उखाड़ने के लिए अत्यन्त हर्षित होता हुआ जन्म-मरण से रहित और सारे अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाले विमलनाथ भगवान की शरण जाता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ। हे भगवन्! आप सर्वोत्तम हैं, सुर-असुर-मानव आदि सबके द्वारा पूजित हैं और परम अहिंसक हैं परन्तु मैं आपसे विपरीत चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करने वाला हूँ। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा हूँ।

शब्दार्थ — 'तमित्' धातु नाश अर्थ में है अतः नाश कर दिया है 'अमति' कुमति को जिसने वह तमितामति-सर्वज्ञ कहलाता है। 'अति' अतिअधिक है 'मुत्' हर्ष वह अतिमुत् उसमें भी श्रेष्ठ अतिमुत्तमः=अति अधिक श्रेष्ठतम हर्ष वाला। 'अत्' धातु निरन्तर गमन करने में है अतः निरन्तर गमन करने वाला 'अतिता'।

यह श्लोक सिर्फ 'त' और 'म' इन दो अक्षरों से रचित है तथा इसका दूसरा और चतुर्थ चरण एक समान है अतः इसमें व्यंजन चित्र और यमक अलंकार है।

(अक्षरद्वयविरचितसमुद्गयमकः)

नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।

नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात् ॥५२॥

नेतेति—यादृग्भूतं पूर्वाद्धिं पश्चाद्धिमापे तादृग्भूतमेव । तकारनकारयोरेवास्तित्वं नान्येषाम् । अतः एवंभूतः ।

न प्रतिषेधः । इतान् प्राप्तान् । अतनुते अशरीरित्वे (तलन्तं) तस्य विकल्पेन आडागमः । न विद्यते एनः पापं यस्यासौ अनेनाः तस्य सम्बोधनं हे अनेनः । अनितान्तं क्लेशरहितं यथा भवति । न अततः न सदा गच्छतः पूर्वोपि न शब्दः अत्रैवाभिसम्बन्धनीयः तेन किमुक्तं भवति—न न अततः अतत एव । द्वौ प्रतिषेधी प्रकृतमर्थं गमयतः । नुतात् प्रणुतात् । नेता नायकः । न तनुते महान् संपद्यते, न अत्रापि पूर्ववत् सम्बन्धः । न न तनुते किन्तु तनुत एव । इनः स्वामी सन् । नितान्तं अत्यर्थं । ना पुरुषः । ततः तस्मात् । नुतात् नुयात् । तातडन्तं क्रियापदम् । किमुक्तं भवति—इतान् प्राप्तान् न न अततः संसारिणः अतनुते अशरीरित्वे सिद्धत्वे तनुते विस्तारयति नायकः स्वामी यः प्रणामाद्धेतोः । अतः तं ना नुतात् ॥५२॥

अन्वय — अनेनः ! इतान् 'न न अततः नाततः' अनितान्तं अतनुते नुतात् इनः नेता न तनुते न ततः ना नितान्तं नुतात् ।

अन्वयार्थ — अनेनः ! = हे पापरहित भगवान् । इनान् = शरणागत । नाततः = संसार में न भटकने वाले । न = नहीं अर्थात् संसार में भटकने वाले संसारी प्राणियों को । अनितान्तं = बिना क्लेश । अतनुते = शरीर रहित । तनुते = कर देते हैं । नुतात् = नमस्कार करने से । ना = पुरुष । इनः = सबके स्वामी । नेता = नायक । न तनुते न । नहीं बनाते हो ऐसा नहीं है । ततः = इसलिए । नुतात् = इसको नमस्कार करो ।

अर्थ — हे पापरहित प्रभुवर ! आप शरणागत संसारी प्राणियों को बिना क्लेश के शरीर रहित अवस्था—सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करा देते हैं । तथा आपको नमस्कार करने वाला प्राणी सबका स्वामी और नेता बन जाता है । इसलिए समन्तभद्राचार्य कहते हैं हे भव्य प्राणियो ! तुम इस महापुरुष को नमस्कार करो । अर्थात् समन्तभद्राचार्य ने प्रभु की भक्ति करने के लिए भव्य जीवों को प्रेरित किया है ।

शब्दार्थ — तनु-शरीर, उसका भाव तनुता । नहीं है 'तनुता' शरीरत्व जिसमें वह 'अतनुता' तस्मिन् अतनुते सिद्धपर्याय में । 'गोस्त्रियो रूप सर्जनस्य इत्युपसर्जनस्वत्वे' इस प्रकार तनु शब्द के ह्रस्व होने पर भी संस्कृत टीकामें तलन्त (स्त्रीलिंग में) अट् का आगम किया है । नुतात् = नमस्कार करने से । 'क्त' प्रत्यय किया है ।

यह चक्र श्लोक है । 'न' और 'त' इन दो अक्षरों से रचित है, अन्य अक्षर इसमें नहीं हैं । अतः अक्षरद्वय विरचित समुद्गयमक है ॥५२॥

(चक्रश्लोकः)

नयमानक्षमामान न मामार्यार्त्तिनाशन ।

नशनादस्य नो येन नये नोरोरिमाय न ॥५३॥

नयमेति - नयमानक्षम पूज्यमानक्षम नयमाना क्षमा यस्यासौ नयमानक्षमः तस्य सम्बोधनं हे नयमानक्षम । न विद्यते मानं उद्धतिः परिमाणं वा यस्यासावमानः तस्य सम्बोधनं हे अमान । न प्रतिषेधवचनम् । मां अस्मदः इवन्तस्य रूपम् । आर्याणां साधूनां अर्त्तिः पीडा तां नाशयतीत्यार्यार्त्तिनाशनः कर्त्तरि ल्युट् बहुलवचनात् । ततः हे आर्यार्त्तिनाशन । नशनात् विनाशात् जातिजरामरणेभ्यः इत्यर्थः । अस्य उत्सारय । असुक्षेपणे इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम् । नो प्रतिषेधः । येन कारणेन नये पूजामहं लभे संमाननेयं विधिः । न नो प्रतिषेधवचने अत्र सम्बन्धनीये । न नो नये किन्तु नये एव । द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः । न प्रतिषेधे । हे उरो महन् । अरिमाय अरिहिंसक । अरीन् अन्तः शत्रून् मिनाति हन्तीति अरिमायः ततः हे अरिमाय । पूर्वोक्तोऽपि न अत्र सम्बन्धनीयः । हे न न अरिमाय । किमुक्तं भवति-हे नयमानक्षम अमान आर्यार्त्तिनाशन न न अरिमाय मां विनाशात् अस्य अपनय । येन न नो नये अहं । येन पूजामहं लभे इत्यर्थः ॥५३॥

अन्वय - नयमानक्षम ! अमान ! आर्यार्त्तिनाशन ! उरो ! न न अरिमाय ! मां नशनात् अस्य । येन न नो नये ।

अन्वयार्थ - नयमानक्षम ! = प्रशंसनीय क्षमाभाव से सम्पन्न । अमान = हे अहंकार शून्य । आर्यार्त्तिनाशन = हे साधुजनों की पीड़ा के नाशक । उरो = हे सर्वश्रेष्ठ । न अरिमाय ! = कर्मशत्रुओं के घातक नहीं हैं ऐसा नहीं अपितु कर्मशत्रुओं के घातक हैं अतः हे कर्मशत्रुओं के घातक । प्रभु । मां = मुझको । नशनात् = जन्म मरण से । अस्य = दूर करो । (मेरे जन्म-मरण का नाश करो) येन = जिससे । ननो नये = मैं भी पूजा को प्राप्त नहीं होऊँ, ऐसा नहीं है अपितु पूजा को प्राप्त होऊँगा ही ।

अर्थ - हे प्रशंसनीय महाक्षमा के धारी ! हे अहंकार-ममकार रूप विकल्पों से रहित ! हे आर्य पुरुषों की शारीरिक, मानसिक पीड़ा के नाशक ! हे कर्मशत्रुओं के संहारक ! हे सर्वश्रेष्ठ भगवन् ! मुझे इस सांसारिक जन्म, मरण के दुःखों से दूर कर दो, मेरे जन्म-मरण के दुःखों को नष्ट कर दो । जिससे हे भगवन् ! मैं आप जैसी स्वात्मोपलब्धि रूप परम पद को प्राप्त हो जाऊँ, महान् बन जाऊँ ।

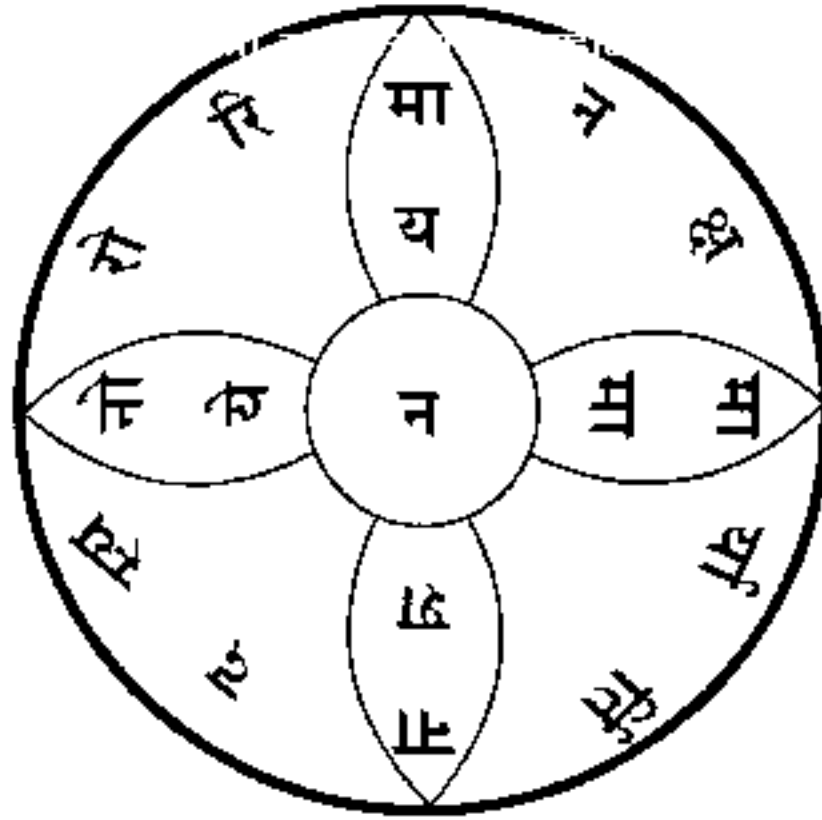
शब्दार्थ - नयमान, पूजनीय क्षमा जिसके होती है वह 'नयमानक्षमः' होता है और सम्बोधन में 'नयमानक्षय' है जिसके मान कषाय नहीं है वह अमान कहलाता है ।

आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषों की 'अर्त्ति' पीड़ा के नाशक आर्यार्त्तिपीड़ा नाशक होता है । अरि (शत्रु) का 'माय' घातक अरिमाय । अरीन् मिनाति हन्ति इति अरिमायः ।

अथवा-नयमान क्षमा । मानन ! लक्ष्मीसुख । मा-मारी । अर्त्ति-आर्त्तध्यान जिसके है सः मार्यार्त्ति । ना अशन । यह अर्थ भी होता है ।

यह श्लोक चक्रक है । अलंकार चिन्तामणि के द्वितीय परिच्छेद में चित्रालंकार के अवान्तर भेद का पादोत्तर जाति का उदाहरण रूप से लक्षण लिखा है ।

इसका चित्र इस प्रकार है—



ॐ अनन्त-जिन-स्तुतिः ॐ

(गूढस्वेष्टपादचक्रश्लोकः)

वर्णभार्यातिनन्द्याव वन्द्यानन्त सदारव ।

वरदातिनतार्याव वर्यातान्तसभार्णव ॥५४॥

वर्णेति-आत्मनः इष्टं पादः सोन्येषु पादेषु गुप्यते यतः । वर्णेन शरीरप्रभया भाति शोभते इति वर्णभः शरीरकान्त्युत्कट इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं हे वर्णभ । आर्य्य पूज्य । अतिनन्द्या सुष्टुसमृद्ध । अव रक्ष । लोडन्तस्य रूपं क्रियापदम् । वन्द्य देवासुरैरभिवन्द्य । हे अनन्त चतुर्दशतीर्थकर । सन् शोभनः आरवः वाणी सर्वभाषात्मिका यस्यासौ सदारवः तस्य सम्बोधनं हे सदारव । वरद इष्टद कामदायक । अति शोभनं नताः प्रणताः अतिनताः अतिनताश्च ते आर्याश्च अतिनतार्याः तान् अवति रक्षतीति अतिनतार्यावः तस्य सम्बोधनं हे अतिनतार्याव । वर्य प्रधान । सभा एव अर्णवः समुद्रः सभार्णवः अतान्त अत्विभिन्नः अक्षुभितः

सभार्णवः समवसृतिसमुद्रः यस्यासौ अतान्तसभार्णवः तस्य सम्बोधनं हे अतान्तसभार्णव । किमुक्तं भवति-हे अनन्त वर्णभादिविशेषणविशिष्ट अव पालय मामिति सम्बन्धः । अन्याश्च पालय ॥५४ ॥

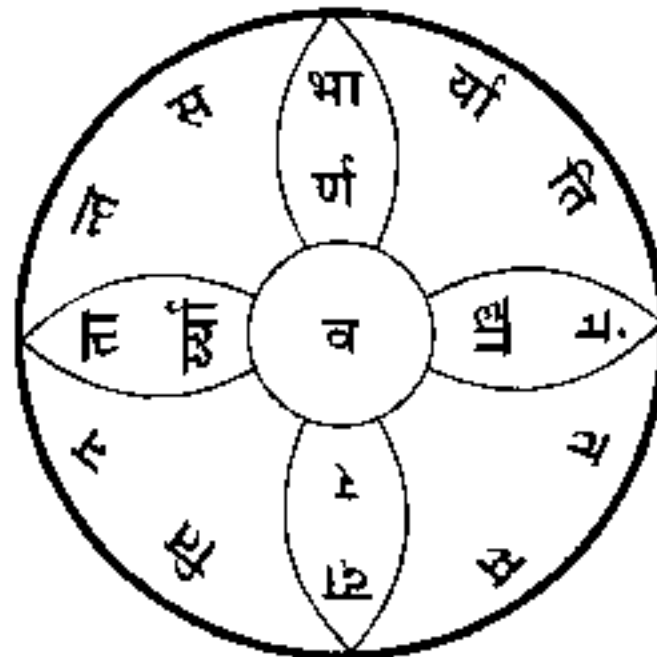
अन्वय - वर्णभ ! आर्य्य ! अतिनन्द्य ! वन्द्य ! सदारव ! वरद ! अतिनतार्याव ! वर्य्य ! अतांत समार्णव ! अनंत ! अव ।

अन्वयार्थ - वर्णभ !-हे अनुपम शारीरिक प्रभा से शोभित !, आर्य्य !-हे पूजनीय । अतिनन्द्य ! हे सम्यक्प्रकार से समृद्ध । वन्द्य ! हे सुर-असुरों के द्वारा वन्दनीय ! सदारव ! शोभनीय सर्वभाषात्मक वाणी के धारक ! वरद=इच्छित वस्तु को प्रदान करने वाले । अतिनतार्याव !=हे अत्यन्त नम्र साधु पुरुषों की रक्षा करने वाले ! वर्य्य !-हे श्रेष्ठ पुरुष ! अतान्तसमार्णव !-हे अक्षुभित समवसरण समुद्र से संयुक्त । अनन्त ! चतुर्दशवें तीर्थंकर अनन्तनाथ भगवान् । अव=रक्षा करो ।

अर्थ - समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि- अनुपम शारीरिक कान्ति के धारक, हे पूजनीय ! हे सम्यक्प्रकार से समृद्धि को प्राप्त अर्थात् अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न ! सुर असुर चक्रवर्ती आदि सर्व महापुरुषों के द्वारा वन्दनीय पूजनीय ! प्रशंसनीय सर्वभाषात्मक दिव्य ध्वनि के धारक ! इष्टवरदायक ! हे अत्यन्त नम्र ! आर्यजनों की रक्षा करने वाले ! हे सर्वोत्कृष्ट ! हे अक्षुभित समवसरण रूप समुद्र से संयुक्त चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ भगवान ! मेरी रक्षा करो । मुझे संसार समुद्र से निकालो ।

इस श्लोक में स्वेष्ट इच्छानुसार एक चरण तीन चरणों में गूढ़ है तथा चक्रबद्ध नाम चित्रालंकार भी है इसलिए इसको गूढ़ स्वेष्टपादचक्र श्लोक कहते हैं ।

इसका चित्र इस प्रकार है-



इसमें तीन चरण में चार चरण गर्भित हैं ।



(गूढद्वितीयतृतीयान्यतरपादद्वयक्षरमयश्लोकः)

नुन्नानृतोन्नतानन्त नूतानीतिनुताननः ।

नतोन्नोन्नितान्तं ते नेतातान्ते निनौति ना ॥५५॥

नुन्नेति—द्वितीयतृतीयान्यतरपादो गुप्यते नकारतकारयोरेवास्तित्वं नान्येषां यतः ।

नुन्नं क्षिप्तं अनृतं असत्यं येनासौ नुन्नानृतः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नानृत अनेकान्तवादिन् । उन्नत महन् । अनन्यसम्भूतैर्गुणैर्यदि भट्टारकस्य उन्नतत्वं न भवति कस्यान्यस्य भविष्यति । अनन्त अपरिमाण भट्टारकस्य नाम वा । नूताः स्तुताः अनीतयः सिद्धा यैस्ते नूतानीतयः तैर्नृतं स्तुतं पूजितं आननं मुखं यस्य स्तोतुः असौ नूतानीतिनुताननः स्तुतिकर्ता पुरुषः । नतः प्रणतः । अनूनः अविकलः सम्पूर्णः । अनितान्तं क्लेशरहितं, क्लेशरहितं यथा भवति क्रियाविशेषणमेतत् । ते त्वां तुभ्यं वा । नेता नायकः इन्द्रादिः । अतान्ते अतान्तनिमित्तम् मोक्षनिमित्तमित्यर्थः । निनौति प्रणौति । ना पुरुषः चक्रधरादिः । किमुक्तं भवति—हे अनन्त ! नुन्नानृत ! उन्नत ! नेता निनौति नेता नायकोपि सन् । विरुद्धमेतत् । यदि नायकः कथमन्यस्य प्रणामं करोति, अथ प्रणामं करोति कथं नायकः । त्वां पुनः नौति नायकोपि मोक्षनिमित्तं ततस्त्वमेव नायकः ॥५५॥

अन्वय — नुन्नानृत ! उन्नत ! अनन्त ! नूतानीतिनुताननः नतः अनूनः नेता ना अतान्ते अनितान्तं ते निनौति ।

अन्वयार्थ — नुन्नानृत ! = नष्ट कर दिया है - असत्य को जिसने ! (हे असत्य को नष्ट करने वाले) उन्नत ! - हे महान् ! अनन्त ! अनन्तनाथ भगवान् ! नूतानीति नूताननः = स्तुतसिद्धों की स्तुति करने के लिए मुखरित है मुख जिनका । नतः = झुके हुए । अनूनः = परिपूर्ण है ऐसे । नेता = इन्द्रादि नेता । ना = पुरुष । अतान्ते = मोक्षप्राप्ति के लिए । अनितान्तं = बिना क्लेश के । ते = तुझको । निनौति = नमस्कार करते हैं ।

अर्थ — 'नुन्न' का अर्थ नाश करना है । 'अनृत' का अर्थ असत्य है, इसका सम्बोधन है— एकान्तवाद रूप समस्त असत्य को नष्ट कर अनेकान्त रूप तत्त्व का कथन करने वाले, महान् सर्वश्रेष्ठ हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र भगवान्, स्तुत्य सिद्धपरमेष्ठी प्रभु की स्तुति करने के लिए जिनका मुख मुखरित है तथा जो आपके चरणों में निरंतर रत हैं, लीन हैं ऐसे परिपूर्ण (सम्पूर्ण) जगत् के प्रधान नेता इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुष मोक्षप्राप्ति के लिए बिना किसी क्लेश के सहज स्वभाव से प्रेरित होकर आपको नमस्कार करते हैं ।

यह श्लोक विरोधाभास अलंकार से अलंकृत है, जैसे कि जो स्वयं नायक वा प्रधान होता है, वह दूसरों के चरणों में झुकता नहीं है, यदि झुकता है तो नेता प्रधान नहीं रहता है परन्तु संसार के सारे नेतागण आपके चरणों के दास बने हैं, आप सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ हैं अतः आपके चरणों में सर्व नेता नम्र

हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः स्वाभाविक भावना से प्रेरित होकर संक्लेश के बिना हर्षित होकर आपको नमस्कार करते हैं और इसके फलस्वरूप आप जैसी सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

इस श्लोक में द्वितीय और तृतीयान्तर पाद गुप्त है तथा नकार एवं तकार इन दो अक्षरों का ही इसमें अस्तित्व है।

द्वितीय तृतीयपाद गूढ़ होने से इसका नाम गूढ़ द्वितीय तृतीय पाद द्वय अक्षर यमक श्लोक है।

卐 धर्म-जिन-स्तुतिः 卐

(गूढद्वितीयचतुर्थान्यतरपादोऽर्द्धधर्मः)

त्वमबाध ! दमेनर्द्ध-मत धर्मप्र गोधन ।

बाधस्वाशमनागो मे धर्म ! शर्मतमप्रद ॥५६ ॥

त्वमेति-त्वं युष्मदो रूपम् । न विद्यते बाधा यस्यासावबाधः तस्य सम्बोधनं हे अबाध । दमेन उत्तमक्षमया ऋद्ध वृद्ध । मतःपूजितः । धर्मप्र उत्तमक्षमादिना आप्यायकपूरण । गोधन गौर्वणी धनं यस्यासौ गोधनः तस्य सम्बोधनं हे गोधन । बाधस्व विनाशय । अशं दुःखम् । अनागः निर्दोष । मे मम । धर्म पञ्चदशतीर्थकर । शर्म सुखम् । सर्वाणि इमानि शर्माणि एतेषां मध्ये अतिशयेन इमानि शर्माणि शर्मतमानि तानि प्रददाति यः सः शर्मतमप्रद तस्य सम्बोधनं हे शर्मतमप्रद । एतदुक्तं भवति- हे धर्म अबाध दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन अनागः शर्मतमप्रद त्वं मे अशं बाधस्व ॥५६ ॥

अन्वय - अबाध ! दमेनर्द्ध ! मत ! धर्मप्र ! गोधन ! अनागः ! शर्मतमप्रद ! धर्म ! त्वं मे अशं बाधस्व ।

अन्वयार्थ - अबाध !-हे बाधा रहित ! दमेनर्द्ध !-हे इन्द्रियदमन वा उत्तम क्षमा से वृद्ध-परिपूर्ण ! मतः-हे परमपूज्य ! धर्मप्र !-हे उत्तम क्षमादि धर्मों के पूरक वा धारक । गोधन !- हे दिव्यध्वनि रूप धन से सम्पन्न ! अनागः !- हे अपराध वा पापभाव से रहित । शर्मतमप्रद ! उत्तम मोक्षसुख को प्रदान करने वाले । धर्म !- हे धर्मनाथ भगवान् । त्वं=आप । मे=मेरे । अशं=दुःखों को । बाधस्व=नष्ट करो ।

अर्थ - आत्मीय सुखों में बाधा देने वाले द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म से रहित होने से भगवान् अबाध हैं, अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से होने वाली विनाशीक पर्यायों से रहित होने से विनाश रहित हैं । जिन्होंने इन्द्रियों का दमन कर महाऋद्धियाँ प्राप्त की हैं अथवा जो क्षमादि धर्मों से परिपूर्ण हैं । दिव्य ध्वनि रूप महान् धन के धारक हैं । रागद्वेष, काम, क्रोधादि दोषों से रहित होने से निर्दोष हैं । भक्तजनों को उत्तम अविनाशी स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्षसुख को देने वाले हैं, ऐसे हे पन्द्रहवें तीर्थकर

धर्मनाथ भगवान् ! मैं आपकी शरण आया हूँ। आप मेरे जन्म, जरा, मरण, आदि सांसारिक रोग दुःखों का नाश करो और मुझ को आप समान अविनाशी पद प्रदान करो ॥५६॥

इस श्लोक में द्वितीय अथवा चतुर्थ चरण में से कोई एक चरण अन्य चरणों के अक्षरों में गुप्त है। इसके सिवाय यह अर्धभ्रम भी है- इसलिए इसको गूढ़द्वितीय चतुर्थ अन्यतर पाद अर्द्धभ्रम कहते हैं।

इस श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिए। चारों के प्रथम और अन्तिम चार अक्षरों के मिलाने से श्लोक का प्रथम पाद बन जाता है, इसी प्रकार पादों के द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलाने से द्वितीय पाद बन जाता है। इसी प्रकार तृतीय एवं चतुर्थ पाद समझना चाहिए। इसका चित्र इस प्रकार है-

त्व	म	बा	ध	द	मे	न	र्द्ध
म	त	ध	र्म	प्र	गो	ध	न !
बा	ध	स्वा	श	म	ना	गो	मे
ध	र्म	श	र्द्ध	त	म	प्र	द ?

(गतप्रत्यागतैकश्लोकः)

नतपाल ! महाराज ! गीत्यानुत ममाक्षर ।

रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ! ॥५७॥

नतेति-क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीतपाठेऽपि तान्येव । नतान् प्रणतान् पालयति रक्षतीति नतपालः तस्य सम्बोधनं हे नतपाल ! । महान्तो राजानो यस्य स महाराजः 'टः सान्तः' तस्य सम्बोधनं महाराज । अथवा नतपाला महाराजा यस्यासौ नतपालमहाराजः तस्य सम्बोधनं नतपालमहाराज । मम गीत्यानुत अस्मत्स्त्वनेन पूजितः । अक्षर अनश्वर । रक्ष पालय । मां अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अतनुत्यागी अनल्पदाता । जराहा वृद्धत्वहीनः, उपलक्षणमेतत् जातिजरामरणहीन इत्यर्थः । मलं पापं अज्ञानं पातयति नाशयतीति मलपातनः कर्त्तरि युद् बहुलवचनात् । तस्य सम्बोधनं हे मलपातन । एतदुक्तं भवति- हे धर्म नतपाल महाराज गीत्यानुत् मम अक्षर जराहा मलपातन रक्ष मां अतनुत्यागी यतस्त्वम् ॥५७॥

अन्वय - नतपाल ! महाराज ! मम गीत्यानुत ! अक्षर ! अतनुत्यागी ! जराहा ! मलपातन ! मां रक्ष ।

अन्वयार्थ - नतपाल ! = नम्र मनुष्यों के रक्षक ! महाराज ! हे महान् राजेश्वर । मम = मेरे द्वारा । गीत्यानुत ! = स्तुति से पूजित ! अक्षर ! = हे अविनश्वर ! अतनुत्यागी ! महान् दानकर्ता वा महान् वैभव के त्यागी । जराहा ! = बुढ़ापे से रहित ! मलपातन ! ज्ञानावरणादि कर्ममल वा अज्ञानरूप मल के नाशक ! हे भगवन् । मां = मेरी । रक्ष = रक्षा करो ।

अर्थ - हे भगवन् ! आप चरणों में नम्रीभूत भक्तजनों की रक्षा करने वाले हैं । राजाओं के राजा हैं । मेरे द्वारा स्तुति से पूजित हैं अर्थात् मैं आपकी अनेक स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता हूँ । हे भगवन् ! आप अविनाशी पद को प्राप्त हैं, महा दानी हैं, महान् राज्य एवं वैभव को छोड़कर परमपद के धारी हैं, बुढ़ापे से रहित हैं, बुढ़ापा रहितपना यह उपलक्षण मात्र है, आप जन्म-मरण, जरा आदि व्याधियों से रहित हैं, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म आदि सर्वमलों से रहित हैं, शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन हैं । हे प्रभो ! मुझ शरणागत की रक्षा करो । मेरे संसार-दुःखों का नाश करो । इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को विपरीत पढ़ने से उत्तरार्द्ध बन जाता है और उत्तरार्द्ध को विपरीत पढ़ने से पूर्वार्द्ध बन जाता है । यह अनुलोम प्रतिलोम क्रम को लिये हुए है । अतः इसको अनुलोम प्रतिलोमैक श्लोक अलंकार कहते हैं ।

### अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।

रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ॥५७॥

न	त	पा	ल	म	हा	रा	ज	गी	त्या	नु	त	म	मा	क्ष	र
---	---	----	---	---	----	----	---	----	------	----	---	---	----	-----	---

(मुरजः)

मानसादर्शसंक्रान्तं सेवे ते रूपमद्भुतम् ।

जिनस्योदयि सत्त्वान्तं स्तुवे चारूढमच्युतम् ॥५८॥

मानसेति—मन एव मानसं चित्तमित्यर्थः मनसमेवादर्शः दर्पणः मानसादर्शः मानसादर्शं संक्रान्तं प्रतिबिम्बितं मानसादर्शसंक्रान्तम् । सेवे भजामि । ते तव । रूपं शरीरकान्तिम् । अद्भुतं आश्चर्यभूतम् । जिनस्य त्रैलोक्यनाथस्य । उदयि उदयान्वितम् । सतः शोभनस्य भावः सत्त्वं, सत्त्वस्थान्तं अवसानं परमकाष्ठा सत्त्वान्तम् । स्तुवे वन्दे । च समुच्चये । आरूढं अध्यारूढं । अच्युतं अहीनं अक्षरम् । च समुच्चयार्थः । जिनस्य रूपं सेवेऽहं स्तुवे च किंविशिष्टं रूपं मानसादर्शसंक्रान्तम् । पुनरपि किंविशिष्टं अद्भुतं उदयि सत्त्वान्तमारूढं अच्युतमिति परमभाक्तिकस्य वचनम् ॥५८॥

अन्वय - मानसादर्शसंक्रान्तं, अद्भुतं, ओदयि सत्त्वान्तं आरूढं अच्युतं, ते जिनस्य रूपं सेवे च स्तुवे ॥५८॥

अन्वयार्थ - मानसादर्शसंक्रान्तं=मनरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित। अद्भुतं=अनुपम। ओदयि=निरन्तर उदय सहित। सत्त्वान्तं=उत्तमता की परमकाष्ठा को। आरूढं=आरूढ़। अच्युतं=अविनाशी। ते=तुझ। जिनस्य=जिनेन्द्र के। रूपं=सौन्दर्य को। सेवे=सेवा करता हूँ। च=और। स्तुवे=स्तुति करता हूँ॥५८॥

अर्थ - परम भाक्तिक समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! मैं आपके उस अनुपम सौन्दर्य की उपासना करता हूँ और स्तुति करता हूँ जो सबको आश्चर्यचकित करने वाला है, सदा उदित रहने वाला है, उत्तमता की परमकाष्ठा पर आरूढ़ है, अविनाशी है और मेरे मन रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित है।

(मुरजः)

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।

न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥५९॥

यतः इति-यतः यस्मात्। कोपि कश्चिदपि। गुणान् जिनस्यासाधारणधर्मान्। उक्त्या वचनेन। नावा पोतेन। अब्धीन् समुद्रान्। अपि संभावने। पारयेत् प्लवताम्। न प्रतिषेधे। तथापि एवमपि। क्षणात् अक्षिसंकोचात् समयाद्वा। भक्त्या सेवया। तव ते। आत्मानं स्वम्। तु पुनः। पावयेत् पवित्रीकुर्यात्। समुदायार्थः-यतो निश्चितं चेतो मम नावाब्धीनपि पारयेत् तव गुणाननन्तान् कश्चिदपि न पारयेत् यद्यपि तथापि क्षणात् भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत्। कुत एतत् स्तुतिमाहात्म्यात् ॥५९॥

अन्वय - यतः तव गुणान् उक्त्या कः अपि न पारयेत् यथा कः अपि नावा अब्धीन् न पारयेत्। तथापि तव भक्त्या क्षणात् आत्मानं तु पावयेत्।

अन्वयार्थ - यतः=क्योंकि। तव=तेरे। गुणान्=गुणों का। उक्त्या=वचनों के द्वारा। कः=कोई। अपि=भी। न पारयेत्=कथन करने में समर्थ नहीं है। जैसे। नावा=नौका के द्वारा। अब्धीन्=समुद्र को। न=नहीं। पारयेत्=समर्थ होता है। तु=परन्तु। तथापि=फिर भी। तव=तेरी। भक्त्या=भक्ति से। क्षणात्=क्षणभर में। आत्मानं=आत्मा को। पावयेत्=पवित्र कर देता है।

अर्थ - हे भगवन्! यदि कोई इच्छा करे तो नाव के द्वारा समुद्र को पार कर सकता है परन्तु स्तुति रूपी वचनों के द्वारा आपके गुणों का पार नहीं पा सकता है अर्थात् वीतरागप्रभु के अनन्त गुणों का कथन करने में कोई भी समर्थ नहीं है, यह निश्चित है तथापि भव्य प्राणी आपकी भक्ति रूप शुभ भावना से अपनी आत्मा को क्षणभर में पवित्र बना लेते हैं। अशुभ कर्मों से रहित कर लेते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह आपकी भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है।

यह श्लोक मुरजबंध है। इसमें प्रथम पाद का प्रथम अक्षर और तृतीय पाद का द्वितीय अक्षर,

पुनः प्रथम पाद का तृतीय अक्षर और तृतीय पाद का चतुर्थ अक्षर, इस प्रकार तृतीय चतुर्थ पाद का प्रथम द्वितीय पाद के साथ सम्बन्ध करने पर प्रथम द्वितीय पाद का निर्माण होता है और तृतीय पाद का प्रथम तृतीय पंचम षट् सप्तम अक्षर और प्रथम पाद के द्वितीय चतुर्थ आदि का सम्बन्ध करने पर तृतीय पाद का निर्माण होता है। इसी प्रकार चतुर्थ पाद का प्रथम अक्षर और द्वितीय पाद के द्वितीय आदि अक्षरों के संयोग से चतुर्थ पाद की रचना होती है। इसका चित्र प्रथम श्लोक में लिखा है।

(मुरजः)

रुचं विभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।

वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥६० ॥

रुचमिति—रुचं दीप्तिं तेजः। विभर्ति धरते। ना पुरुषः। धीरं गभीरं सावष्टम्भं यथा भवति त्रिधाविशेषणमेतत्। हे नाथ स्वामिन्! अतिस्पष्टवेदनः अतिस्पष्टं विशदं वेदनं विज्ञानं यस्यासावतिस्पष्टवेदनः। वचः वचनम्। ते तव। भजनात् सेवनात्। सारं परमतत्त्वभूतम्। यथा इवार्थे। अयो लोहम्। स्पर्शवेदिनः। सुवर्णभावकारिणः स्पर्शपाषाणस्य भजनात् सेवनात्। अस्य समुदायार्थः कथ्यते—हे नाथ! ना रुचं विभर्ति ते भजनात् वचश्च सारं धीरं यथा भवति किं विशिष्टः सन्ना अतिस्पष्टवेदनः। कथं? दृष्टान्तं प्रदर्शयति यथा अयः स्पर्शवेदिनः ॥६० ॥

अन्वय — नाथ! यथा स्पर्शवेदिनः भजनात् अयः सारं रुचं विभर्ति तथा ते भजनात् ना अतिस्पष्टवेदनः वचः सारं धीरं रुचं विभर्ति ॥६० ॥

अन्वयार्थ — नाथ=हे स्वामिन्। यथा=जैसे। स्पर्शवेदिनः=पारसमणि के। भजनात्=स्पर्श करने से। अयः=लोहा। सारं=सुवर्ण भाव को। विभर्ति=धारण करता है, वैसे ही। ना=भव्यपुरुष। ते=तुझ। अतिस्पष्टवेदनः=विशदज्ञानी (केवलज्ञानी) के। भजनात्=आराधना-सेवा से। सारं=परमतत्त्वभूतं। वचः वचनों को (दिव्यध्वनि को) और। धीरं=गंभीर। रुचं=दीप्ति-तेज को। विभर्ति=धारण करता है।

अर्थ — हे भगवन्! जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा, सुवर्ण रूप होकर दिव्य तेज को धारण करता है तथा उसके फलस्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ हो जाता है, उसी प्रकार भव्य पुरुष भी तुझ केवलज्ञानी की सेवा, भक्ति-आराधना से सुस्थिर विशुद्ध वचन को तथा विशुद्ध आत्मीय तेज को धारण कर लेता है। अर्थात् हे वीतराग प्रभो! आपकी भक्ति से भव्यप्राणी विशुद्ध केवलज्ञान तथा दिव्यध्वनि को प्राप्त हो जाता है ॥६० ॥

प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां कल्याणेतः स्ववानतः ।

अप्यपूर्वार्थसिद्धयेगां कल्याऽकृत भवान् युतः ॥६१॥

प्राप्येति—प्राप्य कृत्वा । सर्वार्थसिद्धिं विश्वकार्यनिष्पत्तिम् । गां पृथिवीम् । कल्याणेतः कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि इतः प्राप्तः कल्याणेतः । स्ववान् आत्मवान् । अतः अस्मात् अपि । अपूर्वार्थस्य केवलज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धिः प्राप्तिः अपूर्वार्थसिद्धिः तथा अपूर्वार्थसिद्ध्या केवलज्ञानादिप्राप्त्या । इगां ईहां चेष्टां विहरणम् । हे कल्य समर्थ । अकृत कृतवान् । भवान् भट्टारकः । युतः युक्तः । समुदायार्थः—भवान् कल्याणेतः सन् पुनरपि आत्मवान् सन् प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां अस्मादूर्ध्वं अपूर्वार्थसिद्ध्या युतोपि हे कल्य ! त्वं तथापि चेष्टां विहरणं अकृत अतः सत्यमेतत् “परार्था हि सतां चेष्टा” ॥६१॥

अन्वय — कल्य ! सर्वार्थसिद्धिं गां प्राप्य कल्याणेतः भवान् स्ववान् अतः अपूर्वार्थसिद्ध्या युतः अपि भवान् इगां अकृत ।

अन्वयार्थ — कल्य=हे समर्थशाली भगवन् । सर्वार्थसिद्धिं=सर्वार्थसिद्धिनामक । गां=पृथ्वी को । प्राप्य=प्राप्त करके । कल्याणेतः=गर्भ जन्मादि कल्याणों को प्राप्त । अपि=भी । स्ववान्=अपनी आत्मा में लीन रहने वाले । अतः=इसके बाद । अपूर्वार्थसिद्ध्या=अनन्त चतुष्टयरूप अपूर्वार्थसिद्धि से । युतः=सहित । अपि=भी । भवान्=आपने । इगां=बिहार । अकृतः=किया था ।

अर्थ — हे महान् समर्थशाली भगवन् ! आप सर्वार्थसिद्धि नामक पृथ्वी को प्राप्तकर गर्भ-जन्म आदि कल्याणकों के धारी होकर तथा स्व आत्मा में लीन होकर महान् केवलज्ञानी बने । तत्पश्चात् अनन्त चतुष्टय रूप अर्थसिद्धि सहित (अनन्त चतुष्टय के धनी) आपने इस भूतल पर बिहार किया था ।

भावार्थ — जो मानव सर्व मनोरथों की सिद्धि करने वाले स्थान को प्राप्त हो अर्थात् जिस स्थान को प्राप्तकर उसके सारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हों, अनेक कल्याण वा मंगलों से सम्पन्न हो, धनवान हो अर्थात् सर्वसुखसम्पन्न हो, फिर भी वह मानव भूतल पर भ्रमण कर उपदेश देने की चेष्टा करता हो तो उसमें उसका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता । उसकी सारी चेष्टायें परोपकार के लिए ही होती हैं । परार्था हि सतां चेष्टा सत्पुरुषों की चेष्टा परोपकार के लिए होती है ।

इस प्रकरण में आचार्यदेव ने यह सूचित किया है कि भगवान् धर्मनाथ सर्वार्थसिद्धि से भूतलपर अवतीर्ण हुए थे । जब भगवान् गर्भ में आने वाले थे उसके छहमाह पूर्व से जन्म तक (१५ महीने तक) प्रतिदिन १४ करोड़ रत्नों की वर्षा करके गर्भ कल्याणकोत्सव किया । जन्म लेने पर इन्द्र ने मेरु पर्वत पर लेजाकर १००८ कलशों से भगवान् का अभिषेक किया, अनेक प्रकार से जन्मोत्सव मनाया । जब भगवान् संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने के लिए तत्पर हुए तब इन्द्र ने तप कल्याणकोत्सव सम्पन्न किया । तपश्चरण के द्वारा धातिया कर्मों का नाशकर प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया तब इन्द्र ने ज्ञानकल्याणक

उत्सव मनाया। कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की। इस प्रकार केवलज्ञानी, अनन्त चतुष्टय के धनी, चतुष्कल्याणकों को प्राप्त, बिना इच्छा भगवान ने इस भूतल पर विहार करके भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया था। उसमें उनका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं था। केवल संसार के पथभ्रान्त जीवों को सुपथ पर लगाने की भावना से बँधे हुए तीर्थंकर प्रकृति का उदय ही इसमें कारण था। वे इच्छाओं के मूलभूत मोहनीय कर्म का क्षय कर चुके थे। उनकी सारी क्रियाएँ मेघों के समान भव्य जीवों के पुण्य से प्रेरित होकर ही होती हैं। अतः समन्तभद्राचार्यदेव ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में स्वयं कहा है कि—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितं ।  
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥

इस श्लोक में 'सर्वार्थसिद्धि' 'कल्याण' 'स्व' और 'अपूर्वार्थ' ये पद श्लिष्ट हैं, द्विअर्थक हैं, जिनका समन्वय ऊपर प्रकट किया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि इस श्लोक की रचना के पूर्व आचार्यदेव के समक्ष अव्यक्त रूप से एक प्रश्न उपस्थित था कि मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से सर्व इच्छाओं का अभाव हो जाता है तब इच्छारहित प्रभुवर का विहार और उपदेश कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर भी आचार्य समन्तभद्रदेव ने अव्यक्त रूप से इसी श्लोक में दिया है कि वीतराग प्रभु का विहार इच्छारहित वा बिना प्रयोजन होता है, जैसे मेघों की वर्षा एवं ध्वनि (गर्जना) बिना इच्छा होती है, जैसे शिल्पकार के हाथ के स्पर्श से मुरज में से स्वयं ध्वनि निकलती है। वसुनन्दी आचार्य ने टीका में लिखा है कि परार्था हि सतां चेष्टा परोपकार करने की चेष्टा सज्जन पुरुषों की होती है। परन्तु भगवान का विहार किसी परोपकार की भावना से नहीं होता है, अपितु भव्य जीवों के पुण्य से प्रेरित होकर उनका विहार एवं उपदेश स्वयमेव होता है ॥६१॥

भवत्येव धरा मान्या सूद्यातीति न विस्मये ।  
देवदेव पुरा धन्या प्रोद्यास्यति भुवि श्रिये ॥६२॥

भवतीति—भवति भट्टारके त्वयि। एव अवधारणम्। धरा पृथिवी। मान्या पूज्या। सूद्याति उद्गच्छति प्रभवति। इति यस्मात्। न विस्मयेहं न ममाश्चर्यम्। हे देवदेव देवानां देवः देवदेवः तस्य सम्बोधनं हे देवदेव परमेश्वर। पुरा पूर्वमेव। धन्या पुण्या। प्रोद्यास्यति प्रोद्गमिष्यति प्रभविष्यति। भुवि अस्मिन् लोके। श्रिये श्रीनिमित्तम्। समुदायेनार्थः कथ्यते—हे देवदेव सूद्याति भवति भगवति धरा मान्या भवतीति न विस्मयेऽहम्। यतः प्रोद्यास्यति भगवति पुरैव धन्या भुवि श्रीनिमित्तम् ॥६२॥



अन्वय - देवदेव! भवति भुवि मूढाति पर मान्या इति न विस्मये भवति प्रोद्यास्यति पुरा एव श्रिये भुवि धन्या।

अन्वयार्थ - देवदेव=हे देवों के देव त्रिलोक्याधिपति! भुवि=पृथ्वीपर। भवति=आपके। सूद्याति=जन्म लेने पर। धरा=पृथ्वी। मान्या=पूजनीय होती है। इति=इसमें। न=नहीं। विस्मये=आश्चर्य करता हूँ अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि। भवति=आपके। प्रोद्यास्यति=जन्म लेगी। आपका जन्म होगा उसके। पुरा=पहले-छह महीना पूर्व। एव=ही। श्रिये=श्री का निमित्त होने से। रत्नों की वृष्टि कारण होने से। मान्या=धन्य मानी जाती है, लक्ष्मी से सम्पन्न हो जाती है।

अर्थ - हे देवाधिदेव भगवन्! भूतल पर आपके जन्म लेने पर यह पृथ्वी पूज्य मानी जाती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आपके जन्म लेने से पूर्व ही यह पृथ्वी रत्नवर्षा आदि के द्वारा उत्तम हो जाती है अर्थात् जब तीर्थकर भगवान गर्भ में आते हैं, उसके छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर नगरी की मनोज्ञ रचना करता है; उसे धन, धान्य, सुवर्ण, चांदी, रत्न आदि उत्तमोत्तम वस्तुओं से सम्पन्न करता है तथा जन्म समय तक (१५ महीने तक) प्रतिदिन रत्नों की वृष्टि करता है। जब देवाधिदेव के उत्पन्न होने के १५ महीने पूर्व सारी नगरी का भूतल उत्तम हो जाता है तब उनके जन्म लेने से भूमि उत्तम श्रीसम्पन्न हो जाये तो इसमें आश्चर्य क्या है, अर्थात् कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥६२॥

यह श्लोक मुरजबन्ध चित्रालंकार से युक्त है।

(मुरजः)

एतच्चित्रं पुरो धीर स्नपितो मन्दरे शरैः।

जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः ॥६३॥

एतदिति-एतत् प्रत्यक्षवचनम्। चित्रं आश्चर्यम्। पुरः पूर्वस्मिन् काले। धीर गंभीर। स्नपितः अभिषेकितः। मन्दरे मेरुमस्तके। शरैः पानीयैः। जातमात्रः उत्पत्तिक्षणे। स्थिर सावष्टम्भ। उदार दानशील महन्। क्वापि एकस्मिन्नपि काले। त्वं युष्मदो रूपम्। अमरेश्वरैः देवदेवेन्द्रैः। समुदायार्थः- हे धीर मन्दरे शरैः त्वं स्नपितः जातमात्रः सन् हे स्थिरोदार अमरेश्वरैः पुरः क्वापि। चित्रमेतत्। कथं चित्रम्? बालस्य अस्माभिर्मन्दरे (गमनं स्नपनं वा) क्वापि न दृष्टं यतः ततः आश्चर्यम्। अथवा एवं चित्रमेतत् भट्टारके तीर्थे सर्वेपि प्राणिनः स्नान्ति, कथं पुरः देवैर्मन्दरे स्नपितश्चोद्यमेतत्। अथवा यो भवादृशः शरैः स कथं स्नाप्यते तथापि भवान्, देवैः शरैः पानीयैः स्नपितः चित्रमेतत् ॥६३॥

अन्वय - धीर! स्थिर! उदार! जातमात्रः त्वं पुरः अमरेश्वरैः मन्दरे शरैः स्नपितः एतत् चित्रं क्वापि (न)।

**अन्वयार्थ** — धीर! = हे धीर। स्थिर! = स्थिर। उदार! हे उदार धर्मनाथ भगवान। त्वं = तुम। जातमात्रः = उत्पन्न होते ही। पुरः = सर्व प्रथम। अमरेश्वरैः = सुर-असुरादि सर्व देवों के द्वारा। मन्दरे = मेरु पर्वत पर। शरैः = क्षीरसमुद्र के जल से। स्नपितः स्नान किया गया। तुम्हारा अभिषेक किया। एतत् = यह। चित्रं = आश्चर्य। क्वापि = किसी भी काल में। (न) नहीं है।

**अर्थ** — हे धीर! हे स्थिर! हे उदार भगवन्! जन्म लेते ही सर्वप्रथम सारे इन्द्रों ने मिलकर मेरु पर्वत पर क्षीरसमुद्र के जल से आपका अभिषेक किया। यह आश्चर्यकारी घटना अन्यत्र कहीं पर भी नहीं देखी गई है।

यहाँ आश्चर्य निम्नक्रिया पर है— तत्काल जन्मे हुए बालक का ९९ हजार योजन ऊँचे मेरुपर्वत पर पहुँचना, तत्काल उत्पन्न हुए बालक का एक योजन मुख वाले, चार योजन उदर वाले (गोलाई वाले) तथा आठ योजन अवगाहना वाले कलशों में भरे हुए जल के द्वारा अभिषेक करने पर उसको सहन करना, जैसे के तैसे स्थिर रहना, जिसके तीर्थ में (उपदिष्ट धर्म में) संसार के भव्य प्राणी स्नान करते हैं, तदनुकूल आचरण कर आत्मकल्याण करते हैं उसका दूसरों के द्वारा अभिषेक किया जाना तथा लोकोत्तर सर्वश्रेष्ठ प्रभावशाली प्रभु का अभिषेक इन्द्रों ने जल जैसे तुच्छ पदार्थ से किया, यह आश्चर्य है। अथवा आप स्वयं शुद्ध हैं, स्वकीय पवित्रता से दूसरों को पवित्र करने वाले हैं, ऐसे स्वयंशुद्ध आपको शुद्ध करने के लिए इन्द्र ने अभिषेक करने की चेष्टा की, यह आश्चर्य है। सबसे अधिक आश्चर्य यह है कि इन्द्र ने शर से तृण अथवा बाणों से आपका अभिषेक किया। (शर का अर्थ बाण, तृण और जलादि अनेक होते हैं)।

इस श्लोक में आचार्यदेव ने जिन कार्यों पर आश्चर्य प्रकट करते हुए विरोध प्रकट किया है, उन सबका परिहार 'धीर' 'स्थिर' और 'उदार' इन तीन विशेषणों से हो जाता है। जैसे— हे स्वामिन्! आप इतने धीर और स्थिर हैं इतने महान् शक्तिशाली, अतुल बलधारी हैं कि उत्पन्न होते ही निन्यानवे हजार योजन ऊँचे मेरु पर्वत पर एक हजार आठ कलशों के द्वारा अभिषेक करने पर भी आपको किंचित् भी क्लेश वा कष्ट नहीं हुआ। यह आपका जन्म से ही होने वाला अतुल बल प्रशंसनीय है। अतुल बल के बिना इतने बड़े एक हजार कलशों के द्वारा अभिषेक करने पर बालक स्थिर नहीं रह सकता अतः आप ही महान् धीर कहलाते हैं। हे प्रभो! आप इतने उदार हैं, महान् हैं कि अल्पज्ञानियों के द्वारा की हुई निस्सार क्रियाओं से आपको रोष नहीं आता है अतः आपकी अगाध क्षमा, धीरता, स्थिरता अन्य जनों में नहीं हो सकती। इस प्रकार आचार्यदेव ने प्रभु के अतुल बल का कथन किया है।

शर के तृण, बाण आदि अनेक अर्थ होते हैं अतः इन्द्र ने शर—बाण एवं घासफूस के द्वारा भगवान का अभिषेक नहीं किया अपितु क्षीरसमुद्र के जल से किया था।

धीर, स्थिर, उदार महामना पुरुषों के लिए ये सारी क्रियाएँ आश्चर्यकारी नहीं हैं ॥६३॥

(अनन्तरपादमुरजः)

तिरीटघटनिष्ठचूतं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ।

पदे स्नातः स्म गोक्षीरं तदेडित भगोश्चिरम् ॥६४॥

तिरीटेति—तिरीटानि मुकुटानि तान्येव घटाः कुम्भाः तिरीटघटाः तैर्निष्ठचूतं। निर्गमितं तिरीटघटनिष्ठचूतम्। देवेन्द्रचक्रधरादिमुकुटघटनिर्गतम्। हारि शोभनम्। इन्द्रौघविनिर्मितं देवेन्द्रसमितिविरचितम्। इन्द्राणामोघः इन्द्रौघः तेन विनिर्मितं कृतं इन्द्रौघविनिर्मितम्। पदे पादौ। स्नातः स्म स्नातवन्तौ। गोक्षीरं रश्मिपयः। अथवा पदे पदनिमित्तं स्नातः स्म स्नातवन्तौ गोक्षीरम्। तदा स्नानानन्तरं सुरेन्द्रैः प्रणामकाले। ईडित पूजित। भगोः भगवन्। चिरं अत्यर्थं सुष्ठु इत्यर्थः। किमुक्तं भवति—हे भगवन् ईडित स्नानकाले ते पदे गोक्षीरं स्नातः स्म। किं विशिष्टं गोक्षीरं तिरीटघटनिष्ठचूतं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ॥६४॥

अन्वय — भगोः! तदा ईडित इन्द्रौघविनिर्मितं तिरीटघटनिष्ठचूतं हारि गोक्षीरं चिरं पदे स्नातःस्म ॥६४॥

अन्वयार्थ — भगोः=हे भगवन्। तदा=अभिषेक करने के बाद इन्द्रों के समूह ने। पदे=तेरे चरणों में। ईडित=नमस्कार किया तब। तिरीटघटनिष्ठचूतं=मुकुटरूपी घट से निकला हुआ। इन्द्रौघनिर्मितं=इन्द्रों के समूह से रचित। हारि=शोभनीय। गोक्षीरं=किरणरूपी दुग्ध प्रकट हुआ था। उसमें। चिरं=चिरकाल तक। पदे=तेरे चरणों का। स्नातःस्म=स्नान हुआ था।

अर्थ — इस श्लोक में आचार्यदेव ने उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार से वर्णन किया है। इस श्लोक में आया हुआ 'पदे' शब्द द्वितीय विभक्ति का द्विवचन भी है और चतुर्थी विभक्ति का एक वचन भी है अतः चतुर्थ्यन्त मानकर पुनः आवृत्ति करने और 'चिरं' शब्द पर अधिक लक्ष्य देने से एक विचित्र भाव प्रतीत होता है कि इन्द्रों ने क्षीरसमुद्र के जल से भगवान का अभिषेक किया, वह जल क्षीर (दूध) के समान श्वेत वर्ण का था, जिससे उनका शरीर क्षीर के समान श्वेत वर्ण हो गया था। अभिषेक क्रिया के समाप्त होने पर इन्द्रों ने शुद्ध वस्त्र से उसको पोंछ लिया तब प्रभु के शरीर से क्षीर की प्रभा दूर हो गई परन्तु जब इन्द्रों ने प्रभु के चरणों में नमस्कार किया तो इन्द्रों के मुकुटों की श्वेत किरणें फिर पड़ रही थीं। अर्थात् जन्माभिषेक हो चुकने के बाद इन्द्र समूह ने जब अभिषिक्त बालक के चरणों में मस्तक झुकाकर नमस्कार किया तब उनके मुकुट रूपी घट से निकली हुई किरण रूपी मनोहर दूधराशि उनके चरणों पर गिरी तो ऐसा लगा मानों भगवान के चरण इन्द्रों के मुकुटरूपी घटों से झरते हुए किरण रूप दूध में स्नान कर रहे हैं।

इसमें रूपक अलंकार में क्षीरसमुद्र के जल और मुकुटों की किरणों में समानता बतलाई है।

उत्प्रेक्षा अलंकार में 'पदे' शब्द को चतुर्थी विभक्ति बनाकर आचार्यदेव ने सूचित किया है कि भगवान के चरण (पदे) किसी उत्तम पद को प्राप्त करने के लिए शरीर के अन्य अवयवों की अपेक्षा चिरकाल तक स्नान करते रहे हों। क्योंकि जो इतर जनों की अपेक्षा अपने आपको किसी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त कराना चाहता है तो उसको दूसरे जनों की अपेक्षा अधिक तल्लीनता के साथ उस काम को करना पड़ता है- यह स्वाभाविक बात है। अतः प्रभु के चरणों ने चिरकाल तक क्षीरस्नान के द्वारा अपने आपको अत्यन्त पवित्र बना लिया इसीलिए मानों इन्द्र आदि लोकोत्तर पुरुष प्रभु के चरणों में नमस्कार करते हैं, मस्तक, उदर, हस्त, मुख आदि को नहीं। उत्प्रेक्षा अलंकार से यह विचित्र भाव प्रतीत होता है।

यह श्लोक अनन्तर पादमुरज चित्रालंकार युक्त है ॥६४॥

ति	री	ट	घ	ट	नि	ष्ठ्यू	सं
हा	री	डौ	इ	डि	नि	मि	तं
प	दे	नि	तः	स्म	गो	क्षी	रं
न	दे	डि	त	भ	गो	श्चि	रं

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः ।

उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु संमतेः ॥६५॥

कुत इति-कुतः कस्मात्। एतः आगतः। नु वितर्के। सन् शोभनः। वर्णः रूपं दीप्तिस्तेजः। मेरोः मन्दरस्य। ते तव। अपि च किं ननु इत्यर्थः। संगतेः सङ्गमात् मेलापकात्। उत वितर्के। क्रीतः द्रव्येण गृहीतः। अथ आहोस्वित्। संकीर्णः वर्णसंकरः। गुरोः भर्तुः। अपि तु उताहो। सम्मतेः आज्ञायाः। किमुक्तं भवति-मेरोर्योऽयं सन् वर्णः स कुतः आगतः किं ते संगतेः उत क्रीतः अथ संकीर्णः। अपि तु गुरोः संमतेः। ननु निश्चितोस्माभिस्तव संमतेः ॥६५॥

अन्वय - नु मेरोः सन्वर्णः कुतः एतः अपि च ते संगतेः उत क्रीतः अथ संकीर्णः अपि तु गुरोः संमतेः ॥६५॥

अन्वयार्थ - नु=भगवन् हम लोगों को संशय है कि। मेरोः=सुमेरु पर्वत का। सन्=शोभनीय। वर्णः=वर्ण-कान्ति। कुतः=कहाँ से। एतः=आया। अपि च=क्या। ते=तेरी। संगतेः=संगति से हुआ है। उत=अथवा। क्रीतः=मूल्य देकर खरीदा गया है। अथ=अथवा। संकीर्णः=किसी अन्य मनोहर वस्तु का उसमें संकीर्ण कर दिया गया है। अपि तु=अथवा। गुरोः=गुरु की। संमतेः=आज्ञा से ऐसा हो गया। तु=यह निश्चय हो गया कि। गुरोः=गुरु की संमतेः=आज्ञा से ऐसा हो गया है।

अर्थ - जिस मेरु पर्वत पर तीर्थंकर बालक का अभिषेक हुआ था वह सुदर्शन मेरु सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित होने से अत्यन्त मनोहर था, सौन्दर्य की खान था। यहाँ समन्तभद्राचार्य भक्ति में अत्यन्त विभोर होकर कहते हैं प्रभुवर! मेरे मन में संशय हो रहा है कि मेरुपर्वत में ऐसा सौन्दर्य कहाँ से आया ? क्या आप की संगति-स्पर्श मात्र से ऐसा मनोहर हो गया ? वा किसी से मूल्य देकर खरीदा गया है अथवा संसार में स्थित उत्तम-उत्तम वस्तुओं का संयोग करके किसी ने निर्माण किया है ? या महान् आप जैसे गुरु की आज्ञा से अचेत मेरु स्वयमेव अपने आप इस मनोहर रूप से परिवर्तित हो गया ? अन्त में आचार्य कहते हैं- गुरुवर ! मेरे मन में दृढ़ निश्चय हो गया है कि तीन लोक के नाथ की आज्ञा वा स्पर्शमात्र से यह मेरु महान् सुन्दर एवं पूज्य बन गया। इसका भावार्थ यह भी हो सकता है कि जब प्रभु की आज्ञा वा स्पर्श से अचेतन पदार्थ सद्गुण-सुवर्ण या उत्तम सौन्दर्य प्राप्त कर सकते हैं तो आपकी आज्ञा वा सम्पर्क पाकर चेतन भव्यात्मा उत्तम वर्ण उत्तम अवस्था को प्राप्त क्यों नहीं होंगे, अपितु अवश्य होंगे।

इसमें मुरजबंध चित्रालंकार है।

(अनन्तरपादमुरजः)

हृदि येन धृतोऽसीतः स दिव्यो न कुतो जनः।

त्वयारूढो यतो मेरुः श्रिया रूढो मतो गुरुः ॥६६॥

हृदीति--हृदि हृदये। येन जनेन। धृतो विधृतः। असि भवसि। इनः स्वामी इति कृत्वा। सः पूर्वोक्तः प्रतिपादकः। दिव्यः पुण्यवान् कृतार्थ इत्यर्थः। न कुतः न कस्मात्। जनः भव्यलोकः। त्वया भट्टारकेण। आरूढः अधिष्ठितः। यतो यस्मात्। मेरुः गिरिराजः। श्रिया लक्ष्म्या। रूढः प्रख्यातः श्रीमान् जातः। मतः ज्ञातः। गुरुः महान्। एवं सम्बन्धः कर्तव्यः--हे भट्टारक त्वं येन जनेन हृदि धृतो भवसि इन इति कृत्वा स जनः कुतो न दिव्यः किन्तु दिव्य एव। यतो मेरुरपि त्वयारूढः सन् श्रिया रूढः मतः गुरुश्च मतः ॥६६॥

अन्वय - येन इनः हृदि धृतः असि स जनः दिव्यः कुतः न। यतः त्वया रूढः मेरुः श्रिया रूढः गुरुः मतः।

अन्वयार्थ - येन=जिस भव्य प्राणी के द्वारा। इनः=स्वामी रूप से। हृदि=हृदय में। धृतः=धारण किये गये। असि=हो। सः=वह। जनः=भव्य प्राणी। दिव्यः=पुण्यवान्। कुतः=कैसे। न=नहीं, अवश्य ही है। यतः=क्योंकि। त्वया=तैरे से। आरूढः=अधिष्ठित। मेरुः=सुदर्शनमेरु। श्रिया=श्री के द्वारा। आरूढः=आरूढ़ श्री से सम्पन्न, गुरुः=महान्। मतः=माना जाता है ॥६६॥

अर्थ - समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे स्वामिन् ! जिस भव्य जीव ने आप को स्वामी मानकर अपने हृदय में धारण किया है, वह पुण्यवान् क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा। क्योंकि अचेतन मेरु पर्वत आपके द्वारा अधिष्ठित होने से ही श्रीसम्पन्न एवं महान् हो गया।

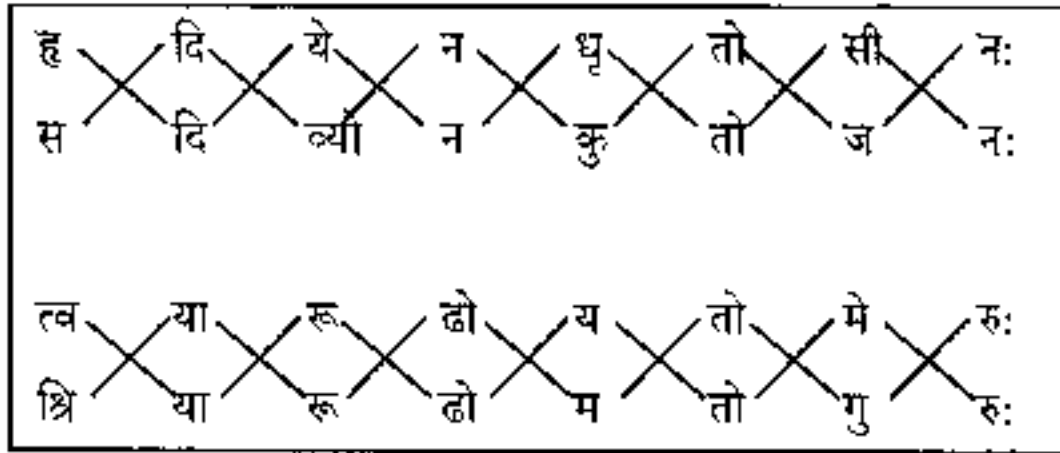
**भावार्थ** - आचार्यदेव कहते हैं कि भगवन्! आपके चरणस्पर्श से सुदर्शन मेरु सुवर्ण और रत्नों से खचित एवं श्रीसम्पन्न हो गया, आपकी संगति से ही वह ऐसी महान् शोभा से युक्त हुआ है। एक लाख योजन ऊँचा होने से मेरु गुरु भी आपके अधिष्ठान से हुआ है। यदि आपके अधिषेक से पर्वत पवित्र नहीं होता तो पर्वतराज श्रीमान् और महान् नहीं होता। इससे यह ध्वनित होता है कि हे प्रभो! जब आपके आश्रय से अचेतन मेरु पर्वत श्रीसम्पन्न और महान् हो सकता है तब आपकी भक्ति रूपी गंगा में अवगाहन करने वाला सचेतन भव्य प्राणी आपको हृदय में धारण कर, आपका ध्यान-स्मरण कर-यदि दिव्य-पुण्यवान् इन्द्र आदि पद प्राप्त करता है, परम्परा से अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सम्पन्न होता है, सर्व प्राणियों का गुरु या सबमें श्रेष्ठ बनता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

यह श्लोक अनन्तर पाद मुरज अलंकार से युक्त है।

सामान्य मुरजबंध में प्रथम पाद का प्रथम अक्षर और तृतीय पाद का तृतीय अक्षर, इसी प्रकार प्रथम पाद के तृतीय पंचम सप्तम अक्षर के साथ क्रम से तृतीय पाद के चतुर्थ षष्ठ अष्टम अक्षर का सम्बन्ध है और द्वितीय पाद का चतुर्थ पाद के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। परन्तु अनन्तर पाद मुरज में कुछ विशेषता है वह यह है कि इसमें प्रथम पाद के प्रथम अक्षर का द्वितीय पाद के द्वितीय अक्षर के साथ सम्बन्ध करो, इसी प्रकार तृतीय अक्षर का द्वितीय पाद के चतुर्थ अक्षर के साथ करना चाहिए। आगे भी ऐसा करना और तृतीय पाद के प्रथम, तृतीय पंचम सप्तम अक्षर का चतुर्थ पाद के द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम अक्षर के साथ सम्बन्ध करने से श्लोक बन जाता है। इसमें बत्तीस अक्षरों में १६ अक्षर पुनरुक्त होते हैं, परन्तु उसमें १४ अक्षर को छोड़कर सारे पुनरुक्त हैं।

इसका चित्र इस प्रकार है-

ह	दि	ये	न	धृ	तो	सी	नः
स	दि	व्यो	न	कु	तो	ज	नः
त्व	या	रु	ढो	य	तो	मे	रुः
श्रि	या	रु	ढो	म	तो	गु	रुः



## 卐 शान्ति-जिन-स्तुतिः 卐

(मुरजः)

चक्रपाणेर्दिशामूढा भवतो गुणमन्दरम् ।

के क्रमेणेदृशा रूढाः स्तुवन्तो गुरुमक्षरम् ॥६७॥

चक्रेति-चक्रपाणेः चक्रवर्तिनः पूर्वराज्यावस्थाविशेषणमेतत् । दिशामूढा दिग्मूढा अविज्ञातदिशः । भवतः भट्टारकस्य । गुणमन्दरं गुणपर्वतम् । के किमो रूपम् । क्रमेण न्यायेन परिपादृचा । ईदृशा ईदृग्भूतेन । रूढाः प्रख्याताः । स्तुवन्तो वन्द्यमानाः । गुरुं महान्तम् । अक्षरं अनश्वरम् । किमुक्तं भवति-चक्रपाणेर्भवतः गुणमन्दरं ईदृशा क्रमेण मुरजबन्धश्चक्रवृत्तैः स्तुवन्तः रूढाः के नाम दिशामूढाः अपि तु न भवन्त्येव । किं विशिष्टं गुणमन्दरं गुरुं अक्षरम् ॥६७॥

अन्वय - चक्रपाणेः भवतः गुरुं अक्षरं गुणमन्दरं ईदृशा क्रमेण रूढाः स्तुवन्तः के दिशामूढा ।

अन्वयार्थ - चक्रपाणेः=चक्र है हाथ में जिसके (चक्रवर्ती) (यह पूर्व राज्य अवस्था का विशेषण है) ऐसे । भवतः=आपके । गुरुं=महान् । अक्षरं=अविनाशी । गुणमन्दरं=गुणरूपी पर्वत को ईदृशा=इसप्रकार । क्रमेण=न्याय की परिपाटी से वा मुरज बंध या चक्रवृत्त के द्वारा) रूढाः=प्रख्यात । स्तुवन्तः=स्तुति करने वाले । के=कौन । दिशामूढाः=दिशाभूल होते हैं । अर्थात् कोई भी नहीं हैं ।

अर्थ - राज्य अवस्था में चक्ररत्न हाथ में लेकर षट्खण्ड रूप भरत क्षेत्र की दिग्विजय की थी अतः आप चक्रपाणि (हाथ में चक्र वाले) चक्रवर्ती कहलाये । आपके अविनाशी और महान् गुणरूपी सुमेरु पर्वत की इस क्रम से-मुरजबन्ध, चक्रवृत्त आदि चित्रबद्ध स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करने वाले कौन प्रसिद्ध दिशाभूल हुए हैं ? अर्थात् कोई भी नहीं हैं ।

विशेषार्थ - मेरु पर्वत प्रत्येक स्थान से उत्तर दिशा में पड़ता है अतः जो मेरु पर्वत की ओर दृष्टि रखता है वह कभी दिशा नहीं भूल सकता- वह मेरुपर्वत को देखकर इष्ट स्थान पर पहुँच सकता

है। इस श्लोक में समन्तभद्राचार्य ने भगवान् शान्तिनाथ के गुणों को मेरु पर्वत की उपमा दी है। इससे यह गूढ़ रूप से आचार्यदेव ने सूचित किया है कि जो भव्य प्राणी भगवान् शान्तिनाथ के गुणरूप मेरु पर्वत का आश्रय लेता है, गुण रूप मेरु पर्वत की स्तुति करता है वह सांसारिक कार्यों में उलझने पर भी अपने कर्तव्य-मार्ग को नहीं भूलता। वह अपने इष्ट आत्मस्वरूप के मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

इसमें मुरजबन्ध अलंकार है।

(मुरजबन्धः)

त्रिलोकीमन्वशास्संगं हित्वा गामपि दीक्षितः।

त्वं लोभमप्यशान्त्यंगं जित्वा श्रीमद्विदीशितः ॥६८॥

त्रिलोकीति—त्रिलोकी त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी 'रादितिङोविधि' तां त्रिलोकीम्। अन्वशाः अनुशास्तिस्म अनुशासितवान्। संगं परिग्रहम्। हित्वा त्यक्त्वा। गामपि पृथिवीमपि। दीक्षितः प्रव्रजितः। त्वं युष्मदोरूपम्। लोभमपि सङ्गतचित्तमपि। तृष्णामपि। अशान्त्यङ्गं अनु प्रशमनिमित्तम्। शान्तेः अङ्गं कारणं शान्त्यङ्गं न शान्त्यङ्गं अशान्त्यङ्गम्। जित्वा विजित्य। श्रीमद्विदीशितः लक्ष्मीमद्ज्ञानीश्वरः। विदामीशितः विदीशितः श्रीमांश्चासौ विदीशितश्च श्रीमद्विदीशितः। किमुक्तं भवति— हे शान्तिभट्टारक त्वं संगं हित्वा गामपि दीक्षितः सन् त्रिलोकीमन्वशाः लोभमपि अशान्त्यंगं जित्वा श्रीमद्विदीशितः सन् ॥६८॥

अन्वय — त्वं संगं गां हित्वा दीक्षितः त्रिलोकीं अन्वशाः अशान्त्यंगं लोभं जित्वा अपि श्रीमद्विदीशितः ॥

अन्वयार्थ — त्वं=हे भगवन् आप। संगं=परिग्रह को और। गां=पृथ्वी को। हित्वा=छोड़कर। दीक्षितः=दीक्षित हो गए। दिगम्बर मुनि बन गये फिर भी। त्रिलोकीं=तीन लोक का। अन्वशाः=अनुशासन किया। अशान्त्यंगं=अशांति के कारणभूत। लोभं=लोभ को। जित्वा=जीतकर के। अपि=भी। श्रीमद्विदीशितः=लक्ष्मी और विद्वानों के स्वामी थे।

अर्थ — आचार्यदेव ने इस श्लोक में 'अपि' शब्द का प्रयोग करके विरोधाभास अलंकार की रचना कर विरोध प्रकट किया है। उन्होंने कहा- हे प्रभो! आपने सारे सांसारिक परिग्रह और सारी पृथ्वी का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करके भी तीनों लोकों का अनुशासन किया यह विरोध है। क्योंकि जिसके पास पृथ्वी, धन-धान्य, सेना आदि परिग्रह होता है वही देश में रहने वाले अपने आश्रितों पर अनुशासन करता है परन्तु आपके पास में तो कुछ भी नहीं है। आपने तीनों लोकों पर अनुशासन कैसे किया? इस विरोध का परिहार इस प्रकार है- आपने मोक्षमार्ग का उपदेश देकर सारे जगत् पर अनुशासन किया था। तीनों लोकों के सारे प्राणी आपके द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग पर चलते हैं।



हे भगवन्! आप अशांति के कारणभूत लोभ का त्याग करके भी लक्ष्मीवानों तथा विद्वानों के स्वामी बने हैं, यह विरुद्ध बात है- क्योंकि जो लोभी होता है, वह लक्ष्मी का स्वामी होता है परन्तु आपने तो लोभ का त्याग कर दिया तो फिर लक्ष्मी के स्वामी कैसे बने? इसका परिहार इस प्रकार है- एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। इस श्लोक में 'श्री' का अर्थ अनन्त चतुष्टय और समवसरण की विभूति है। आपने कषायमय मोहनीय कर्म एवं ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय चार घातिया कर्मों का नाशकर अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य रूप अन्तरंग लक्ष्मी तथा समवसरण विभूति को प्राप्त किया है अतः आप लक्ष्मी के स्वामी हैं। अविनाशी केवलज्ञान को प्राप्त करने से आप विद्वानों के ईश्वर हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। इसीलिए प्रभो आप सर्व परिग्रह और पृथ्वी का त्यागकर नग्न मुद्रा धारण कर जंगल में रहने वाले होकर भी तीन लोक के प्राणियों पर अनुशासन करने वाले हैं और लोभादि कषायों को जीतकर (उनका नाशकर) अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के भोक्ता तथा सर्व विद्वानों के ईश्वर हैं ॥६८॥

यह श्लोक भी मुरजबन्ध चित्रालंकार युक्त है।

(मुरजबन्धः)

केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरम् ।

तव चांगं क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम् ॥६९॥

केवलेति—केवलं केवलज्ञानम् । अङ्गं शरीरम् । केवलमेव अङ्गं केवलाङ्गं केवलाङ्गेन समाश्लेषः सम्बन्धः आलिङ्गनं केवलाङ्गसमाश्लेषः तस्य तेन तदेव वा बलं सामर्थ्यं केवलाङ्गसमाश्लेषबलं तेन आढ्यः परिपूर्णः केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्यः तस्य सम्बोधनं हे केवलाङ्गसमाश्लेष-बलाढ्य । अथवा केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्यो महिमा केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्यमहिमा तां धरतीति अंगस्यैव विशेषणम् । महिमा माहात्म्यं महिमानं आधरतीति महिमाधरं माहात्म्यावस्थानम् । तव ते । च अवधारणार्थे दृष्टव्यः । अङ्गं शरीरम् । क्षमैव भूषा यस्य तत् क्षमाभूषम् । लीलानां कमनीयानां धाम अवस्थानं लीलाधाम । क्षमाभूषं च तत् लीलाधाम च तत् क्षमाभूषलीलाधाम । शमस्य उपशमस्य आधरः गौरवं यस्मिन् तत् शमाधरम् । अङ्गमिति सम्बन्धः । समुच्चयार्थः—हे शान्तिभट्टारक केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरं तव चाङ्गं किं विशिष्टं क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम् । किमुक्तं भवति—तवैवाङ्गमीदृग्भूतं नान्यस्य । अतस्त्वमेव परमात्मा इत्युक्तं भवति ॥६९॥

अन्वय — केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य! तव महिमाधरं-क्षमाभूषलीलाधाम, शमाधरं अङ्गं च ।

अन्वयार्थ — केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य != हे केवलज्ञान रूप शरीर से आलिङ्गित तथा अनन्त बल से युक्त प्रभो! तव=तेरा (आपका) अङ्गं=यह परमौदारिक शरीर । महिमाधरं=महामहिमा को धारण करने वाला । क्षमाभूषलीलाधाम=क्षमारूप अलंकारों से अलंकृत वा क्षमारूप आभूषणों की लीला का

आस्पद । च=और । शमाधरं=शम (समता) भाव का आधार है । च=यह शब्द समुच्चय अर्थ में भी हो सकता है जिसका अर्थ है कि आप जैसा शरीर अन्य देवताओं के नहीं है ।

**अर्थ -** आचार्यदेव ने कहा है कि हे केवलज्ञान रूप से आलङ्कित तथा अनन्त शक्ति से सम्पन्न प्रभुवर शांतिनाथ भगवान् ! आपका यह सप्तधातु रहित परमौदारिक दिव्य शरीर महान् महिमा को धारण करने वाला है, क्षमारूप अलंकारों की लीला (क्रीड़ा) का घर है तथा शान्ति वा सौम्य रूप भावों का आधार है अथवा सौम्य रूप गौरव से युक्त है ।

श्लोक में जो 'च' शब्द आया है- उसका अर्थ अवधारण भी हो सकता है । जिससे इस श्लोक का यह भाव या अर्थ होता है कि भगवन् ! महान् सौन्दर्य की खान ऐसा शरीर आपका ही हो सकता है, अन्य पुरुषों का नहीं है अतएव आप ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, परमात्मा हैं ॥६९॥

(मुरजबन्धः)

त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं योजनेधिष्ठिते त्वया ।

भूयोऽन्तिकाः श्रितास्तेरं राजन्तेधिपते श्रिया ॥७०॥

**अर्थ इति-**त्रयोलोकाः भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिमनुष्यतिर्यज्वः । स्थिताः स्वैरं स्वेच्छया योजने सगव्यूतियोजनचतुष्टये । अधिष्ठिते अध्यासिते । त्वया युष्मदो भान्तस्य रूपम् । भूयः बाहुल्येन पुनरपि वा । अन्तिकाः समीपस्थाः । श्रिताः आश्रिताः । ते तव । अरं अत्यर्थम् । राजन्ते शोभन्ते । अधिपते परमात्मन् । श्रिया लक्ष्म्या । समुच्चयार्थः-हे भट्टारक त्वया अधिष्ठिते योजनमात्रे त्रयोलोकाः स्वैरं स्थिताः भूयोऽन्तिकाः श्रिताः सन्तः ते अधिपते श्रिया अरं राजन्ते ॥७०॥

**अन्वय -** अधिपते ! त्वया अधिष्ठिते योजने त्रयोलोकाः स्वैरं स्थिताः भूयः अन्तिकाः श्रिताः ते श्रिया अरं राजन्ते ॥७०॥

**अन्वयार्थ -** अधिपते ! =हे भगवन् । त्वया =तेरे द्वारा । अधिष्ठिते =अधिष्ठित । योजने =योजन (साढ़े चार योजन मात्र समवसरण) स्थान में । त्रयोलोकाः =तीन लोक के सारे जीव । स्वैरं =स्वच्छन्दता के साथ (इच्छानुसार) स्थिताः =बैठ जाते हैं । और जो भव्य । भूयः =बहुलता से तेरे । अन्तिकाः =समीप श्रिताः =बैठते हैं, आपका आश्रय लेते हैं । ते =वे भव्य प्राणी तेरी । श्रिया =श्री से (तेरे जैसे पद से) अरं =शीघ्र ही । राजन्ते =शोभित होते हैं ॥७०॥

**अर्थ -** इस श्लोक में 'योजन' शब्द है, यह सामान्य पद है । वास्तव में, शांतिनाथ भगवान का समवसरण साढ़े चार योजन प्रमाण था । क्योंकि आदिनाथ भगवान का समवसरण १२ योजन प्रमाण था । उससे नेमिनाथ भगवान पर्यन्त आधा-आधा योजन कम करना और पार्श्वनाथ भगवान का चतुर्थ भाग कम करना-इससे चतुर्थ भाग कम महावीर भगवान का समवसरण होता है । इस प्रमाण से शांतिनाथ भगवान का समवसरण साढ़े चार योजन विस्तार वाला होता है ।

समन्तभद्र आचार्य कहते हैं- हे भगवन्! जिस साढ़े चार योजन प्रमाण समवसरण में आप स्थित होते हैं, बैठते हैं उस समवसरण में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी, असंख्यातदेव उनकी देवांगनाएँ, मानव, तिर्यच आदि तीन लोक के सारे जीव अपनी इच्छानुसार किसी दूसरे का स्पर्श नहीं करते हुए बैठ जाते हैं। इतने छोटे स्थान में भी कोई किसी को परस्पर बाधा नहीं देते हैं। तथा हे जिनदेव! जो आपके समीप आकर आपका आश्रय लेते हैं, ध्यान रूपी द्वार के द्वारा आपको अपने हृदय कमल में स्थापित करके आपका ध्यान करते हैं, आपके गुणों का चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही आप जैसी श्री से (लक्ष्मी से) शोभित होने हैं अर्थात् आपका ध्यान करने वाले प्राणी शीघ्र ही आप सदृश परमात्म-पद को प्राप्त कर लेते हैं।

यह श्लोक भी मुरजबन्ध अलंकार से युक्त है।

(मुरजबन्धः)

परान् पातुस्तवाधीशो बुधदेव भियोषिताः ।

दूराद्घातुमिवानीशो निधयोऽवज्ञयोज्झिताः ॥७१॥

परेति--परान् पातुः अन्यान् रक्षकस्य । तव ते । अधीशः स्वामिनः बुधानां पण्डितानां देवः परमात्मा बुधदेवः तस्य सम्बोधनं हे बुधदेव सत्यपरमात्मन् । भिया भयेन । उषिता स्थिताः 'वस् निवासे इत्यस्य धोः क्तान्तस्य कृताजित्वस्य रूपम्' । दूरात् दूरेण हातुमिव त्यक्तुमिव । अनीशाः असमर्थाः निधयः निधानानि । अवज्ञयोज्झिताः अनादरेण त्यक्ताः । अस्य एवं सम्बन्धः कर्तव्यः--हे देवदेव परान् पातुः तवाधीशः त्वया निधयोऽवज्ञया उज्झिताः भिया दूरेण उषिताः त्वा हातुमिव अनीशाः ॥७१॥

अन्वय - बुधदेव ! परान् पातुः तव अधीशः अवज्ञया उज्झिताः निधयः हातुं अनीशः इव भिया दूरात् उषिताः ॥७१॥

अन्वयार्थ - बुधदेव !- हे विद्वानों के स्वामी सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता भगवन् । परान्=अन्यसारे प्राणियों के । पातुः=रक्षा करने वाले । तव=तेरी । अवज्ञया=अवज्ञा से । उज्झिताः=छोड़ी हुई । निधयः=नव निधियाँ । हातुं=तेरे को छोड़ने के लिए । अनीशः=असमर्थ हुई ही । इव=मानों । भिया=भय से । दूरात्=दूर हो । उषिताः=खड़ी हैं ।

अर्थ - भगवान् शान्तिनाथ तीर्थकर, कामदेव, चक्रवर्ती इन तीन पदों के धारी थे अतः चक्रवर्ती होने के कारण वे १४ रत्नों और नव निधियों के स्वामी थे जब शान्तिनाथ भगवान् ने संसार से विरक्त होकर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करने का निश्चय किया तब १४ रत्नों और नव निधियों को तुच्छ समझकर अनादर के साथ छोड़ दिया था । जब प्रभु को केवलज्ञान हुआ तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की । उस समवसरण के गोपुर द्वार के दोनों तरफ अष्ट मंगल द्रव्य और नव निधियाँ खड़ी रहती हैं ।

इस श्लोक में शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्यवर्य उत्प्रेक्षा अलंकार में कहते हैं कि हे सर्वविद्वानों के शिरोमणि सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता भगवन् ! सर्व प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ आपने अनादरपूर्वक नव निधियों को छोड़ दिया मानों वे निधियाँ आपको छोड़ने में समर्थ नहीं होने के कारण वहीं खड़ी हैं, अर्थात् दूसरे किसी को रक्षक न समझकर दूसरी जगह जाना नहीं चाहती हैं। परन्तु भगवान के भय से भगवान के समीप नहीं आ रही है, मानों भगवान के द्वारा किये गये अपमान को याद करके गोपुर के बाह्य द्वार पर ही रुहन कर रुक गई जान पड़ती हैं।

जो कोई अपनी अच्छी सेवा करने वाले सेवक को छोड़कर दूसरों को स्वीकार करता है और समर्थशाली है तो पुराने सेवक को स्वाभाविक रोष आता ही है। इसी प्रकार समर्थशाली भगवान ने नवनिधियों को अनादरपूर्वक छोड़कर ६४ चँवर, सिंहासन, तीन छत्र आदि समवसरण की विभूति को स्वीकार किया इसलिए रोष को प्राप्त होकर वे बाहर खड़ी हैं, भगवान के निकट भी नहीं आ रही हैं तथा दूसरी जगह भी नहीं जा रही हैं।

कवि कहते हैं कि भगवान के पास जायेंगे तो भगवान हमें अपना लेंगे, परन्तु पूर्व के अनादर से भयभीत हो वे दूर खड़ी हैं। यह सिर्फ कवि का उत्प्रेक्षा अलंकार है। वास्तव में न भगवान के राग-द्वेष है, न अचेतन निधियों के रागद्वेष है। ॥७१॥

समवसरण के बाह्य अभ्यन्तर देश में छत्तीस गोपुर हैं। प्रत्येक द्वार के उभय भाग में स्थित मंगल नौ निधियाँ रहती हैं।

१. काल निधि – छहों ऋतुओं के फलफूल आदि वस्तुयें देती है।
२. महाकाल निधि – भाजन देती है।
३. पाण्डुनिधि – अनेक प्रकार के धान्य प्रदान करती है।
४. माणव – अनेक प्रकार के आयुध, शस्त्र प्रदान करती है।
५. शंख – वादित्र देती है।
६. नैसर्प – महल देती है।
७. पद्म – अनेक प्रकार के वस्त्र देती है।
८. पिंगल – हार-मुकुट आदि अनेक प्रकार के आभूषण देती है।
९. नानारत्ना – अनेक प्रकार के रत्न प्रदान करती है।

गोपुर द्वार के दोनों तरफ १०८ निधियाँ होती हैं। संघाटक, भृंगार (झारी), छत्र, दर्पण, पंखा,

शुक्ति, चामर और कलश ये आठ मंगल द्रव्य हैं। प्रत्येक गोपुर के समीप एक सौ आठ मंगल द्रव्य होते हैं।

(पादादियमकश्लोकः)

समस्तपतिभावस्ते समस्तपति तद्विषः ।

संगतोहीन भावेन संगतो हि न भास्वतः ॥७२॥

समस्तेति - समस्तपतीति प्रथमपादे यद्वाक्यं तद्वितीयपादेपि पुनरुच्चारितं । संगतोहीनभेति तृतीयपादे यद्वाक्यं तच्चतुर्थपादेपि पुनरुच्चारितम् यतः ततः पादादियमकः ।

समस्तानां निरवशेषाणां पतिभावः स्वामित्वं समस्तपतिभावः विश्वपतित्वम् । ते तव । समः समानः । तपति सन्तापयति । तद्विषः तस्य समस्तपतिभावस्य द्विषः शत्रवः तद्विषः तान् तद्विषः तच्छत्रून् । हे संगतोहीन परिग्रहच्युत । भावेन स्वरूपेण । संगतः संश्लिष्टः । हि स्फुटम् । न प्रतिषेधे । भास्वतः दिनकरस्य । समुदायस्यार्थः-हे संगतोहीन समस्तपतिभावस्ते समोपि तथापि तपति तद्विषः यस्मात् ततः भास्वतो भावेन न संगतो हि स्फुटम् ॥७२॥

अन्वय - संगतोहीन ! समस्तपतिभावः ते भास्वतः समः तपति भास्वतः ते भावेन संगतः न हि भास्वतः तपति तद्विषः त्वं न तपति न ते द्विषः ।

अन्वयार्थ - संगतोहीन !- हे परिग्रह रहित भगवन् ! ते=तेरे में । भास्वतः=सूर्य में । समस्तपतिभावः=सर्वस्वामित्व । समः=समान है । तथापि=भावेन=भावरूप से । संगतः=सूर्य के समान । न=नहीं है । हि=क्योंकि । भास्वतः=सूर्य । तपति=तपता है, संताप देता है- परन्तु आप संताप नहीं देते, शांति देते हैं । तद्विषः=सूर्य के शत्रु हैं, आपके शत्रु नहीं हैं । अर्थात् आपने रागादि शत्रुओं का नाश कर दिया है ।

इनभावेन संगतः=स्वामित्व भाव से युक्त है । परन्तु आप अहीनभावसंगतः=हीन भाव (स्वामित्व से) युक्त नहीं है ।

अर्थ - हे सर्व परिग्रह से रहित निष्परिग्रही भगवन् ! यद्यपि समस्त पतिभाव-सर्वस्वामित्व सूर्य में और आप में समान है- अर्थात् जिस प्रकार आप सर्व जगत् के स्वामी हैं, उसी प्रकार सूर्य भी सर्व जगत् का स्वामी है- तथापि आप सूर्य के साथ भावों से (स्वभाव से) संगत नहीं हैं अर्थात् सूर्य आपकी समानता धारण नहीं कर सकता । क्योंकि आपका कोई शत्रु नहीं है, आपने रागादि भाव रूप शत्रुओं का नाश कर दिया है । इसलिए आप अहीन भाव से संगत हैं- अर्थात् उत्कृष्टता से युक्त हैं परन्तु सूर्य के शत्रु अन्धकार का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ है । अतः सूर्य हीन भाव से संगत-युक्त है- अनुत्कृष्टता से युक्त

है। अर्थात् दिनकर ज्योतिष्क देवों में सबसे उत्कृष्ट इन्द्र नहीं है, अपितु प्रतीन्द्र है। सूर्य ताप देता है परन्तु आप शांतिदायक हैं।

हे प्रभुवर ! इस प्रकार 'समस्त पति' शब्द की अपेक्षा सूर्य के समान होते हुए भी शत्रु-सद्भाव तथा हीनभाव की अपेक्षा आप सूर्य के समान नहीं हैं।

किन्हीं मानवों का कहना है कि समवसरण में स्थित वीतराग प्रभु के शरीर की प्रभा-कोटि सूर्य की प्रभा के समान है परन्तु पूज्य समन्तभद्राचार्य को उनका यह कहना युक्त नहीं लगा, अतः उन्होंने व्यतिरेक अलंकार द्वारा सूर्य और भगवान् शान्तिनाथ में परस्पर असमानता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

इस श्लोक में प्रथम पाद के 'समस्तपति' ये पाँच अक्षर द्वितीय पाद में भी हैं तथा तृतीय पाद के 'संगतोहीनभा' ये छह अक्षर चतुर्थ पाद में भी पुनरुक्त है, अतः यह श्लोक 'पादादियमक श्लोक' है।

(पुरातन्त्रः)

नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः ।

श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्धया चावसंभृताः ॥७३॥

नयेति-नयाः नैगमादयः । सत्त्वाः अहि-नकुलादयः । ऋतवः प्रावृद् प्रभृतयः । नयाश्च सत्त्वाश्च ऋतवश्च नयसत्त्वर्त्तवः एते सर्वे परस्परं विरुद्धा । सर्वे समस्ताः । गवि पृथिव्याम् । न केवलमेते किन्तु अन्ये चापि ये विरुद्धाः असंगताः परस्परवैरिणः । श्रियः माहात्म्यात् । ते तव । तु अत्यर्थे । अयुवन् संगच्छन्ते स्म । यु मिश्रणे इत्यस्य धोः लङ्न्तस्य रूपम् । सर्वे विश्वे । दिव्यर्द्धया च दिवि स्वर्गे भवा दिव्या, दिव्या चासौ ऋद्धिश्च दिव्यर्द्धिः तथा दिव्यर्द्धया देवकृतव्यापारेणेत्यर्थः । अवसंभृताः निष्पादिताः कृता इत्यर्थः । किमुक्तं भवति-हे शान्तिनाथ ते श्रियः तव माहात्म्यात् गवि पृथिव्यां नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे अन्ये चाप्यसंगताः एते सर्वे अत्यर्थं अयुवन् संगतीभूताः केचन पुनर्दिव्यर्द्धया च अवसंभृताः संगतीकृताः एतदेव तव माहात्म्यम् नान्यस्य ॥७३॥

अन्वय - गवि नयसत्त्वर्त्तवः च अन्ये अपि सर्वे असंगताः ते सर्वे ते श्रियः तु अयुवन् । च दिव्यर्द्धया अवसंभृताः । एतदेव तव माहात्म्यं नान्यस्य ॥७३॥

अन्वयार्थ - नयसत्त्वर्त्तवः=नय, सत्त्व और ग्रीष्म आदि ऋतुयें । च=और । अन्ये=अन्य । अपि=भी । सर्वे=सर्व परस्पर विरोधी पदार्थ । असंगताः=जो असंगत हैं-परस्पर विरोध रखने वाले हैं । ते=वे सर्वनयादि पदार्थ । ते=तेरे । श्रियः=लक्ष्मी वा माहात्म्य से । तु=तो । अयुवन्=संगत हो जाते हैं,

परस्पर विरोध को छोड़कर मैत्री भाव को धारण कर लेते हैं। च=और। दिव्यर्द्धया=कितने ही देवों के द्वारा ऋद्धयः (अतिशय) अवसंभृताः=निष्पादित किये जाते हैं।

**अर्थ** - जो परस्पर विरोधी नैगमादि नय, सर्प - नेवला, घोड़ा - भैंसा आदि सत्त्व (जीव) हैं तथा वसन्त आदि ऋतुयें हैं तथा इनके सिवाय और भी जो भूतल पर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, कभी परस्पर एक काल एवं एक स्थान पर एकत्र नहीं हैं। वे सर्व वीतराग प्रभु के प्रसाद से एक साथ संगत हो जाते हैं, परस्पर विरोध छोड़ देते हैं। तथा कितने ही अन्य कार्य देवों की ऋद्धि से निष्पन्न किये जाते हैं। ऐसी आश्चर्यकारी घटनायें प्रभुवर आपके सान्निध्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलती हैं।

वस्तु की सिद्धि के लिए नय की विवक्षा बहुत आवश्यक है क्योंकि वस्तु नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य आदि अनेक धर्मों का पिण्ड है, उन अनेक परस्पर विरोधी धर्मों की सिद्धि करने वाले नय कहलाते हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है। इस अनेक धर्मात्मक वस्तु का वचनों के द्वारा एक साथ कथन करना अशक्य है अतः वस्तु अवक्तव्य है। नित्य और अनित्य ये दोनों धर्म एक साथ होने से 'नित्यानित्य' है।

जिस एक नित्य धर्म की विवक्षा से कथन किया जाता है तब अनित्य धर्म अवक्तव्य होता है, जब अनित्य धर्म का कथन किया जाता है तब नित्य धर्म अवक्तव्य होता है, तब दोनों धर्मों का कथन एक साथ वचनों के द्वारा हो नहीं सकता अतः नित्यानित्य अवक्तव्य है।

द्रव्यार्थिक नय जिस वस्तु को नित्य कहता है, उसी वस्तु को पर्यायार्थिक नय अनित्य कहता है।

व्यवहार नय जिनपूजादि कार्यों को कर्मनिर्जरा का वा परम्परा मोक्ष का कारण बताकर उपादेय कहता है, निश्चय नय उन्हीं कार्यों को आसव और बंध का कारण बतलाकर हेय कहता है तथा निर्विकल्प समाधि में लीन अपने आप में रमण करने का कथन करता है। जहाँ प्रमाण-नय-निक्षेप की विवक्षा ही नहीं है, वहाँ इस प्रकार नयों में परस्पर विरोध रहता है, परन्तु नयों का यह विरोध एकान्तवादियों के कथन में ही है, स्याद्वादी जिनेन्द्र भगवान के वचनों में नहीं है।

समन्तभद्राचार्य ने 'स्वयम्भूस्तोत्र' में कहा है-

नित्यं तदेवेदमितिप्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।

न तद्विरुद्धं बहिरंतरंग - निमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ।

यह वस्तु यही है, इसी प्रकार प्रतीति होती अतः यह वस्तु नित्य है, वही किसी प्रकार अनित्य भी प्रतीत होती है अतः अनित्य भी है, यह कथन वा वस्तु का स्वभाव बहिरंग और अन्तरंग निमित्त-नैमित्तिक योग से यह कथन विरुद्ध भी नहीं है।

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।  
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परैक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भगवन् ! जो क्षणिकादि (अनित्यादि) नय हैं वे परस्पर निरपेक्ष होते हैं तब स्व-पर के घातक होते हैं तथा तुझ विमल मुनि के वे नय परस्पर सापेक्ष होने से स्व और पर के उपकारक होते हैं ।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् स्याद्वाद नय के प्ररूपक हैं । वे सर्व नयों का परस्पर सापेक्ष कथन करते हैं अतः उनके नयों का परस्पर विरोध दूर हो जाता है । समन्तभद्राचार्य कहते हैं- भगवन् ! यद्यपि नय परस्पर विरोधी हैं, एक साथ नहीं रहते हैं परन्तु आपके मत में ये नय परस्पर मैत्री भाव से रहते हैं अर्थात् ये मित्र की तरह परस्पर सापेक्ष रहकर संसार के कल्याणकारक होते हैं ।

सर्प-नेवला, मूषक-मार्जार, गो-व्याघ्र, घोड़ा-भैंसा ऐसे जानवर हैं जिनका जन्म से ही परस्पर वैर होता है । वे आपस में कभी नहीं मिलते हैं । यदि परस्पर मिलते हैं तो उन दोनों में जो निर्बल होता है वह सबल के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है परन्तु हे जिनेन्द्रदेव ! आपका सान्निध्य पाकर पशुगण जन्मजात विरोध को भूल कर परस्पर मैत्रीभाव धारण करते हैं ।

आचार्यों ने लिखा भी है-

सारंगो सिंहशावं स्पृशति सुतधिया, नन्दिनी व्याघ्रपोतं,  
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरधशा, केकिकान्ता भुजङ्गीम् ।  
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,  
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहं ॥

साम्य भाव पर आरूढ़, कालुष्य भाव से रहित, क्षीणमोही योगिजनों के आश्रय में रहकर हरिणी सिंह के बच्चे को, गाय व्याघ्र के बच्चे को, बिल्ली हंस के बच्चे को, मयूरी सर्पिणी को स्नेह के बश होकर पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है । अन्य भी जन्तु मदरहित होकर जन्मजात वैर भाव छोड़ देते हैं ।

अतः आचार्यदेव ने ठीक ही लिखा है कि प्रभुवर ! आपके समक्ष विरोधी जीव भी परस्पर मिल जाते हैं । यह असंगत बात भी संगत हो जाती है ।

एक वर्ष में वसन्त-चैत्र, वैशाख; ग्रीष्म-ज्येष्ठ, आषाढ; वर्षाऋतु-श्रावण, भाद्रपद; शरदऋतु-आश्विन, कार्तिक; हेमन्तऋतु- मार्गशीर्ष, पौष और शिशिर ऋतु- माघ, फाल्गुन इस प्रकार दो-दो मास की ऋतु निश्चित है । वर्ष में महीने का परिवर्तन क्रमशः होता है अतः ऋतुओं का परिवर्तन क्रमशः होता है । ऋतुओं का परस्पर मिलाप नहीं होता है, उनका मिलाप होना असंगत है । विरुद्ध है, परन्तु प्रभो !



आपका जहाँ पर निवास होता है, वहाँ पर छहों ऋतुएँ एक साथ प्रकट हो जाती हैं, छहों ऋतुओं की शोभा दृष्टिगत होने लगती है। इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि भगवन्! परस्पर विरोधी ऋतुएँ आपके माहात्म्य से एक काल में एक साथ प्रकट हो जाती हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अतिशय जिनभक्त देवताओं के द्वारा प्रकट किये जाते हैं- जैसे अर्धमागधी भाषा, दशों दिशाओं का निर्मल होना, आकाश का निर्मल होना, चलते समय भगवान के चरण कमल के नीचे २५६ सुवर्णमयी कमलों की रचना होना, नभ में जय-जय ध्वनि होना, मन्द सुरभित वायु का चलना, सौरभमय जल की वर्षा होना, सारे भूतल का निष्कंटक होना, सारे जीवों का हृदय आनन्दमय होना, प्रभु के आगे सहस्र आरे वाले धर्मचक्र का चलना, छत्र, चमर आदि अष्ट मंगल द्रव्य का प्रभु के साथ चलना आदि।

इस प्रकार अनेक देव-ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

इस श्लोक में आचार्यदेव ने गूढ़ रूप से भगवान के अतिशयों का कथन किया है कि प्रभु का सान्निध्य पाकर सारे प्राणी बैर छोड़कर परस्पर प्रेम और प्रीति से विह्वल हो जाते हैं। छहों ऋतुओं के फल-फूल एक साथ प्रकट हो जाते हैं। उनकी वाणी स्याद्वादमय होती है तथा देवकृत अनेक प्रकार के अतिशय प्रकट होते हैं।

श्लोक में 'च' शब्द अवधारणार्थ में है जिससे यह ध्वनित होता है कि ऐसा माहात्म्य आपका ही है अतः सर्व जनों में आप ही श्रेष्ठ हैं, महान् हैं, अन्य कोई नहीं है।

यह श्लोक मुरजबन्ध अलंकार से युक्त है।

(मुरजबन्धः)

तावदास्व त्वमारूढो भूरिभूतिपरंपरः ।

केवलं स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बरः ॥७४॥

तावदिति—तावत् तदः वत्वं तस्य कृतात्वस्य रूपम्। आस्व तिष्ठ। आस उपवेशने इत्यस्य धोलोडन्तस्य प्रयोगः। तवदास्वेति किमुक्तं भवति तिष्ठ तावत्। त्वं युष्मदो रूपम्। आरूढः प्रख्यातः। भूरिभूतिपरंपरः भूरयश्च ता भूतयश्च भूरिभूतयः तासां परंपरा यस्यासौ भूरिभूतिपरंपरः बहुविभूतिनिवास इत्यर्थः। केवलं किन्तु इत्यर्थः। स्वयमारूढः स्वेनाध्यासितः। हरिः सिंहः। भाति शोभते। निरम्बरः वस्त्ररहितः। किमुक्तं भवति— हे भट्टारक त्वं तवदास्व भूरिभूतिपरंपरः निरम्बर इति कृत्वा यस्त्वारूढः ख्यातः सः किन्तु त्वयारूढः हरिरपि भाति त्वं पुनः शोभसे किमत्र चित्रम् ॥७४॥

अन्वय - भूरिभूतिपरंपरः निरम्बरः त्वं आरूढः तावत् आस्व, किन्तु केवलं स्वयं आरूढः हरिः भाति।

अन्वयार्थ - भूरभूतिपरंपरः=अनेक प्रकार की अन्तरंग एवं बहिरंग भूतियों के धारक। निरम्बरः=परम दिगम्बर मुद्रा से सम्पन्न। त्वं=तुम्हारे। आरूढः=जगत् में विख्यात हो। तावत्=यह तो दूर। आस्व=रहे। केवलं=किन्तु (परन्तु) स्वयं=स्वयं। आरूढः=आरूढ़। जिस पर तुम आरूढ़ हो वह। हरिः=सिंहासन भी। भाति=शोभित होता है।

अर्थ - हे भगवन्! आप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य रूप अन्तरंग तथा समवसरणादि बहिरंग विभूति से सम्पन्न होकर भी निरम्बर है, वस्त्र रहित हैं तथापि विख्यात हैं, यह बात तो दूर रहे परन्तु जिस सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं वह सिंहासन भी अत्यन्त सुशोभित हो जाता है। अर्थात् प्रभुवर अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी के धारक हैं, नग्न दिगम्बर मुद्रा से विख्यात प्रसिद्ध हैं तथा जिस प्रसिद्ध सिंहासन पर आरूढ़ हैं वह सिंहासन भी सुवर्ण निर्मित एवं रत्न खचित है तथा शोभनीय है। यह सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन है।

सिंहासन की शोभा प्रभु के आरूढ़ होने पर ही होती है अन्यथा नहीं, जैसे उदयाचल की शोभा-शिखर पर अरुण दिनकर (बालसूर्य) के आरूढ़ होने पर ही होती है।

(मुरजबन्धः)

नागसे त इनाजेय कामोद्यन्महिमार्दिने ।

जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

नागेति—नागसे अविद्यमानापराधाय। नञ् प्रतिरूपकोयमन्यो नकारस्ततो नञो नित्यमनादेशो न भवति। ते तुभ्यम्। इन स्वामिन्। अजेय अजय्य। उद्यती चासौ महिमा च उद्यन्महिमा कामस्य स्मरस्य उद्यन्महिमा तामर्दयति हिंसयतीत्येवंशीलः कामोद्यन्महिमार्दि तस्मै कामोद्यन्महिमार्दिने रागोद्रेकमाहात्म्यहिंसिने। जगत्त्रितयनाथाय जगतां त्रितयं जगत्त्रितयस्य नाथः स्वामी जगत्त्रितयनाथः तस्मै जगत्त्रितयनाथाय त्रिभुवनाधिपतये नमः झि संज्ञकोयं शब्दः पूजावचनः। जन्मप्रमाथिने जन्म संसारः तत् प्रमथ्नाति विनाशयतीति जन्मप्रमाथी तस्मै जन्मप्रमाथिने जन्मविनाशिने। समुदायार्थः— हे शान्तिनाथ इन अजेय ते तुभ्यं नमः कथंभूताय तुभ्यं नागसे कामोद्यन्महिमार्दिने जगत्त्रितयनाथाय जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

अन्वय - इन! अजेय! नागसे, कामोद्यन्महिमार्दिने जन्मप्रमाथिने जगत्त्रितयनाथाय ते नमः ॥७५॥

अन्वयार्थ - इन!=हे स्वामिन्। अजेय!=हे अजेय। नागसे=निष्पाप, अपराध रहित। कामोद्यन्महिमार्दिने=काम की उद्यत (वृद्धि को प्राप्त) महिमा के घातक। जन्मप्रमाथिने=जन्म-मरण रूप संसार के घातक। जगत्त्रितयनाथाय=तीन लोक के नाथ। ते=तेरे लिए। नमः=नमस्कार हो ॥७५॥

अर्थ - हे प्रभुवर ! हे अजेय ! आप अपराध रहित हैं, निष्पाप हैं, मन्मथ की बढ़ती ज्वाला की महिमा के घातक हैं- अर्थात् आप कामविनाशक हैं, तीन लोक के स्वामी हैं और जन्म-मरण रूप संसार-परिभ्रमण के नाशक हैं अतः शांतिनाथ भगवान् ! आप के लिए मेरा नमस्कार हो ।

(मुरजबन्धश्लोक यमकालंकार)

रोगपातविनाशाय, तमोनुन्महिमायिने ।

योगख्यातजनार्चाय, श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७६ ॥

रोगेति-श्लोकद्वितयम् । अयमेव श्लोको द्विवारः पठनीयो द्वेधा व्याख्येयश्चेति कृत्वा श्लोकयमक इति भावः ।

रोगाः व्याधयः पाताः पातकानि कुत्सिता चरणानि, रोगाश्च पाताश्च रोगपाताः तान् विनाशयतीति रोगपातविनाशः तस्मै रोगपातविनाशाय । बहुलवचनात् कर्त्तरि अश्नु धञ् वा । तमः अज्ञानं तत् नुदतीति तमोनुत् अज्ञानहन्तेत्यर्थः । महिमानं माहात्म्यं पूजां अयते गच्छत्येवंशीलः 'शीलार्थे णिन्' महिमायी । तमोनुच्चासौ महिमायी च तमोनुन्महिमायी तस्मै तमोनुन्महिमायिने । योगेन ध्यानेन शुभानुष्ठानेन ख्याताः प्रख्याताः योगख्याता योगख्याताश्च ते जनाश्च योगख्यातजनाः योगख्यातजनानां अर्च्चा पूजा सत्कारः यस्यासौ योगख्यातजनार्च्यः गणधरादिपूज्य इत्यर्थः । अथवा योगख्यातजनैरर्च्यः इति योगख्यातजनार्च्यः तस्मै योगख्यातजनार्चाय । श्रमः स्वेदः तं उच्छिनत्ति विदारयतीति श्रमोच्छिन् । मन्दिमामृदुत्वं सर्वदयास्वरूपं तस्मिन् आस्ते इति मन्दिमासी । श्रमोच्छिन्मन्दिमासी च श्रमोच्छिन्मन्दिमासी तस्मै श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने । इन ते नमः इत्येतदनुवर्तते । तैः एवमभिसम्बन्धः कर्त्तव्यः हे शान्तिभट्टारक इन स्वामिन् ते तुभ्यं नमोस्तु किं विशिष्टाय तुभ्यं रोगपातविनाशाय पुनरपि किं विशिष्टाय तमोनुन्महिमायिने पुनः योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७६ ॥

अन्वय - रोगपातविनाशाय, तमोनुतमहिमायिने, योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने नमः ।

अन्वयार्थ - रोगपातविनाशाय=शारीरिक व्याधि और कुत्सित आचरण रूप पाप के विनाशक । तमोनुन्महिमायिने=अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करने वाली महिमा के धारक । योगख्यातजनार्चाय=योग-शुभ वा शुद्ध ध्यान वा अनुष्ठान में विख्यात गणधरादि मानवों के द्वारा पूजा-सत्कार को प्राप्त । श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने=श्रम-स्वेदखेद आदि का नाश करने वाले तथा मृदुत्व दयार्द्रत्व भाव के धारक भगवन् । ते नमः=आपके लिए नमस्कार हो ।

अर्थ - शारीरिक, मानसिक पीड़ा, दुःख को रोग कहते हैं । अशुभ-हिंसादि पापमय आचरणों

से उपार्जित असाता आदि अशुभकर्मों को पातक कहते हैं। उन रोग और पातक के विनाश करने वाले-स्वपर के रोग-पातक के नाशक भगवान् रोगपातक-विनाशक कहलाते हैं।

‘तम’ शब्द का अर्थ अन्धकार है, जो प्रकाश का नाशक है, ज्ञानरूपी आत्मीय प्रकाश के नाशक होने से अज्ञान को भी तम कहते हैं अथवा आत्मीय ज्ञानज्योति को कलुषित करने वाले मिथ्यादर्शन को भी ‘तम’ कहते हैं। उस अज्ञान एवं मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के नाशक ‘तमोनुत्’ कहलाते हैं। तमोनुत् महिमा वा पूजा को प्राप्त तमोनुन्महिमायी होते हैं।

‘योग’ का अर्थ मन, वचन, काय है, परन्तु यहाँ पर योग का अर्थ शुभध्यान (धर्म ध्यान) है। जो शुभ योग में विख्यात प्रसिद्ध गणधरादि महापुरुषों के द्वारा पूजनीय होने से योगख्यातजनार्च कहलाते हैं।

‘श्रम’ खेद-स्वेद आदि को श्रम कहते हैं। उच्छित् का अर्थ नाश करना है, जिन्होंने खेद स्वेद का नाश कर दिया है वे श्रमोच्छित् कहलाते हैं। ‘मन्दिमा’ का अर्थ मृदुत्व है, दयार्द्रचित्त है। जो श्रम का छेदक और दया भाव से युक्त है उसको श्रमोच्छिन्मन्दिमासिन् कहते हैं ऐसे रोगपातक विनाशक, तमोनुन्महिमासम्पन्न योगख्यातजनार्च तथा श्रमोच्छिन्मन्दिमासी भगवन् आप के लिए नमस्कार हो।

‘नमः’ नम् क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है।

यह श्लोक मुरजबन्ध चित्रालंकार तथा दोनों श्लोक का एक समान न्यास होने से यमकालंकार कहलाता है।

इसका चित्र इस प्रकार है -

र	ग	पा	त	वि	ना	शा	य	त	मो	नु	न्म	हि	मा	यि	ने
×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
यो	ग	ख्या	त	ज	ना	र्चा	य	श्र	मो	च्छि	न्मं	दि	मा	सि	ने

प्रथम पाद के प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम अक्षर के साथ तृतीय चरण के क्रमशः द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम अक्षर के साथ संयुक्त करने से प्रथम चरण सम्पन्न होता है। उसी प्रकार द्वितीय चरण के प्रथम तृतीय, पंचम, सप्तम के साथ, चतुर्थ चरण के २-४-६-८ वें अक्षर का संयोग करने पर द्वितीय चरण बनता है, इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ चरण समझना चाहिए ॥७६॥

(मुरजबन्धश्लोक यमकालंकार)

रोगपातविनाशाय, तमोनुन्महिमायिने ।

योगख्यातजनार्चायः श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७७॥

रोगपेति-रोगः भंगः परिभवः तं पातयति घातयतीति 'कर्मण्यण्' रोगपातः। वि विनष्टः ध्वस्तः नाशः संसारपर्यायो यस्य देवविशेषरूपान्मै विनाशः ! रोगपातश्चाऽसौ विनाशश्च रोगपातविनाशः तस्मै रोगपातविनाशाय। तमः तिमिरं अलोकाकाशं वा, कुतः 'अपोहः शब्दलिंगाभ्यां यतः' तमः शब्देन किमुच्यते आलोकाभावः कस्मिन् अत आह अलोकाकाशे, ततस्तमःशब्देन अलोकाकाशस्य ग्रहणम्। नुत् प्रेरणं अथवा चतुर्गतिनिमित्तं यत्कर्म तत् नुत् इत्युच्यते तादर्थ्यात्ताच्छब्दं भवति। महिः पृथिवीलोकः जीवादिद्रव्याणि इत्यर्थः इकारान्तोपि महिशब्दो विद्यते। तमश्च नुच्च महिश्च तमोनुन्महयः ताः मिनाति परिच्छिनतीति तमोनुन्महिमायी तस्मै तमोनुन्महिमायिने। यः यदः वान्तस्य रूपम्। अगः पर्वतः ख्यातः प्रख्यातः प्रधानः अगश्चासौ ख्यातश्च अगख्यातः मन्दर इत्यर्थः। जनानां इंद्रादीनां अर्चा पूजा जनार्चा, अगख्याते जनार्चा अगख्यातजनार्चा, तां अयते गच्छतीति अगख्यातजनार्चायः। श्रमः क्लेशः उच्छिन् उच्छेदः विनाशः। मन्दिमा जाड्यं मूर्खत्वम्, श्रमश्च उच्छिच्च मन्दिमा च श्रमोच्छिन्नमन्दिमानः तान् अस्यति क्षिपतीति श्रमोच्छिन्नमन्दिमासी तस्मै श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने। किमुक्तं भवति- अगख्यातजनार्चायः यः सः त्वं हे शान्तिभट्टारक अतस्तुभ्यं नमोस्तु। किं विशिष्टाय तुभ्यं रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने ॥७७॥

अन्वय - रोगपातविनाशाय=तमोनुन्महिमायिने योगख्यातजनार्चाय, श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने ते नमः।

अन्वयार्थ - रोगपातविनाशाय=तिरस्कार के घातक और संसार पर्याय के नाशक। तमोनुन्महिमायिने=अलोकाकाश, चतुर्गति में भ्रमण कराने वाले कर्म तथा जीवादि छहों द्रव्यों के ज्ञाता। अगख्यातजनार्चाय=पर्वतों में विख्यात मेरु पर्वत पर इंद्रादि जनों के द्वारा पूजा को प्राप्त श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने=क्लेश के विनाशक तथा जड़ता-मूर्खता का उच्छेद करने वाले भगवान के लिए नमस्कार हो। अर्थात् यः-जो ऐसा है।

अर्थ - रोग शब्द का अर्थ भंग-पराभव वा तिरस्कार है, जो पराभव का 'पात' विनाश करता है वह रोगपात कहलाता है। वि-नष्ट 'नाश' संसार पर्याय-जिसने संसार पर्याय का नाश कर दिया है। वह रोगपातविनाश कहलाता है।

'तम' अलोकाकाश 'नुत्' चारों गतियों में भ्रमण कराने वाले कर्म तथा 'मही' पृथ्वी, उस पर रहने वाले जीवादि छहों द्रव्यों के 'मिनाति' जानने वाले-तमोनुन्महिमायिने-लोक-अलोक आदि सर्व द्रव्यों के जानने वाले।

अग-पर्वतों में ख्यात प्रसिद्ध मेरु पर्वत पर इंद्रादिक के द्वारा पूजा को प्राप्त।

श्रम-क्लेश और मूर्खता के उच्छेदक केवलज्ञानी भगवान। ऐसे जो भगवान हैं, उनके लिए मेरा नमस्कार हो।

यह भी मुरजबन्ध यमक अलंकार से युक्त है।

(मुरजबन्धः)

प्रयत्येमान् स्तवान् वशिमि प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये ।

नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥७८॥

प्रयत्येति—प्रयत्य प्रयस्य प्रकृत्य । इमान् एतान् । स्तवान् स्तुतीः । वशिमि वच्मि । कृशा तन्वी न कृशा अकृशा महती । अर्त्तिः पीडा अकृशा चासौ अर्त्तिश्च अकृशार्त्तिः । श्रान्ताः दुःखिताः । श्रान्तानां अकृशार्त्तिः श्रान्ताकृशार्त्तिः । प्रास्ता ध्वस्ता श्रान्ताकृशार्त्तियेनासौ प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तिः तस्मै प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये । नयाश्च प्रमाणे च नयप्रमाणानि नयप्रमाणानां वाचः वचनानि नयप्रमाणवाचः । नयप्रमाणवाच एव रश्मयो गभस्तयः नयप्रमाणवाग्रश्मयः तैर्ध्वस्तं निराकृतं ध्वान्तं येनासौ नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्तः तस्मै नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये षोडशतीर्थकराय । किमुक्तं भवति—शान्तये इमान् स्तवान् प्रयत्य वच्म्यहम् । किं विशिष्टाय शान्तये प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्तायेत्यर्थः ॥७८॥

अन्वय — प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये इमान् स्तवान् प्रयत्य वशिमि ॥७८॥

अन्वयार्थ — प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये=नष्ट कर दी है दुखी जीवों की महती पीड़ा को जिन्होंने । नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्त ध्वान्ताय=नय और प्रमाण रूप वचनों की किरणों से नष्ट कर दिया है भव्य जीवों के अज्ञान अंधकार को जिन्होंने ऐसे शान्तये=शान्तिनाथ भगवान के लिए । इमान्=इन । स्तवान्=स्तोत्रों को । प्रयत्य=प्रयत्नपूर्वक रचकर । वशिमि=प्रार्थना करता हूँ- वा शान्तिनाथ भगवान् के स्तोत्र की रचना करता हूँ ।

अर्थ — दुःखी प्राणियों की महान् दुःख की पीड़ाओं के नाशक, नय प्रमाण रूप वचनों की किरणों के द्वारा अज्ञान अंधकार को दूर करने वाले शान्तिनाथ भगवान के लिए प्रयत्नपूर्वक (भक्ति से अति आनन्दित होकर) इन स्तोत्रों के द्वारा प्रार्थना करता हूँ, उनके गुणों का व्याख्यान कर स्तुति करता हूँ ॥७८॥

जो सारे जगत् के जीवों की पीड़ा के नाशक हैं अर्थात् जिनका नाम उच्चारण करने से सारी आधि-व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं । जिनकी नय-प्रमाणरूप अनेकान्त वचनों की किरणों के द्वारा अज्ञान अंधकार दूर होता है । उन शांतीश भगवान की स्तुति मैं शान्ति के लिए करता हूँ ।

(सर्वपादमध्ययमकः)

स्वसमान समानन्द्या भासमान स मानघ ।

ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥७९॥

स्वसेति—सर्वेषु पादेषु समानशब्दः पुनः पुनरुच्चारितो यतः । स्वेन आत्मना समानः सदृशः स्वसमानः नान्येनोपम इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं स्वसमान । समानन्द्याः क्रियापदम्, सं आङ् पूर्वस्य दुनदिसमृद्धावित्यस्य धोः लङन्तस्य रूपम् । भासमान शोभमान सः इति तदः कृतात्वसत्वस्य रूपम् । मा अस्मदः इबन्तस्य प्रयोगः । अनघ न विद्यते अघं पापं यस्यासावनघः तस्य सम्बोधनं हे अनघ घातिचतुष्टयरहित । ध्वंसमानेन नश्यता समः समानः ध्वंसमानसमः नश्यत्समान इत्यर्थः । अनस्तः अविनष्टः त्रासः उद्वेगः भयं यस्य तदनस्तत्रासं, मनः एव मानसं स्वार्थिकः अण्, अनस्तत्रासं मानसं यस्यासावनस्तत्रासमानसः । ध्वंसमानसमश्चासौ अनस्तत्रासमानसश्च ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसः तं ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसम् । आनतं प्रणतम् । समुदायार्थः—हे शान्तिभङ्गारक स्वसमान भासमान अनघ परमार्थत्वेन ख्यातो यस्त्वं स मा समानन्द्याः किं विशिष्टं मा ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं आनतं महद्भक्त्या प्रणतम् ॥७९॥

अन्वय — स्वसमान ! अनघ ! भासमान ! ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं आनतं समानन्द्या ॥७९॥

अन्वयार्थ — स्वसमान=अपने ही समान (उपमारहित) अनघ!=हे निष्पाप ! भासमान!= हे शोभमान, सः=वह भगवान् । ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं=ध्वंस हुए के समान होते हुए भी नहीं नष्ट हुई मानसपीड़ा जिसकी ऐसा । आनतं=तेरे चरणों में नत मुझको । समानन्द्या=आपके समान समृद्ध करो, आप जैसी अवस्था मुझे प्रदान करो ॥७९॥

अर्थ — यह श्लोक अनन्वयालंकार से अलंकृत है, समन्तभद्राचार्य कहते हैं-हे भगवन् ! आप 'स्वसमान' आप अपने ही समान हैं, अनुपम हैं, आपकी उपमा देने योग्य संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं है ।

हे प्रभुवर ! आप अवद्य हैं, निर्दोष हैं, निष्पाप हैं, राग-द्वेषादि पाप कर्म से रहित हैं । आप भासमान हैं- अनन्त चतुष्टयरूप तेज से देदीप्यमान हैं । हे प्रभुवर ! मेरा चित्त संसार के दुःखों से उद्विग्न है । मेरा चित्त दुःखों से वा अज्ञान अंधकार से रहित के समान होते हुए भी मेरे चित्त का त्रास-दुःख अभी नष्ट नहीं हुआ है, मैं महादुःखी हूँ, आपके चरणों में नतमस्तक हूँ, आपकी चरण-शरण में आया हूँ । हे भगवन् ! आप मुझ भक्त को अपने समान समृद्ध करो । मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप महान् रत्न प्रदान करके- अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप मेरे गुणों की वृद्धि

करो, मुझे अपने समान बना लो, मैं आपके चरणों में प्रार्थना करता हूँ। मन-वचन-काय की विशुद्धि से नमस्कार करता हूँ, मुझे ज्ञानदर्शनादि रूप आत्मसम्पत्ति से पूर्ण युक्त करो।

इस श्लोक में सर्वपादमध्य यमक चित्रालंकार है। इस श्लोक में सभी पादों के अक्षर सर्व पादों के अक्षरों में गर्भित हो जाते हैं। अर्थात् ३२ अक्षर के श्लोक में छह अक्षर अपुनरुक्त हैं, शेष २६ अक्षर पुनरुक्त हैं, चारों चरणों में गर्भित हैं। इसलिए इसको सर्वपादमध्य यमक कहते हैं।

(मुरजबन्धः)

सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम्।

प्रोद्धर्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ॥८०॥

सिद्ध इति—सिद्धः निष्ठितः कृतकृत्यः। त्वं भवान्। इह अस्मिम्। संस्थानं समानस्थानं सिद्धयोग्यस्थानं सिद्धमित्यर्थः। लोकाग्रं त्रिलोकमस्तकम्। अगमः गतः गमेर्लङन्तस्य रूपम्। सतां पण्डितानां भव्यलोकानाम्। प्रोद्धर्तुमिव उत्तारितुमिव। सन्तानं समूहम्। शोक एव अब्धिः समुद्रः शोकाब्धिः दुःखसमुद्र इत्यर्थः तस्मिन् शोकाब्धौ। मग्नाः प्रविष्टाः मंक्ष्यन्तः प्रवेक्ष्यन्तः मग्नाश्च मंक्ष्यन्तश्च मग्नमंक्ष्यन्तः तेषां मग्नमंक्ष्यताम् प्राप्तशोकानामित्यर्थः। समुदायार्थः—हे शान्तिनाथ यः इह सिद्धः त्वं संस्थानं लोकाग्रं अगमः सतां मग्नमंक्ष्यतां सन्तानं प्रोद्धर्तुमिव। किमुक्तं भवति—भट्टारकस्य सिद्धिगमनं सकारणमेव 'परार्थे हि सतां प्रयत्नः' ॥८०॥

अन्वय — त्वं इह संस्थानं सिद्धः तथापि इव शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यतां सतां सन्तानं प्रोद्धर्तुं लोकाग्रं अगमः ॥८०॥

अन्वयार्थ — त्वं=तुम (आप भगवन्) इह=इस भूतल पर ही। संस्थानं=सिद्धयोग्य संस्थान (आकार) से युक्त हो। सिद्धः=कृतकृत्य, निष्ठितार्थ हो गये थे। तथापि। इव=मानों। शोकाब्धौ=शोक समुद्र में। मग्नमंक्ष्यतां=डूबे हुए और भविष्य में अनन्त काल तक डूबे रहने वाले। सतां=सज्जनों के सन्तानं=समूह को। प्रोद्धर्तुं=उद्धार करने के लिए, उनको संसार से पार करने के लिए, लोकाग्रं=लोक के अग्र भाग में। अगमः=चले गये।

अर्थ — हे शान्तिनाथ भगवान्! आप इस मध्य लोक में ही सिद्ध कृतकृत्य हो चुके थे। आपकी आत्मा से सर्व कर्मों का बन्धन छूट गया था, कर्मों से छूटने की अवस्था को ही तो सिद्ध, कृतकृत्य, निष्ठितार्थ अवस्था कहते हैं। वह अवस्था यहीं पर प्राप्त हो चुकी थी, परन्तु फिर भी आप लोक के अग्र भाग रूप स्थान सिद्धशिला पर विराजमान हो गये। आचार्यदेव समन्तभद्र उत्प्रेक्षा अलंकार में कथन करते हैं कि- भगवन्! आप तीन लोक के अग्रभागरूप उच्च स्थान पर स्थित हो गये- मानों दुःख रूपी समुद्र में डूबे हुए अथवा डूबने वाले जीवों का उद्धार करने के लिए ही उच्च स्थान पर विराजमान हुए हैं- क्योंकि



अधःस्थित तासां च, कुण्ड, गड्ढे आदि नें गिरे हुए प्राणियों को ऊँचे स्थान में बैठा हुआ प्राणी ही निकाल सकता है, नीचे स्थान में बैठा हुआ नहीं निकाल सकता।

## ॐ कुन्धु-जिन-स्तुतिः ॐ

(सर्वपादान्तयमकः)

कुन्धवे सुमृजाय ते नम्रयूनरुजायते ।

ना महीष्वनिजायते सिद्धये दिवि जायते ॥८१॥

कुन्धवे इति—सर्वपादान्तेषु जायते इति पुनः पुनरावर्तितं यतः। कुन्धवे कुन्धुभट्टारकाय सप्तदशतीर्थकराय। सुमृजाय सुशुद्धाय। ते तुभ्यम्। नम्रः नमनशीलः विसर्जनीयस्ययत्वम्, ऊना विनष्टा रुजा व्याधिर्यस्य स ऊनरुजः ऊनरुज इव आत्मानमाचरतीति ऊनरुजायते। ना पुरुषः। महीषु पृथिवीषु। हे अनिज निश्चयेन जायते इति निजः न निजः अनिजः तस्य सम्बोधनं हे अनिज। अयते गच्छति। सिद्धये मोक्षाय गत्यर्थानामप्। दिवि स्वर्गे। जायते उत्पद्यते। णमु प्रह्वत्वे शब्दे इत्यस्य धोः प्रयोगे विकल्पेनाप् प्रभवति। वक्तव्येन समुदायार्थः—हे अनिज ते तुभ्यं कुन्धवे सुमृजाय नम्रः ना पुरुषः इह लोकेषु ऊनरुजायते अयते सिद्धये दिवि स्वर्गे जायते ॥८१॥

अन्वय — अनिज ! सुमृजाय ते कुन्धवे नम्रः ना महीषु ऊनरुजायते सिद्धये अयते दिवि जायते।

अन्वयार्थ — अनिज! = हे जन्म-मरण से रहित कुन्धुनाथ भगवान् ! सुमृजाय = सुशुद्ध-अत्यन्त शुद्ध। ते = तुझ। कुन्धवे = कुन्धुनाथ भगवान् के लिए। नम्रः = नमस्कार करने वाला। ना = पुरुष। महीषु = पृथ्वी पर। ऊनरुजायते = रोगों से रहित हो जाते हैं। सिद्धये = मोक्ष के लिए। अयते = गमन करते हैं - मोक्ष को प्राप्त करते हैं। दिवि = स्वर्ग में। जायते = उत्पन्न होते हैं ॥८१॥

अर्थ — हे जन्म-मरण से रहित कुन्धुनाथ ! आप अत्यन्त शुद्ध हैं अतः जो प्राणी द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म से रहित होने से अत्यन्त शुद्ध कुन्धुनाथ भगवान् के लिए नमस्कार करते हैं, वे मानव इस भूतल पर रोगरहित हो जाते हैं। उनकी आधि-व्याधि नष्ट हो जाती है। तथा परलोक में मोक्षपद तथा स्वर्ग पद को प्राप्त करते हैं। इस श्लोक में 'जायते' इस पद की सर्वपदों में पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए। अर्थात् जो जन्म-मरण से रहित कुन्धुनाथ भगवान् को नमस्कार करते हैं, वे रोगों से रहित हो जाते हैं, स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं और अन्त में सर्व कर्मों का नाश कर मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं ॥८१॥

यह श्लोक सर्वपादान्तयमक है, अर्थात् चारों पदों के अन्त में 'जायते' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(मुरजबन्धः)

यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यतः ।

बालोपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥

यो लोके इति-यः कश्चिन् । लोके भुजने । त्वा युष्मदः इवन्तस्य रूपम् । नतः प्रणतः । सः तदः वान्तस्य रूपम् । अतिहीनोपि अतिनिकृष्टोपि । अतिगुरुः महाप्रभुः भवति इत्यध्याहार्यम् । यतः यस्मात् । बालोपि अज्ञान्यपि मूर्खोपि । त्वा कुन्धुभट्टारकं । श्रितं श्रेयं आश्रयणीयम् । नौति स्तौति । को नो को न । नीतिपुरुः नीत्या बुद्ध्या पुरुः महान् । कुतः कस्मात् । संक्षेपार्थः—हे कुन्धुभट्टारक त्वाश्रितमिह लोके योतिहीनोपि नतः सोतिगुरुर्यतः ततः बालोपि त्वा को न नौति नीतिपुरुः पुनः कुतो न नौति किन्तु नौत्येव ॥८२॥

अन्वय - यः लोके त्वा नतः सः अतिहीनः अपि अतिगुरुः यतः कः नीतिपुरुः बालः अपि श्रितं त्वा नौति कुतः कः न नौति ।

अन्वयार्थ - यः=जो पुरुष । लोके=इस लोक में । त्वा=तुझको । नतः=नमस्कार करता है । सः=वह । अतिहीनः=अति निकृष्ट होता हुआ । अपि=भी । अतिगुरुः=महागुरु बन जाता है । यतः=इसलिये । बालः=मूर्ख । अपि=भी । श्रितं=आश्रय लेने योग्य । त्वां=तुझको । कः=कौन पुरुष । न=नहीं । नौति=नमस्कार करता है । नीतिपुरुः=नीति को जानने वाले । कुतः=क्यों । न=नहीं नौति=नमस्कार करता है । अर्थात् करता ही है ।

अर्थ -- हे भगवन् ! आप सब जीवों को आश्रय देने में समर्थ हैं । इस लोक में जो पुरुष आपको नमस्कार करता है— सब प्रकार से आपका आश्रय ले लेता है— वह अत्यन्त हीन—निकृष्ट अथवा नीच—होने पर भी अतिगुरु, अतीव श्रेष्ठ अथवा उच्च—हो जाता है । जब यह बात है तब हे प्रभो ! ऐसा कौन मूर्ख अथवा नीतिज्ञ (बुद्धिमान्) मनुष्य होगा जो आपको नमस्कार कर आपके आश्रय अथवा शरण में आना न चाहेगा ? प्रायः कोई भी ऐसा नहीं हो सकता जो आपका यथार्थ परिचय पाकर भी आपकी शरण में न आवे । आचार्यदेव ने इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार में कथन किया है ।

जिस कार्य का लाभ प्रत्यक्ष दिखता हो, बुद्धिमान् मनुष्य उसे अवश्य ही करते हैं । यहाँ 'जो अतिहीन अथवा अतिनीच है वह अति महान् अथवा अत्यन्त उच्च कैसे हो सकता है ?' इस तरह विरोध प्रकट होता है । परन्तु महापुरुषों के आश्रय से विरुद्ध दिखाई देने वाली बात भी अनुकूल हो जाती है अतः उस विरोध का परिहार हो जाता है । यह विरोधाभास अलंकार है ॥८२॥

इसमें मुरजबन्ध रचना है ।

(गतप्रत्यागताद्धभागः)

नतयात विदामीश शमी दावितयातन ।

रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाजर ॥८३॥

नतेति—गतप्रत्यागताद्ध इत्यर्थः । नतैः प्रणतैः यातः गम्यः नतयातः तस्य सम्बोधनं हे नतयात । विदां ज्ञानिनां ईश स्वामिन् । शमी उपशान्तः । दावितं उपतापितं यातनं दुःखं येनासौ दावितयातनः तस्य सम्बोधनं हे दावितयातन । रजसां पापानां अन्त विनाशकः रज्जु भङ्गु । देव परमात्मन् । त्वानइष्टित्यैवाहार्यः सामर्थ्यलब्धो वा । वन्दे स्तौमि । न विद्यते सन्तमसं अज्ञानं यस्यासौ असन्तमसः तस्य सम्बोधनं हे असन्तमस । अजर जातिजरामृतिरहित । किमुक्तं भवति—हे कुन्धुस्वामिन् नतयात विदामीश दावितयातन रजसामन्त देव असन्तमस अजर शमी शान्तः सन् त्वां वन्देऽहमिति सम्बन्धः ॥८३॥

अन्वय — नतयात ! विदामीश ! दावितयातन ! रजसामन्त ! देव ! असन्तमस ! अजर ! शमी सन् वन्दे ।

अन्वयार्थ — नतयात ! = हे नम्र पुरुषों के द्वारा जानने योग्य । विदामीश : = हे ज्ञानियों के स्वामी । दावितयातन ! - हे दुःखों के नाशक । रजसामन्त = हे पाप्मणी रज (धूलि) को शमन करने वाले । देव = हे परमात्मन् । असन्तमस = हे अज्ञानशून्य । अजर = जन्म-मरण और जरा रहित । शमी = अत्यन्त शान्त । सन् = होता हुआ । वन्दे = नमस्कार करता हूँ ।

अर्थ — हे प्रभो ! आप भक्तजनों के द्वारा जानने योग्य हैं- अर्थात् आप का वास्तविक स्वरूप आपके स्वरूप में रुचि रखने वाले द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा आपको जानने वाले सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकते हैं । भगवन् ! आप ज्ञानीजनों के स्वामी हैं वा आप सम्यग्ज्ञानियों में शिरोमणि केवलज्ञानी है । स्वामिन् ! आप ही भव्य प्राणियों के दुःख को दूर करने वाले हैं— आपने स्वकीय असाता वेदनीय कर्म का नाश कर स्वयं के दुःखों का नाश कर दिया है तथा शरण में आने वाले भव्य जीवों के दुःखों का नाश करने वाले हैं, अनन्त सुख से सम्पन्न हैं, घातिया कर्म रूप पापों के विदारक हैं । हे प्रभो ! आप अज्ञानरहित, अनन्त ज्ञान युक्त हैं । प्रभुवर ! आप जन्म, मरण और जरा रूप रोग से रहित हैं । हे कुन्धुनाथ जिनेन्द्र ! मैं अत्यन्त शान्त स्वभाव में लीन होकर आपकी वन्दना, स्तुति, पूजा करता हूँ ।

अपनी कषायों को शान्त करता हुआ आपके चरण-कमलों में नतमस्तक हूँ । भगवन् ! मेरे कषाय रूप विभाव भावों का नाश हो जावे तथा मैं स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त करूँ, यह शक्ति मुझे प्रदान करो ।

इस श्लोक की रचना गतप्रत्यागताद्ध भाग में है अर्थात् प्रथम पाद के चरणों को उलटकर पढ़ने

से द्वितीय चरण बन जाता है और द्वितीय चरण को विपरीत क्रम में पढ़ने से प्रथम चरण बन जाता है इसी प्रकार तृतीय चरण को विपरीत क्रम में पढ़ने से चतुर्थ चरण और चतुर्थ चरण को विपरीत क्रम में पढ़ने से तृतीय चरण निष्पन्न होता है ॥८३॥

(बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्ययमकाऽतालुव्यञ्जनाऽवर्णस्वर  
गूढद्वितीयपाद सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागताऽर्धभ्रमः)

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।

वामानाममनामावारक्षमर्द्धमक्षर ॥८४॥

परेति-बहुक्रियापदद्वितीयपादमध्ययमकातालुव्यञ्जनावर्णस्वरगूढद्वितीयपादसर्वतोभद्रः । बहुक्रियापदानि-अम अव आरक्ष । द्वितीय पादे क्षमाक्ष इति मध्ये मध्ये आवर्तितम् । सर्वाणि अतालुव्यञ्जनानि । अवर्णस्वराः सर्वेपि नान्यः स्वरः । द्वितीयपादे यान्यक्षराणि तान्यन्येषु त्रिषु पादेषु सन्ति यतः ततो गूढद्वितीयपादः । सर्वैः प्रकारैः पाठः समान इति सर्वतोभद्रः ।

पारावारस्य समुद्रस्य रवो ध्वनिः पारावारवः पारावारवं इयत्ति गच्छतीति पारावारवारः तस्य सम्बोधनं पारावारवार समुद्रं ज्वलितदृशवर्गीकम् । न विवर्तते परं अवस्तनं गच्छाः सा अपारा अलब्धपर्यन्ता । क्षमां पृथिवीं अक्ष्णोति व्याप्नोतीति क्षमाक्षः ज्ञानव्याप्तसर्वमेयः तस्य सम्बोधनं हे क्षमाक्ष । क्षमा सहिष्णुता सामर्थ्यं वा । अक्षरा अविनाश्वरा । वामानां पापानाम् । अमन खनक । अम प्रीणय । अव शोभस्व । आरक्ष पालय । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । हे ऋद्ध वृद्ध । ऋद्धं वृद्धम् । न क्षरतीत्यक्षरः तस्य सम्बोधनं हे अक्षर । समुदायार्थः - हे कुन्धुनाथ! पारावारवार, क्षमाक्ष, वामानाममन, ऋद्ध, अक्षर ते क्षमा अक्षरा अपारा यतः ततः मा ऋद्धं अम अव आरक्ष । अतिभाक्तिकस्य वचनमेतत् ॥८४॥

अन्वय - पारावारवार ! क्षमाक्ष ! वामानां अमन, अक्षर, ऋद्ध, क्षमा, अक्षरा अपारा मा ऋद्धं अम, अव, आरक्ष ।

अन्वयार्थ - पारावारवार=हे समुद्र की ध्वनि के समान ध्वनि वाले । क्षमाक्ष !-सर्व पृथिवीपर व्याप्त अर्थात् जिसके ज्ञान में सारे प्रमेय पदार्थ व्याप्त हैं । वामानां=पापों के । अमन=नाश करने वाले । ऋद्ध=ज्ञानादि गुणों से वृद्ध ! अक्षर ! हे अविनाशी भगवन् । क्षमा=तेरी क्षमा सहिष्णुता । अपारा=अपार और । अक्षरा=अविनाशी है । इसलिए हे प्रभुवर । मा=मुझे । ऋद्धं=वृद्धपर । अम=प्रसन्न होओ । अव=रक्षा करो वा मुझे सुशोभित करो । आरक्ष=मेरी रक्षा करो-मेरा पालन करो ।

अर्थ - हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि समुद्र की गर्जना के समान अतीव गंभीर है, निरक्षरी है । आप सारे भूतल में व्याप्त हैं अर्थात् आपके निर्मल केवलज्ञान में तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोकाकाश में स्थित चराचर सारे पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं ।

हे भगवन्! आप घातिया कर्म रूपी सारे पाप कर्मों के नाशक हैं, प्रभुवर! आप अक्षर-अविनाशी हैं, आप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणों से वृद्ध हैं, परिपूर्ण हैं।

प्रभो! आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है, अतः मुझे वृद्ध पुरुष पर प्रसन्न होकर मेरी रक्षा करो; मुझे सन्यदर्शन, सन्यशास्त्र, सन्यव्यचारिणादि गुणों से सुशोभित करो। मेरी रक्षा करो। मैं आपकी शरण में आया हूँ।

इस श्लोक में समन्तभद्राचार्य ने प्रभुवर कुन्धुनाथ स्वामी से तीन बातों की प्रार्थना की है कि- भगवन्! आप मुझे वृद्ध को प्रसन्न करो, सुशोभित करो और मेरा पालन करो। इन तीन बातों को परिपूर्ण करने के सामर्थ्य के सूचक तीन विशेषण दिये हैं। यथा- हे भगवन्! आपकी दिव्य ध्वनि समुद्र की गर्जना के समान अतीव गम्भीर एवं सारभूत अर्थगर्भित होती है जिसको सुनकर भव्य प्राणी आत्मीय आनन्द का अनुभव करते हैं, निर्विकल्प समाधि में लीन होकर स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त करते हैं। हे प्रभो! मुझे भी अपनी दिव्य वाणी से प्रसन्न कीजिये, आनन्दित कीजिये, प्रभुवर आपकी दिव्य देशना को प्राप्त कर मैं दुःखों से मुक्त हो जाऊँ, अनन्त सुख को प्राप्त करूँ; यही अभिलाषा है। हे स्वामिन्! आप तीनों लोकों और त्रिकालवर्ती सारे पदार्थों को एक साथ जानने वाले हैं। आपकी आत्मा ज्ञानादि गुणों से अलंकृत है, सुशोभित है। अतः आप मुझे भी ज्ञानादि गुणों से सुशोभित कीजिए, अलंकृत कीजिए। हे भगवन्! आप वामों-दुष्टों अथवा घातिया कर्म रूप पापों को जड़मूल से नाश करने वाले हैं, साधु पुरुषों के रक्षक हैं अतः भगवन्! मेरी भी रक्षा करो, मुझे भी इन दुष्ट कर्मों से छुड़ाओ-मुझे अपने समान करो। भगवन्! मेरे अपराधों पर दृष्टिपात मत करो, मेरे अवगुणों को मत देखो; आप अपार क्षमाधारी हैं, आप में उक्त बातों को पूर्ण करने का अपरिमित सामर्थ्य है, अतः मुझ पर प्रसन्न हो, मुझे अनन्त ज्ञानादि गुण प्रदान कर मुझे सुशोभित करो और इस पाप की रक्षा करो।

इस श्लोक को पढ़ कर हृदय आनन्दविभोर हो जाता है कि समन्तभद्राचार्य का हृदय भक्ति से कितना ओतप्रोत था। वे आधुनिक युग के समान प्रभुभक्ति को बंध का कारण मानकर अवहेलना करने वाले नहीं थे।

इस श्लोक में अम्, अव्, रक्ष् इन अनेक क्रियाओं के होने से 'बहुक्रियापद', द्वितीय चरण में 'क्षमाक्ष-क्षमाक्ष' की आवृत्ति होने से 'द्वितीयपादमध्ययमक', तालुस्थानीय-इवर्ण (इई) चवर्ग (चछजझञ्) य श इन अक्षरों के न होने से 'अतालुव्यञ्जन' केवल अवर्ण (अआ) स्वर होने से 'अवर्ण स्वर' प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण में द्वितीय चरण के गुप्त हो जाने से 'गूढ द्वितीयपाद' सब ओर से एक समान पढ़े जाने के कारण 'सर्वतोभद्र' क्रम और विपरीत क्रम से पढ़े जाने के कारण 'गतप्रत्यागत' और अर्धभ्रम रूप होने के कारण 'अर्धभ्रम' - इस प्रकार आठ प्रकार का चित्रालंकार है। अतः इस श्लोक

को बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्ययमक, अतालुव्यञ्जन, अवर्णस्वरसम्पन्न गूढ द्वितीयपाद-सर्वतोभद्र गत प्रत्यागतार्धभ्रमः अलंकार कहते हैं।

इस श्लोक को पढ़ने से आचार्यदेव की विद्वत्ता प्रकट होती है। वे व्याकरण, छन्द, पिंगल आदि के महान् पंडित थे।

इस श्लोक में 'ऋद्ध' शब्द वृद्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि आचार्यदेव ने इस स्तोत्र की रचना वृद्ध अवस्था में की है।

इसका चित्र इस प्रकार है—

(९) बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्य-यमकाऽतालुव्यञ्जनाऽवर्णस्वर-  
गूढद्वितीयपाद-सर्वतोभद्रः

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इस कोष्ठक में ऊपर का श्लोक चारों ओर से पढ़ा जाता है।

ॐ अर-जिन-स्तुतिः ॐ

(गतप्रत्यागतपादपादाभ्यासयमकाक्षरद्वयविरचितश्लोकः)

वीरावारर वारावी वररोरुरोरव ।

वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा ॥८५॥

वीरेति—पादे पादे यादृग्भूतः पाठः क्रमेण विपरीततोपि तादृग्भूत एव । प्रथमपादः पुनरावर्तितः ।

रेफवकारावेव वर्णौ नान्ये वर्णा यतः ।

विरूपा ईरा गतिः वीरा तां वारयति प्रच्छादयतीति कर्त्तरि क्विप् वीरावार् तस्य सम्बोधनं हे वीरावार् कुगतिनिवारण । अर अष्टादशतीर्थकर । वारान् भाक्तिकान् अवति पालयतीत्येवंशीलः वारावी भाक्तिकजनरक्षक इत्यर्थः । वरं इष्टफलं राति ददातीति वररः वरद इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं हे वरर । उरुर्महान् । उरोर्महतः महतोपि महान् भगवानित्यर्थः । अव रक्ष । हे वीर शूर । अवाररवेण अप्रतिहतवाण्या आरौति ध्वनयति भव्यान् प्रतिपादयतीत्येवंशीलः अवाररवारावी अप्रतिहतवाण्या वदनशीलः इत्यर्थः । कथमिव वारि व्यापि । वारि पानीयम् । वारि च वत् वारि च तत् वारिवारि वारिवारि राति ददातीति वारिवारिराः तस्मिन् वारिवारिरि सर्वव्यापिनीरदे । वारि वा जलमिव । वा शब्दः इवार्थे दृष्टव्यः । किमुक्तं भवति—हे अरतीर्थेश्वर वीरावार् वरर वीर वारावी त्वं उरोरपि उरुः त्वं तथा अवाररवारावी त्वं यथा वारिवारिरि वारि वा यतः ततः अव । सामान्यवचनमेतत् मा अव अन्यांश्च पालय ॥८५॥

अन्वय — वीरावार् ! अर ! वारावी ! वरर ! उरुरोः अवाररवारावी, वारिवारिरि वारिवीर वा अव ॥८५॥

अन्वयार्थ — वीरावार ! = विरूप नरकादि 'ईरा' गतियों के 'वीर' प्रच्छादक-अर्थात् हे नरकादि दुर्गतियों के निवारक ! अर ! हे अठारहवें अरनाथ तीर्थकर । वारावी = भक्तजनों के रक्षक । वरर ! = हे इष्ट फलदायक । उरुरोः = महान् में भी महान् । अवाररवारावी = अप्रतिहत वाणी के द्वारा ध्वनि करने वाले (भव्यों को तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले) वारिवारिरि = सर्वव्यापी बादल, जल से परिपूर्ण बादल के समान ज्ञान में प्रतिबिम्बित प्रमेय वाले । अथवा-वारिवा = जल के समान शब्द करने वाले । वीर = हे शूरवीर । अर = अरनाथ भगवान् । अव = मेरी और सारे संसारी प्राणियों की रक्षा करो ॥८५॥

अर्थ — हे 'वि' विरूप नरकादि - 'ईरा' गतियों को 'वीर' प्रच्छादक घातक उसका सम्बोधन- हे वीरावार = हे नरकादि दुर्गतियों के नाशक ! हे अठारहवें तीर्थकर अरनाथ भगवान् ! हे भक्तजनों के रक्षक, इष्ट-मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करने वाले ! हे शूरवीर अरनाथ भगवान् ! आप महान् से महान् हैं- सर्वश्रेष्ठ हैं- आपकी दिव्य ध्वनि अप्रतिहत है, अर्थात् आपकी दिव्य ध्वनि का विरोध करने वाला, उसको रोकने वाला कोई नहीं है, वह सारे संसार में बेरोकटोक प्रचलित है । जिस प्रकार सारे नभस्थल में व्याप्त होने वाले बादलों में जल रहता है, उसी प्रकार आपकी वाणी सर्व स्थान में व्याप्त है अर्थात् सारे जगत् में रहने वाले चराचर पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करने वाली है । हे प्रभो ! आप मेरी तथा संसारस्थ सर्व जीवों की रक्षा करो ।

इस श्लोक के प्रत्येक पद को विपरीत पढ़ने से अथवा सीधे क्रम में पढ़ने से वैसा ही बन जाता है । प्रत्येक पद में पुनरावृत्ति है । इसमें 'रिफ' और वकार दो ही वर्ण हैं, अन्य अक्षर इसमें नहीं हैं । अतः यह गतप्रत्यागत पाद पादाभ्यास यमकाक्षरद्वय विरचित श्लोक है ॥८५॥

श्लोक का चित्र इस प्रकार है-

(१०) गतप्रत्यागतपाद-पादाभ्यासयमकश्लोकः

वीरावारर वारावी वररोरुरोरव ।

वीरावाररवारावी वारिवाररि वारि वा ॥८५॥

वी	रा	वा	र
व	र	रो	रु
वी	रा	वा	र
वा	रि	वा	रि

इस कोष्ठक में स्थित प्रत्येक चरण के पूर्वार्ध को उलटा पढ़ने से उसका उत्तरार्ध बन जाता है। यह श्लोक दो अक्षरों (व,र) से बना है।

(अनुलोमप्रांतलोमश्लोकः)

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।

भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

रक्षमेति-क्रमपाठेनैकश्लोकः विपरीतपाठेनाप्यपरश्लोकः । अर्थश्च भिन्नः ।

रक्ष पालय । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अक्षर अनश्वर । वामेश प्रधानस्वामिन् । शमी उपशान्तः त्वमिति सम्बन्धः । चारुरुचानुतः शोभनभक्तिना पुरुषेण प्रणुतः । भो विभो हे त्रैलोक्यगुरो । अनशन अनाहार अविनाश इति वा । अज परमात्मन उरवः महान्तः नम्राः नमनशीलाः यस्यासावुरुनम्रः तस्य सम्बोधनं हे उरुनम्र । इन स्वामिन् । विजरामय विगतवृद्धत्वव्याधे । किमुक्तं भवति-हे अर अक्षर वामेश शमी त्वं चारुरुचानुतः भो विभो अनशन अज उरुनम्र इन विजरामय मा रक्ष ॥८६॥

अन्वय - भो विभो ! अनशन ! अक्षर ! वामेश ! अज ! उरुनम्र ! इन ! विजरामय ! शमी चारुरुचानुतः मा रक्ष ॥८६॥

अन्वयार्थ - भो विभो=हे तीन लोक के स्वामी ! अनशन !-अनाहार या अविनाशी ! अक्षर ! हे अनश्वर ! वामेश ! हे प्रधान स्वामी ! उरुनम्र ! =हे महान् पुरुषों के द्वारा नमस्कार करने योग्य । अज ! =हे जन्म रहित । इन=हे स्वामिन् । विजरामय ! = बुढ़ापा और रोग रहित । शमी=समता भाव के धारी । चारुरुचानुतः=शोभनीय महान् पुरुष जिसकी स्तुति करते हैं ऐसे हे भगवन् । मा=मेरी । रक्ष=रक्षा करो ।



अर्थ -- हे त्रिलोकीपति अरनाथ भगवान्! आप अनाहार हैं। अर्थात् आप कक्लाहार नहीं करते हैं, अविनश्वर हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं इन्द्रों के भी इन्द्र हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, महापुरुष आपके चरणों में नतमस्तक हैं, अहर्निश आपके गुणों का चिन्तन कर आपको नमस्कार करते हैं। भगवन् अज हैं अर्थात् अब आप संसार में जन्म नहीं लेंगे। आप सबके स्वामी हैं, वृद्धावस्था तथा व्याधियों से रहित हैं अतः आप मेरी रक्षा करो, मुझे संसार के दुःखों से मुक्त करो, मैं आपकी शरण में आया हूँ।

यह अनुलोम प्रतिलोम श्लोक है क्योंकि इसके चरणस्थ अक्षरों को विपरीत पढ़ने से भी वही चरण बन जाता है- जैसे 'रक्षमाक्षर' इसको विपरीत पढ़ने से भी 'रक्षमाक्षर' बनता है 'चारुरुचा' को विपरीत पढ़ने से भी 'चारुरुचा' निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'भो विभो' 'नशन' नम्रेन इत्यादि पद भी अनुलोम प्रतिलोम हैं अतः इसे अनुलोम प्रतिलोम श्लोक कहते हैं। तथा इसके चतुर्थ चरण और तृतीय चरण को विपरीत पढ़ने से सत्तासीवें श्लोक का प्रथम और द्वितीय चरण निष्पन्न होता है। इसी प्रकार द्वितीय और प्रथम चरण को विपरीत क्रम से पढ़ने से चतुर्थ और तृतीय चरण बन जाता है। अर्थात् ८६वें श्लोक को विपरीत क्रम से पढ़ने पर सत्तासीवाँ श्लोक निष्पन्न होता है। परन्तु इसका अर्थ उससे भिन्न है इसी से ८६वाँ श्लोक अनुलोम-प्रतिलोम कहलाता है।

८६ का चित्र इस प्रकार है।

र	क्ष	मा	क्ष	र	वा	मे	श	श	मी	चा	रु	रु	चा	नु	तः
भो	वि	भो	न	श	ना	जो	रु	न	म्रे	न	वि	ज	रा	म	य

इस कोष्ठक में स्थित श्लोक को उलटा पढ़ने से नीचे लिखा ८७वाँ श्लोक बन जाता है-

**यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।**

**तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥**

यमेति-यमराज व्रतस्वामिन्। यमैः राजते शोभते इति वा। विनम्राः विनमनशीलाः इनाः इन्द्रार्कादयो यस्यासौ विनम्रेनः तस्य सम्बोधनं विनम्रेन। रुजोनाशन व्याधिविनाशक। भो विभो हे स्वामिन्। तनु कुरु विस्तारय वा। चारुरुचामीश शोभनदीप्तीनां प्रभो! शमेव सुखमेव। आरक्ष पालय। मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम्। अक्षर अविनाश। समुदायार्थः-हे अर यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो चारुरुचामीश शोभनदीप्तानां प्रभो अक्षर शमेव तनु मा आरक्ष। सुखमत्यर्थं कुरु मां पालयेत्यर्थः ॥८७॥

अन्वय - यमराज ! विनम्रेन ! रुजोनाशन ! भो विभो ! चारुरुचां ईश ! अक्षर ! शम एव तनु मा आरक्ष ।

अन्वयार्थ - यमराज ! हे मूलगुण उत्तरगुणआदि सर्वव्रतों के स्वामी विनम्रेण=चरणों में नत हैं शत इन्द्र जिसके अर्थात् सर्व इन्द्र अहमिन्द्रों के द्वारा नमस्कृत । रुजोनाशन! हे आधि-व्याधि विनाशक ! चारुरुचां=शोभनीय कान्ति के । ईश=स्वामी (सर्वांगसुन्दर) अक्षर ! हे अविनाशी ! भगवन् । मा=मेरे लिए । शम्=सुख । एव=ही । तनु=विस्तृत करो-मुझ को मोक्षसुख ही दो । मा=मेरी । आरक्ष=रक्षा करो ।

अर्थ - हे भगवन् ! आप सर्वव्रतों के तथा व्रतधारियों के अधिपति हैं, अर्थात् सर्व ८४ लाख व्रतों से शोभित हो, सर्व इन्द्र अहमिन्द्र आदि के द्वारा पूजित हो, नमस्कृत हो अर्थात् शत इन्द्र आपके चरणों में नमस्कार करते हैं । हे प्रभो ! आपके स्तवन, पूजन एवं भक्ति से सारी मानसिक तथा शारीरिक आधियाँ, व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं अतः आप सर्व आधि, व्याधि के नाशक हैं, ऐसा कहा जाता है । हे प्रभो ! आप तेज के धारक हैं अर्थात् आपके शरीर की प्रभा से निर्मित भामण्डल से कोटि सूर्य का तेज छिप जाता है तथा आपके भामण्डल में भव्य प्राणी अपने सातभव देख सकते हैं अर्थात् आप सर्वांग सुन्दर हैं । हे प्रभो ! आप अविनाशी हैं, अब इस स्वात्मोपलब्धि रूप शिव सौख्य सिद्धि पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय को धारण करने वाले नहीं हैं । हे स्वामिन् ! मुझको केवल मोक्षसुख ही प्रदान करो और मेरी रक्षा करो- मुझे सांसारिक दुःखों से मुक्त करो ।

यह श्लोक श्लेषालंकार से युक्त है अतः यह सूर्यपक्ष में गर्भित हो सकता है ।

सूर्य अर्थ में संस्कृत टीका इस प्रकार हो सकती है-

हे इन हे सूर्य ! 'इनः पत्यौ नृपे सूर्ये', इति विश्वलोचनः । अन्यानि सम्बोधनान्यस्यैव विशेषणानि । तथाहि-हे रुजोनाश । हे व्याधिविनाशक ! "शीर्णाघ्राणाद्भिद्रपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्त-घोषान्, दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येकउल्लाघयन्यः । घर्माशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्न-निर्विघ्नवृत्तेर्दत्तार्घाः सिद्धसंघै-र्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्' ॥ (मयूरकृत-सूर्यशतके सूर्यस्तुतिः) इत्यादौ सूर्यस्य रुजोविनाशकत्वं प्रसिद्धम् । हे नभो विभो ! नभसो गगनस्य विभुः स्वामी तत्सम्बुद्धौ । हे यमराज ! यमेन शनैश्चरग्रहेण स्वपुत्रेण राजते शोभते तत्सम्बुद्धौ । शनिः सूर्यस्य पुत्र इति ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धम् । 'यमोऽन्यलिङ्गो यमजे ना काके शमने शनौ, इति मेदिनी । हे विनम्र ! वौ आकाशे नम्रस्तत्सम्बुद्धौ 'विः स्वर्गाकाशयोः पुमान्' इति विश्वलोचनः । हे चारुरुचामीश ! सुन्दर किरणानां स्वामिन् ! हे अक्षर ! अक्षान् व्यवहारान् रीति ददातीत्यक्षरस्तत्सम्बुद्धौ 'अक्षो ज्ञातार्थशकट-व्यवहारेषु पाशके' इति मेदिनी । हे उक्त विशेषण-विशिष्ट दिनकर ! शं-सुखं तनु-विस्तारय माम् आरक्ष चान्धतमसादिति शेषः । अथवा तनुचारुरुचाम् - शरीरसुन्दरशोभानाम् - इत्येकं पदम् । माक्षर मया लक्ष्म्या अक्षरोऽविनश्वरस्तत्सम्बुद्धावित्यप्येकं पदम् । शमेव-सुखमेव आरक्ष-आसमन्ता' द्रक्षेति कर्तृकर्मसम्बन्धः । अत्र इन एव इन इति । श्लेषरूपकाश्रये चमत्कारातिशयो भवेदिति संक्षेपः ॥८७॥

अर्थ - 'इन' सूर्य! 'इन' शब्द स्वामी, सूर्य, राजा आदि अनेक अर्थों में आता है। अन्य सारे सम्बोधन इसी सूर्य के विशेषण हैं। अतः हे इन=सूर्य। हे यमराज! यम-शनि स्वपुत्र, उससे शोभित शनि को सूर्य का पुत्र माना है। शनि का नाम यम है, मेदिनी कोश में 'यमः' अन्यलिंग ना, काक शमन और शनि अर्थ में आता है, शनि सूर्य का पुत्र है अतः स्वपुत्र शनि से शोभित-यमराज कहलाता है-अर्थात् सूर्य अपने पुत्र से शोभित है। अतः यमराज है। हे शनिग्रह रूप अपने पुत्र से शोभित! 'वि' स्वर्ग और आकाश वाचक है। 'नम्र' का अर्थ गमन है। 'रुचा' का अर्थ किरण है- 'चारु' सुन्दर है। मनोज्ञ किरणों के। तनु का अर्थ शरीर है। अतः सुन्दर शरीर की किरणों के स्वामी। विभो=आकाशगमन के स्वामी। रूजोनाशन=रोग के नाशक। मयूर कृत सूर्यशतक नामक सूर्य स्तुति में लिखा है- 'शीर्ण, घ्राण, अंग्रिपाद, हाथ के रोग, घाव, घर्घर आवाज आदि अनेक रोग सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाते हैं।'

अक्ष-शब्द के व्यवहार, ज्ञात अर्थ, जाल, गाड़ी आदि अनेक अर्थ हैं। हे अक्षर-व्यवहार को देने वाले। इसका अर्थ है-

हे शनिग्रहरूप स्वपुत्र से सुशोभित! हे गगनसंचारिन्! हे रोगापहारिन्! हे गगनैकनाथ! हे अखिल व्यवहार के दायक! सुन्दर किरणों के नायक! अरनाथरूपी सूर्य-मेरे लिए सुख विस्तृत करो और मुझे दुःखों से बचाओ, रक्षा करो।

इस प्रकार आचार्यदेव ने इस श्लेषालंकार के द्वारा अरनाथ भगवान् की सूर्य के साथ उपमा देकर कथन किया है ॥८७॥

इस श्लोक का चित्र इस प्रकार है-

य	म	रा	ज	वि	न	मे	नं	रु	जो	ना	श	न	भो	वि	भो
त	नु	चा	रु	रु	चा	मी	श	श	मे	वा	र	क्ष	मा	क्ष	र

इस कोष्ठक में स्थित श्लोक को उलटा पढ़ने से पूर्व का ८६वाँ श्लोक बन जाता है। इसीसे श्लोक का यह जोड़ा अनुलोम-प्रतिलोम कहलाता है।

(गतप्रत्यागतरचना)

नय मा स्वर्य वामेश शमेवार्य स्वमाय न।

दमराजर्त्तवादेन नदेवार्त्तजरामद ॥८८॥

नयेति-नय प्रापय। मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम्। सु शोभनः अर्यः स्वामी स्वर्यः तस्य सम्बोधनं हे स्वर्य सुस्वामिन्। वामेश प्रधानेश। शमेव सुखमेव। आर्य साधो। सुष्ठु अमायः स्वमायः तस्य

सम्बोधनं हे स्वमाय । न नत्वर्थे । अथवा आ समंतात् अर्थते गम्यते परिच्छिद्यते यः सः आर्यः अर्य इत्यर्थः, आर्यस्य स्वः आत्मा आर्यस्वः, तं मिमीते इति कर्त्तरि कः, आर्यस्वमं अयनं ज्ञानं यस्यासौ आर्यस्वमायनः स्वस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः, तस्य सम्बोधनं हे आर्यस्वमायन । दमस्य इन्द्रियजयस्य राजा स्वामी दमराजः । टःसान्तः । अथवा दमेन राजत इति दमराजः तस्य सम्बोधनं हे दमराज । ऋतं सत्यं वादः कथनं यस्यासौ ऋतवादः तस्य सम्बोधनं हे ऋतवाद सत्यवाक्य । इन प्रभो भास्वन् । देवः क्रीडा, आर्त्त पीडा, जरा वृद्धत्वं, मदः कामोद्रेकः । देवश्च आर्त्तं च जरा च मदश्च देवार्त्तजरामदाः न विद्यन्ते देवार्त्तजरामदाः यस्यासौ नदेवार्त्तजरामदः । नञ् प्रतिरूपकोयं झि संज्ञको नकारः अतः अनादेशो न भवति । तस्य सम्बोधनं हे नदेवार्त्तजरामद । एतदुक्तं भवति—हे अरनाथ स्वर्यं वामेश आर्य स्वमाय आर्यस्वमायन वा दमराज ऋतवाद इन नदेवार्त्तजरामद ननु मा शमेव नय सुखमेव प्रापय । मां न दुःखमित्युक्तं भवति ॥८८॥

अन्वय - स्वर्य ! वामेश ! आर्य ! स्वमाय ! वा आर्य स्वमायन ! दमराज ! ऋतवाद ! इन ! नदेवार्त्तजरामद ! मा शं एव नय न दुःखं ।

अन्वयार्थ - स्वर्य ! = हे समीचीन स्वामी । वामेश ! = उत्कृष्ट नायक । आर्य ! = हे श्रेष्ठ पुरुष । स्वमाय ! = हे सम्यक् प्रकार से माया रहित । अथवा आर्यस्वमायन ! = सर्वप्रकार से स्वकीय आत्मा का अनुभव करने वाले ज्ञान से सम्पन्न अर्थात् हे स्वपर प्रकाशक ज्ञान से संयुक्त । दमराज ! हे इन्द्रियदमन रूप संयम से शोभित ! वा इन्द्रियदमनरूप संयम के राजा । ऋतवाद ! = हे सत्य वचन बोलने वाले-सत्यार्थ रूप में पदार्थ का कथन करने वाले । इन ! हे स्वामिन् ! नदेवार्त्तजरामद ! - देव-क्रीड़ा, आर्त्त-पीड़ा, जरा-बुढ़ापा और मद जिनके नहीं हैं- अर्थात् क्रीड़ा-पीड़ा-वृद्धत्व और अहंकार से रहित अरनाथ भगवान् । मा=मेरे लिए । शं=सुख । एव=ही । नय=दो । न दुःखं=दुःख मत दो ।

अर्थ - समन्तभद्राचार्य भक्ति से विभोर होकर गद्गद हृदय से प्रभु से प्रार्थना करते हैं- हे सर्वश्रेष्ठ नायक ! हे सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में प्रधान ! छल कपट से शून्य तथा स्वपर-प्रकाशक ज्ञान से संयुक्त ! हे इन्द्रिय दमन रूप संयम से सुशोभित ! नय पद्धति से अनेक धर्मात्मक वस्तु का सत्यरूप से प्रतिपादन करने वाले । हे क्रीड़ा, शारीरिक पीड़ा, वृद्धत्व और अहंकार से रहित ! अरनाथ भगवान् ! मुझको वास्तविक स्वात्मोपलब्धि स्वरूप सुख प्रदान करो । दुःख नहीं अर्थात् दुःख से मुक्त करो । संसार के दुःखों से छुड़ाकर पूर्ण सुखशान्ति प्रदान करो ॥८८॥

यह श्लोक गतप्रत्यागत अलंकार से युक्त है । इसमें प्रथम चरण को विपरीत क्रम से पढ़ने से द्वितीय चरण बन जाता है, द्वितीय चरण को विपरीत क्रम से पढ़ने से प्रथम चरण बन जाता है । तृतीय चरण को विपरीत पढ़ने से चतुर्थ चरण और चतुर्थ को विपरीत पढ़ने से तृतीय चरण निष्पन्न हो जाता है । अतः चरणों के पुनः आगत होने से गतप्रत्यागत अलंकार कहते हैं ।

(यथेष्टैकाक्षरान्तरितमुरजबन्धः)

वीरं मा रक्ष रक्षार परश्रीरदर स्थिर ।

धीरधीरजरः शूर वरसारर्द्धिरक्षर ॥८९॥

वीरिति—इष्टपादेन चतुर्णां मध्ये र वर्णान्तरेण मुरजबन्धो निरूपयितव्यः ।

वीरं शूरं । अथवा विरूपा इरा गतिर्यस्यासौ वीरः । अथवा व्या इच्छायै ईरा....यस्यासौ वीरः तं वीरम् । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । रक्ष पालय । रक्षां क्षेमं राति ददाति रक्षारः तस्य सम्बोधनं हे रक्षार अभयद । परा श्रेष्ठा श्रीर्लक्ष्मीर्यस्यासौ परश्रीः त्वमिति सम्बन्धः । अदर अभय । स्थिर अचल । धीरधीः गम्भीरबुद्धिः अगाधधिषण इत्यर्थः । अजरः जरामरणरहितः । शूर वीर । वरा श्रेष्ठा सारा अनश्वरी ऋद्धिः विभूतिर्यस्यासौ वरसारर्द्धिः । अक्षर क्षयरहित । एतदुक्तं भवति—हे रक्षार परश्रीस्त्वं अदर धीरधीस्त्वं स्थिर अजरस्त्वं शूर वरसारर्द्धिस्त्वं अक्षर वीरं मा रक्ष ॥८९॥

अन्वय — रक्षार ! अदर ! अजर ! स्थिर ! अक्षर ! शूर ! परश्रीः धीरधीः वरसारर्द्धिः वीरं मा रक्ष ।

अन्वयार्थ — रक्षार ! = हे समस्त प्राणियों के कल्याण करने वाले ! अदर ! हे निर्भय अजर = हे जन्म-मरण रहित । स्थिरः ! हे अचल ! अक्षर ! = हे अविनाशी ! शूरः = शूरवीर । प्रभो आप । परश्रीः = उत्कृष्ट लक्ष्मी के धारक हैं । धीरधीः = आप अगाध ज्ञान से सम्पन्न हैं । वरसारर्द्धिः = श्रेष्ठ सार (अविनाशीक) ऋद्धि (ज्ञानादिविभूति) वाले अरनाथ भगवान् । वीरं = विरूप गति-गतियों में भ्रमण करने वाले । मा = मेरी । रक्ष = रक्षा करो ॥८७॥

अर्थ — हे सारे संसारी प्राणियों की रक्षा करने वाले ! हे निर्भीक वृत्तिवाले ! हे जन्म, जरा, मरण से रहित ! हे अचल अडोल अकम्प, हे अविनाशी ! हे शूरवीर ! प्रभो ! आप उत्कृष्ट समवसरणादि बहिरंग और अनन्त चतुष्टयादि अंतरंग लक्ष्मी के धारक हैं । अगाध बुद्धि (केवलज्ञान) से संयुक्त हैं और श्रेष्ठ अविनाशी विभूति से सुशोभित है- हे अरनाथ भगवन् ! दुःखदायी नरकादि चारों गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने वाले मेरी रक्षा करो । मुझे संसार-परिभ्रमण से मुक्त करो ॥८७॥

इस श्लोक में चारों पदों में एक अक्षर के बाद एक 'र' वर्ण है अतः यह श्लोक यथेष्ट एक अक्षरान्तरित मुरजबन्ध है । अर्थात् जिसमें प्रत्येक एक अक्षर के बाद एक ही अक्षर आता है उसको एकाक्षर अन्तरित मुरजबन्ध कहते हैं ।

## 卐 मल्लि-जिन-स्तुतिः 卐

(अर्द्धभ्रमः)

आस यो नतजातीर्या सदा मत्वा स्तुते कृती ।

यो महामतगोतेजा नत्वा मल्लिमितः स्तुत ॥१०॥

आसेति—आस अस्यतिस्म । यः यदो वान्तस्य रूपम् । नतस्य प्रणतस्य जातिः उत्पत्तिः नतजातिः नतजातेरीर्या प्राप्तिः नतजातीर्या तां नतजातीर्याम् । सदा सर्वकालम् । मत्वा ज्ञात्वा । अथवा कनिबन्तोयं प्रयोगः, मत्वा ज्ञातेत्यर्थः । स्तुते नुते पूजिते । कृती अनश्वरकीर्तिः तीर्थकरकर्मा पुण्यवानित्यर्थः । यः यदो रूपम् । मतं आगमः, गौर्वाणी, तेजः केवलज्ञानं, द्वन्द्वः, महान्तः मतगोतेजांसि यस्यासौ महामतगोतेजाः । नत्वा स्तुत्वा तमिति सम्बन्धः । तं-मल्लिं एकोनविंशतीर्थकरम् । इतः प्राप्तः । अथवा इतः ऊर्ध्वं अरस्तुतेरूर्ध्वम् । स्तुत नुत । स्तु इत्यस्य घोः लोडन्तस्य रूपं बहुवचनान्तम् । एतदुक्तं भवति—यः मल्लिः नतजातीर्या आस सदा मत्वा स्तुते सति कृती यश्च महामतगोतेजाः तं मल्लिनाथं नत्वा इतः स्तुत ॥१०॥

अन्वय — यः नतजातीर्या आस यः महामतगोतेजा स्तुते कृती मत्वा सदा मल्लिं नत्वा इतः स्तुतः ॥१०॥

अन्वयार्थ — यः=जो । नतजातीर्या=नमस्कार करने वालों की उत्पत्ति (जन्ममरण) की प्राप्ति को । आस=दूर करते हैं, नष्ट करते हैं । यः=जो । महामतगोतेजः=महान् आगम, दिव्य ध्वनि और तेज (ज्ञान) वाले हैं । स्तुते=स्तुति करने पर मानव । कृती=अनश्वर कीर्ति वाला-तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर महान् पुण्यवान हो जाता है । इसलिए ऐसा । मत्वा=जानकर । सदा=निरन्तर मल्लिं=मल्लिनाथ भगवान को । नत्वा=नमस्कार करके! इतः=प्राप्त हो अर्थात् उनके निकटवर्ती हो । स्तुतः=उनकी स्तुति करो ।

अर्थ — जो मल्लिनाथ भगवान्! भव्य पुरुषों के जन्म-मरण को नष्ट करते हैं अर्थात् जिनकी भक्ति के प्रसाद से भव्य प्राणियों के जन्ममरणादि महारोग नष्ट हो जाते हैं ।

जिनका मत (सिद्धान्त), वाणी और तेज (ज्ञान वा शरीर की आभा) विशाल है । जिनकी स्तुति करने पर भव्य पुरुष तीर्थकर प्रकृति जैसे सातिशय पुण्यकर्म के भागी बनते हैं । ऐसा मानकर निरन्तर मल्लिनाथ भगवान के निकटवर्ती होकर नमस्कार करके स्तुति करो ।

समन्तभद्राचार्य ने भव्यों को मल्लिनाथ भगवान की स्तुति करने के लिए प्रेरित किया है ।

यह श्लोक अर्द्धभ्रम चित्रालंकार युक्त है, इसका विवरण इस प्रकार है—

श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखिये। चारों चरणों के प्रथम और अन्तिम चार अक्षरों के मिलाने से श्लोक का प्रथम चरण निष्पन्न होता है। इन्हीं चारों चरणों के द्वितीय और उपान्त्य अक्षरों को मिलाने से द्वितीय चरण बन जाता है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पाद भी सिद्ध कर लेने चाहिए। इस प्रकार की रचना को 'अर्धभ्रम' चित्रालंकार कहते हैं।

इसका चित्र इस प्रकार है—

आ	स	यो	न	त	जा	ती	र्या
स	दा	म	त्वा	स्तु	ते	कृ	ती
यो	म	हा	म	त	गो	ते	जा
न	त्वा	म	ह्नि	मि	तः	स्तु	तः

### ॐ मुनिसुव्रत-जिन-स्तुतिः ॐ

(निरौष्ट्ययथेष्टैकाक्षरान्तरितमुरजबन्धो गोमूत्रिका षोडशदलपद्मश्च)

ग्लानं चैनश्च नः स्येन ! हानहीन ! घनं जिन ।

अनन्तानशन ज्ञानस्थानस्थाऽऽनत-नन्दन ॥९१॥

**ग्लानमिति**—ग्लानं च ग्लानिं च । एनश्च पापं च । नः अस्माकम् । स्य विनाशय । हे इन स्वामिन् । हानहीन क्षयरहित । घनं निबिडम् । जिन परमात्मन् । अनन्त अमेय अलब्धगुणपर्यन्त । अनशन अविनाश निराहार इति वा । ज्ञानस्थानस्थ केवलज्ञानधामस्थित । आनतनन्दन प्रणतजनवर्धन । उत्तरश्लोके मुनिसुव्रतग्रहणं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः । हे मुनिसुव्रत इन हानहीन जिन अनन्त अनशन ज्ञानस्थानस्य आनतनन्दन ग्लानं च एनश्च नः स्य ॥९१॥

**अन्वय** — इन ! हानहीन ! जिन ! अनन्त ! अनशन ! ज्ञानस्थानस्थ ! आनतनन्दन ! नः ग्लानं च घनं ऐनः च स्य ।

**अन्वयार्थ** — इन ! = हे स्वामिन् । हानहीन ! = हे क्षयरहित (अविनाशी) जिन ! = हे कर्मशत्रुओं को जीतने वाले परमात्मा । अनन्त ! = अपरिमित गुणों के धारक ! अनशन ! = अविनाशी वा निराहारी । ज्ञानस्थानस्थ ! = केवलज्ञानरूपी धाम में स्थित । आनतनन्दन ! = नमस्कार करने वालों की वृद्धि करने वाले वा आनन्दित करने वाले । उत्तर श्लोक में मुनिसुव्रत का ग्रहण होने से इस श्लोक में भी मुनिसुव्रत का ग्रहण करना है अतः हे मुनिसुव्रतनाथ भगवन् ! नः = हमारे (स्तुति करने वालों के) ग्लानं = ग्लानि को ।

च=और। घनं=अनादिकाल से आत्मप्रदेशों में स्थित घोर। ऐनः=पापों को। स्य=दूर करो, नाश करो। एक 'च' पादपूर्ण अर्थ में है।

अर्थ - हे मुनिसुब्रतनाथ भगवान्! आप क्षयरहित हैं, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं अनन्त-अपरिमित गुणों से सुशोभित हैं, नाश रहित हैं अथवा कवलाहार से रहित हैं, केवल ज्ञानरूप तेजस्वीधाम में स्थित हैं और नमस्कार करने वालों के ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाले हैं। हे मुनिसुब्रतनाथ स्वामी मेरी ग्लानि (आत्मीय शक्ति की हीनता) को दूर करो और मेरे घातिया कर्म तथा असाता कर्म रूप पापकर्म का नाश करो, दूर करो। अथवा मेरी पाप भावना को दूर करो।

यह श्लोक निरोष्ठ्य (इस श्लोक में एक भी अक्षर ओष्ठ से उच्चारण होने वाला नहीं है) अक्षर तथा यथेष्ट एक अक्षर अन्तरित मुरजबन्ध है तथा गोमूत्रिका षोडशदल पद्म है।

इसका चित्र इस प्रकार है—

ग्लानं	चै	नश्च	नः	स्ये	न	हान	ही	न	घनं	जिन	न	
अ	नं	ता	न	श	न	ज्ञान	स्थान	स्थान	त	ने	न्द	नः

(अर्द्धध्रमः)

पावनाजितगोतेजो वर नानाव्रताक्षते ।

नानाश्चर्य सुवीतागो जिनार्य मुनिसुब्रत ॥१२॥

पावनेति—पावन पवित्र। गौश्च तेजश्च गोतेजसी, न जिते गोतेजसी वाणीज्ञाने यस्यासावजितगोतेजाः तस्य सम्बोधनं हे अजितगोतेजः। वर श्रेष्ठ। नानाव्रत नानानुष्ठान। छद्मस्थावस्थायामाचरणकथनमेतत्। अक्षते अक्षय। नानाभूतानि आश्चर्याणि क्रद्दयः प्रातिहार्याणि वा यस्यासौ नानाश्चर्यः, तस्य संबोधनं हे नानाश्चर्य। सुष्ठु वीतं विनष्टं आगः पापं अपराधो यस्यासौ सुवीतागः तस्य संबोधनं हे सुवीतागः जिन जिनेन्द्र। आर्य स्वामिन्। मुनिसुब्रत विंशतितमतीर्थकर। अतिक्रान्तेन क्रियापदेन स्य इत्यनेन सह सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—हे पावन अजितगोतेजः वर नानाव्रत अक्षते नानाश्चर्य सुवीतागः जिन आर्य मुनिसुब्रत नः अस्माकं ग्लानं एनश्च स्य विनाशय ॥१२॥

अन्वय - पावन! अजितगोतेजः! वर! नानाव्रतअक्षते! नानाश्चर्य! सुवीतागः! जिन! आर्य! मुनिसुब्रत! नः ग्लानं एनं च स्य।

अन्वयार्थ - पावन! = हे परम पवित्र। अजितगोतेजः! अप्रतिहत है वाणी और ज्ञान जिसका-सम्बोधन में हे अप्रतिहतवाणी और ज्ञान वाले प्रभो! वर! हे सर्वश्रेष्ठ। नानाव्रत! = छद्मस्थ अवस्था में



अनेक व्रत अनुष्ठान करने वाले। अक्षते ! = हे अक्षय ! नानाश्चर्य ! नाना प्रकार के आश्चर्य (अतिशय ऋद्धयः प्रातिहार्य) के धारक। सुवीतागः ! = भली प्रकार जिसके अपराध नष्ट हो गये हैं वह हे सुनष्ट अपराध ! जिन ! = हे जिनेन्द्रदेव आर्य ! = हे स्वामिन् ! मुनिसुव्रत ! = हे जीसर्वे तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथ भगवन्। नः = हमारे। ग्लानं = ग्लान को। च = और एनः = पाप कर्मों को। स्व = दूर करो। मेरी विभाव भाव रूप पाप परिणति का नाश करो।

अर्थ -- हे मुनिसुव्रतनाथ भगवन् ! आप परम पवित्र हैं, रागादि विकार भावों से रहित है। हे जिनेश्वर ! आपकी दिव्यध्वनि और केवलज्ञानरूपी तेज अजेय अप्रतिहत हैं, इन्हें कोई जीत नहीं सकता अर्थात् आपकी अनेकान्तमयी वाणी का कोई भी खण्डन नहीं कर सकता। हे अतीवश्रेष्ठ प्रभुवर ! आपने छद्मस्थ अवस्था में अनेक प्रकार के व्रतों का अनुष्ठान किया है। हे अविनाशी प्रभो ! आप अनेक आश्चर्य सहित हैं अर्थात् ३४ अतिशय और आठ प्रातिहार्य आदि अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न हैं। हे प्रभो ! पापमय घातिया कर्मों से रहित होने से आप निष्पाप हैं। हे जिनेश ! आप सबके स्वामी हैं। हे भगवन् ! संसार-परिभ्रमण के कारण उत्पन्न मेरी भी ग्लानि-थकावट और पाप भावना आर्त्त-रौद्र ध्यान को दूर करो तथा मुझे आत्मशान्ति प्रदान करो। यही आपसे प्रार्थना करता हूँ, मुझे सांसारिक दुःखों से मुक्त करो।

९२-९३ वें श्लोक की क्रिया 'स्य' और 'ग्लान' एवं ये कर्म एक ही हैं अर्थात् दोनों एक साथ सम्बन्ध युक्त हैं।

यह श्लोक 'अर्द्धभ्रम' अलंकार से युक्त है।

### ॐ नमि-जिन-स्तुतिः ॐ

(गतप्रत्यागतपादयमकाक्षरद्वयविरचितसन्निवेशविशेष-  
समुद्गतानुलोमप्रतिलोयश्लोकयुगलश्लोकः)

नमेमान नमामेनमानमाननमानमा-

मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥९३॥

नमेति - गतप्रत्यागतपादयमको नकारमकाराक्षरद्वयविरचितश्लोकद्वयं श्लोकयुगलमित्यर्थः। अन्यद्विशेषणं मुखशोभनार्थम्।

हे नमे एकविंशतीर्थकर। अमान अपरिमेय। नमाम प्रणमाम त्वामित्यध्याहार्यमर्थसामर्थ्याद् वा लभ्यम्। इमं स्वामिनम्। आनानां प्राणिनां माननं प्रबोधकं मानं विज्ञानं यस्यासौ आनमाननमानः तं आनमाननमानं भव्यप्राणिप्रबोधकविज्ञानमित्यर्थः। आन इति अन श्वस प्राणने इत्यस्य धोः घञन्तस्य रूपम्। माननमिति मन ज्ञाने इत्यस्य धोः णिना युङ्क्तस्य रूपम्। आमनामः आ समन्तात् चिन्तयामः। मन

अभ्यासे इत्यस्य धोः लङन्तस्य रूपम् । अनु पश्चात् नुमः वन्दामहे । अनामनं अ-नमनप्रयोजकं मनः चित्तं यस्यासौ अनामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे अनामनमनः बलात्कारेण न परात्रामयतीत्यर्थः, अनेन वीतरागत्वं ख्यापितं भवति । अथवा नामनानि नमनशीलानि मनांसि चित्तानि यस्माद् भवन्ति असौ नामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः । अथवा नामनं स्तुतिनिमित्तं मनः चित्तं यस्मादसौ नामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः । अमम हे अमोह । नः अस्मान् । मन अभ्यासय चिन्तय इत्यर्थः 'मन अभ्यासे इत्यस्य धोः लोङन्तस्य रूपम्' । एतदुक्तं भवति—हे नमे अमान अमम अनामनमनः त्वां इमं आनमाननमानं आमनामः नमाम अनु नुमः यस्मात्तस्मात् नः अस्मान् मन चिन्तय ॥९३॥

अन्वय — नमे ! अमान ! अमम ! अनामनमनः ! नामनमनः ! आनमाननमानं इमं आमनामः अनु नुमः नः मनः ।

अन्वयार्थ — नमे ! = नमिनाथ । अमान ! = हे परिमेय ! अमम ! = हे निर्मोही । अनामनमनः ! = हे बिना इच्छा दूसरों को नमस्कार नहीं कराने वाले - हे वीतराग ! अथवा - नामनमनः ! = नमनशील है चित्त जिससे उसका सम्बोधन हे नामनमनः । जिसको देखकर मन स्वयमेव झुक जाता है । अथवा - जिसके निमित्त को पाकर चित्त स्तुतियुक्त हो जाता है ।

आनमाननमानं = आन - प्राणियों को माननं = प्रबोधक है नानं = ज्ञान जिसका, हे सर्व जीवों को प्रबोध करने वाले ज्ञान के धारक । इमं = परमात्मा को । आमनामः = मन में चिन्तन करता हूँ । अनु = पश्चात् । नुमः = नमस्कार करता हूँ । आपकी स्तुति करता हूँ । नः = मेरा । मनः = ध्यान रखो ।

अर्थ — हे अपरिमेय—छद्मस्थ जीवों के द्वारा वास्तविक रूप से आप जाने नहीं जा सकते अर्थात् छद्मस्थ ज्ञानी के द्वारा अगम्य, निर्मोही, वीतरागी, किसी को बिना इच्छा नमस्कार नहीं कराने वाले - आपको देखकर मन स्वयमेव झुक जाता है । हे सर्व प्राणियों को ज्ञानदाता नमिनाथ भगवान् ! मैं निरन्तर आपका ध्यान करता हूँ, स्तुति करता हूँ, मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक आपको नमस्कार करता हूँ । मुझ शरणागत का प्रतिपालन करो, मेरा ध्यान रखो, मुझे अपने समान बना लो । मैं भी आपके समान पूर्ण ज्ञानी बनना चाहता हूँ ।

९३-९४ दो श्लोकों में न-म ये दो ही अक्षर हैं— तथा गतप्रत्यागत पादयमक दो अक्षरों से निर्मित सन्निवेश विशेष से उत्पन्न अनुलोम, प्रतिलोम नामक चित्रालंकार है । इसमें प्रत्येक पाद के अक्षर पुनःपुनः आते हैं, अतः इसको गत प्रत्यागत पादयमक कहते हैं ।

ये दोनों श्लोक 'न म' इन दो अक्षरों से निर्मित हैं । अतः दो अक्षर निर्मित कहलाते हैं ।

इसके चारों ही पद क्रम से या विपरीत पढ़ने से एक समान ही होते हैं । जैसे—

नमेमाननमामेन, इस प्रथम पाद को विपरीत पढ़ने से भी ऐसा ही पाद बनेगा- 'नमेमाननमामेन' इसी प्रकार चारों चरण समझना। इन दोनों श्लोकों की समान रचना होने पर भी अर्थ पृथक्-पृथक् है ॥१३॥

**न मे माननमामेन मानमाननमानमा-**

**मनामो नु नु मोनामनमनोम मनोमन ॥१४॥**

नमेमेति—न प्रतिषेधवचनम्। मे मम। माननं पूजनं प्रभुत्वं स्वातन्त्र्यमित्यर्थः। आमेन रोगेण संसारदुःखेन कर्मणा इत्यर्थः। किंविशिष्टेनामेन मानमा मानं ज्ञानं मिनाति हिंसयतीति मानमाः तेन मानमा। अननं प्राणनं जीवनं मिनाति हिंसयतीति मानमाः तेन अनगमा। आ समन्तात् नमन्तीत्यानमाः स्तुतेः कर्तारः। आनमानां अमनं रोगः व्याधिः आनमामनं तत् अमति रुजति भनक्तीति 'कर्मण्यण्' आनमामनामः त्वमिति सम्बन्धः। नु वितर्के। अन्योपि नु वितर्के। मा लक्ष्मीः तथा ऊनाः रहिताः मोनाः मोनानां आमः रोगः मोनामः तं नामयतीति मोनामनमनः त्वमिति सम्बन्धः। अम गच्छ। मे इत्यध्याहार्यः। मनः चित्तम्। अमन कान्त कमनीय। एददुक्तं भवति—आनमामनामो नु त्वं यस्मात् मोनामनमनो नु यस्मात् त्वं तस्मात् हे नमे अमन मे मनः अम गच्छ यस्मात् मे मम माननं नास्ति आमेन किं विशिष्टेन मानमा पुनरपि अननमा ॥१४॥

अन्वय — आनमामनामः अमनं अमः मोनामनमनः अमन नमे ननु मे मनः अम। मानमा आमेन नु मे माननं न अननमा।

अन्वयार्थ — आनमामनामः=आनमा=भक्तिपूर्वक नमस्कार करने वालों के। अमनं=रोगों के, अमः=नाश करने वाले। आनमामनामः=नमस्कार करने वाले भक्तों में रोगों के नाश करने वाले। मोनामनमनः=मा-लक्ष्मी, ऊन=रहित, आम, रोग। नाम=नाश करने वाले-मोनामनमनः=ज्ञानादि लक्ष्मी से रहित अज्ञानी जनों के सांसारिक, मानसिक वा अज्ञानमय रोगों के नाशक। अमन!=सुन्दर। नमे!=हे नमिनाथ भगवान्। ननु=निश्चय से। मे=मेरे। मनः=मन को। अम=प्राप्त होओ। मेरे मन में निवास करो। मानमा=ज्ञानादि गुणों के नाशक। आमेन=रोगों ने (कर्मों ने)। नु=वास्तव में। मे=मेरे। माननं=पूजा प्रतिष्ठा स्वतंत्रता। न=नष्ट की है। अननमा=ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों से रहित हो जाऊँ।

अर्थ — समन्तभद्राचार्यदेव भगवान् नमिनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि भगवन्! आप हमारे जैसे अल्प ज्ञानियों के गम्य नहीं हैं। आप सारे जगत् के स्वामी हैं, आप हितोपदेशी हैं, सर्वजीवों के प्रबोधक हैं, वीतरागी हैं निर्मोही हैं। भक्तजनों के सांसारिक वा अज्ञानादि रोगों के नाशक हैं। आप किसी को नमस्कार करने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं अपितु स्वयमेव भव्य आपके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं।

हे प्रभो ! जो आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है, उसके सारे रोग-शोक नष्ट हो जाते हैं। जो अल्प ज्ञानी हैं, मूर्ख हैं, उनको भी ज्ञान प्रदान कर आप ज्ञानी बना देते हैं। आप अतीव सुन्दर हैं इसके सिवाय अज्ञानी मनुष्यों के आप हितैषी हैं। हे प्रभो ! ज्ञान गुण के घातक आत्मीय शुद्ध स्वरूप के नाशक, दुःखदायक कर्मरूपी रोगों ने मेरी स्वाधीनता नष्ट कर दी है, मेरी केवलज्ञानादि सम्पदा को नष्ट कर मुझे दरिद्री बना दिया है। हे प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, स्तुति करता हूँ, आपका ध्यान करता हूँ। मुझ शरणागत की रक्षा करो। हे प्रभो ! आप मेरे हृदय में प्रवेश करके मेरे दुःख-दारिद्र्य का नाश करो, अनन्त चतुष्टय रूप वैभव को प्रदान करो। प्रभुवर ! आपके चरण-शरण के प्रसाद से मैं संसाररोग से निर्मुक्त हो जाऊँ। स्वात्मोपलब्धि रूप स्वसुख को प्राप्त हो जाऊँ-हमेशा के लिए अपने स्वाधीन सुख का भोक्ता बन जाऊँ।

इन श्लोकों में अनुलोम प्रतिलोम अलंकार है- जिसका कथन पूर्व श्लोक में किया है।

(अनुलोमप्रतिलोमसकलश्लोकगतप्रत्यागतार्द्धः)

नर्दयाभर्त्तवागोद्य द्य गोवार्त्तभयार्दन ।

तमिता नयजेतानुनुताजेय नतामित ॥१५॥

नर्दयेति—गतप्रत्यागतार्द्ध इत्यर्थः । हे नः पूज्यपुरुष । दया एव आभा रूपं यस्यासौ दयाभः तस्य सम्बोधनं हे दयाभ दयारूप । ऋता सत्या वाक् वाणी ऋतवाक् सत्यवचनम्, आ समन्तात् उद्यत इत्योद्यम्, ऋतवाचा सत्यवाण्या ओद्यं आकारं यस्यासौ ऋतवागोद्यः तस्य सम्बोधनं हे ऋतवागोद्य । द्य खण्डय । गौर्वाणी, वात्तैव वात्तं, गोः वात्तं गोवार्त्तं वचनवार्त्ता । भयानां अर्दनः विनाशकः भयार्दनः । गोवार्त्तेन भयार्दनः गोवार्त्तं भयार्दनः अथवा गोवार्त्तेन भयार्दनं यस्मादसौ गोवार्त्त-भयार्दनः तस्य सम्बोधनं हे गोवार्त्तभयार्दन वचनवार्त्तया भयविनाशक तमिताः खेदरूपाणि दुःखानीत्यर्थः । नयैर्जयनशीलः नयजेता त्वमिति सम्बन्धः । हे अनुनुत सुपूजित इत्यर्थः । अजेय अपराजेय अजय्य इत्यर्थः । नताः प्रणताः अमिता अपरिमिताः इन्द्रादयो यस्यासौ नतामितः तस्य सम्बोधनं हे नतामित । एतदुक्तं भवति—हे नः, दयाभ, ऋतवागोद्य, गोवार्त्तभयार्दन अनुनुत अजेय नतामित नयजेता त्वं यतस्ततस्त्वं तमिताः दुःखानि द्य खण्डय । अस्माकं अनुक्तमपि लभ्यते ॥१५॥

अन्वय — नः ! दयाभ ! ऋतवागोद्य ! गोवार्त्तभयार्दन ! अनुनुत ! अजेय ! नमितामित ! नयजेता तमिताः द्य ।

अन्वयार्थ — नः ! हे पूज्य पुरुष ! हे दयाभ ! = दया (करुणा) ही है आभा (कान्ति या रूप) जिसका ऐसे हे दयाभ ! ऋतवागोद्य = सत्य (अनेकान्तमय) वचन का है उद्यम प्रयत्न जिसका वा स्याद्वाद के द्वारा ही है अनुमेय जिसका ऐसे हे स्याद्वाद वाणीमय भगवन् । गोवार्त्तभयार्दन ! वचनमात्र से भय के

विनाशक! अनुनुत! = हे पूजनीय! अजेय = हे अपराजित! नतामित! = चरणों में झुके हैं अपरिमित इन्द्र जिसके। नयजेता = नय के द्वारा सब को जीतने वाले नेमिनाथ भगवान् तुम मेरे। तमिता: = दु:खों का। द्य = खण्डन करो - मेरे दु:खों का नाश करो। इसमें मे वा न: शब्द नहीं होते हुए भी ऊपर से ग्रहण किया जाता है।

अर्थ - हे नेमिनाथ भगवान्! हे परमपूज्य स्वामी! हे अनुकम्पाशील! हे दयामय आभासम्पन्न! अनेकान्तमय सत्यवाणी के द्वारा जानने योग्य भगवन्! आपके उपदेश की चर्चा मात्र से सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं, मरणादि सात प्रकार के भय आपके दर्शनमात्र से नष्ट हो जाते हैं। आपने अनेकान्तमय परस्पर सापेक्ष नयवाद के द्वारा सारे जगत् के तीन सौ त्रेसठ पाखण्डों को जीत लिया है अर्थात् आपके मत का खण्डन करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है, अतः आप अजेय हैं। विश्व की कोई भी शक्ति आप को जीतने में समर्थ नहीं है। हे जगत्पूज्य स्वामी! इन्द्र, नरेन्द्र आदि असंख्यात जीव आपके चरणों में नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! मेरे जन्म-मरण के दु:खों को दूर करो।

यह श्लोक अनुलोम प्रतिलोम सकल श्लोकगत प्रत्यागत अर्द्धभ्रम चित्रालंकार युक्त है। इस श्लोक को विपरीत क्रम से पढ़ने पर प्रथम आदि चरण निष्पन्न होते हैं।

(अनुलोमप्रतिलोम-गतप्रत्यागतश्लोकः)

हतभीः स्वय मेध्याशु शं ते दातः श्रिया तनु।

नुतया श्रित दान्तेश शुद्ध्यामेय स्वभीत ह ॥९६॥

हतेति-गतप्रत्यागतैकश्लोक इत्यर्थः। हतभीः विनष्टभयः त्वं। स्वयः शोभनः अयो यस्यासौ स्वयः तस्य सम्बोधनं स्वय। मेध्य पूत। आशु शीघ्रम्। शं सुखम्। ते तव। दातः दानशीलः। श्रिया लक्ष्म्या। तनु कुरु देहि वितर विस्तारय इति पर्यायाः। नुतया पूजितया। श्रित सेव्ये। दान्तेश मुनीश। शुद्ध्या केवलज्ञानेन। अमेय अपरिमेय। सुष्टु अभीतः स्वभीतः तस्य सम्बोधनं स्वभीत अनन्तवीर्यं ह झिसंज्ञकः। समुदायार्थः-हे नमे यतः त्वं हतभीः स्वय मेध्य दातः श्रिया नुतया श्रित दान्तेश शुद्ध्यामेय स्वभीत ते तव यत् शं सुखं तत् तनु कुरु देहि ह स्फुटम् ॥९६॥

अन्वय - स्वय मेध्य! दातः! नुतया श्रिया श्रित! दान्तेश! शुद्ध्या अमेय! स्वभीत! ह हतभीः आशु ते शं तनु।

अन्वयार्थ - स्वय! शोभनीय पुण्यशाली! मेध्य! = हे पवित्रात्मा! दातः = हे दानशील! नुतया = पूजित। श्रिया = लक्ष्मी के द्वारा। श्रित! सेवनीय। दान्तेश! = हे इन्द्रियों को वश में करने वालों के स्वामी (मुनीश)। शुद्ध्या = केवलज्ञान के द्वारा अमेय = जानने योग्य। स्वभीत! = भलीप्रकार निर्भय। हतभी = भयरहित प्रभुवर तुम मुझको। हि = स्फुटार्थ। ते = तेरे। शं = सुख को। तनु = प्रदान करो।

अर्थ - हे भगवन्! आप महान् पुण्यशाली हो, तीर्थकर नाम कर्म जैसी पुण्य प्रकृति के उदय से शोभित हो, परम पवित्र हो, दानशील हो, अतिउत्कृष्ट अन्य जनों में नहीं पायी जाने वाली अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के धारक हो, सर्व मुनिजनों के नायक हो, स्वामी हो, हे भगवन्! आप अपरिमित अनन्त केवलज्ञान के धारक हो, अनन्त वीर्य के स्वामी हो, स्पष्ट रूप से आप निर्भीक हो। हे प्रभो! आप जिस स्वात्मीय अनन्त सुख के धनी हो वह अनन्त सुख मुझे प्रदान करो। मैं आप जैसा बन जाऊँ वह शक्ति प्रदान करो।

इस श्लोक में अनुलोम प्रतिलोम गत प्रत्यागत अलंकार है। इस अलंकार में विशेषता यह है कि क्रम से पढ़ने से जो अक्षर आते हैं वे ही अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी तरफ से पढ़ने से भी आते हैं।

जहाँ अर्थ श्लोक में गत प्रत्यागत है वह गत प्रत्यागत अर्थ अलंकार है। जिस श्लोक में पूर्णतया गतप्रत्यागत विधि होती है वह गतप्रत्यागत अथवा अनुलोम प्रतिलोम अलंकार कहलाता है। इस श्लोक में पूर्णतया गतप्रत्यागत अनुलोम प्रतिलोम होने से यह अनुलोम प्रतिलोम गतप्रत्यागत अलंकार है।

ॐ नेमि-जिन-स्तुतिः ॐ

(द्वयाक्षरश्लोकः)

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।

मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन् ॥१७॥

मानोनेति-मकारनकाराक्षरैर्विरचितो यतः। मानोनानां गर्वहानानां। अनूनानां अहीनानां चारित्रसम्पूर्णानामित्यर्थः। मुनीनां साधूनां। मानिनां पूजितानां। इनं स्वामिनं। मनूनां ज्ञानिनां। मनु शब्दोऽयं मन ज्ञाने इत्यस्य धोः और्णादिकत्यान्तस्य रूपम्। अनुनौमि सुष्ठु स्तौमि। इमं प्रत्यक्षवचनं। नेमिनामानं अरिष्टनेमिनाथम्। आनमन प्रणमन्। अहमिति संबन्धः। समुदायार्थः-इमं नेमिनामानं किं विशिष्टं इनं स्वामिनं केषां नूनानां किं विशिष्टानां मानोनानाम् अनूनानां मानिनां मनूनां आनमन्नहं अनुनौमि ॥१७॥

अन्वय - मानोनानां अनूनानां, मनूनां इनं, इमं नेमिनामानं आनमन् अनुनौमि ॥१७॥

अन्वयार्थ - मानोनानां=अहंकार से रहित। अनूनानां=अनून-सम्पूर्ण चारित्र के धारी। मनूनां=ज्ञानियों के। इनं=स्वामी। इमं=इस। नेमिनामानं=नेमिनाथ भगवान को। आनमन्=मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हुआ। अनुनौमि=स्तुति करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

अर्थ - समन्तभद्राचार्य कहते हैं भगवन्! आप निर्मानी, निरहंकारी, निर्मल परिपूर्ण चारित्र के धारी तथा ज्ञानी ध्यानी मुनिगणों के स्वामी हैं, नायक हैं। मैं इन नेमिनाथ भगवान के चरणारविन्द में मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक अत्यन्तभक्ति से नमन करता हुआ इनकी स्तुति करता हूँ, उनका चिन्तन करता हूँ ॥१७॥

यह श्लोक 'म' और 'न' इन दो अक्षरों से निर्मित है।

(अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः)

तनुतात्सद्यशोमेय शमेवार्यवरो गुरु ।

रुगुरो वर्य्य वामेश यमेशोद्यत्सतानुत ॥९८ ॥

तनुतादिति—गतप्रत्यागत इत्यर्थः । तनुतात् कुरुतात् सद्यशः शोभनकीर्ते । अमेय अपरिमेय । शमेव सुखमेव । आर्याणां प्रधानानां वरः श्रेष्ठः आर्यवरः त्वमिति सम्बन्धः । गुरु महत् सुखेन सम्बन्धः । रुचा दीप्त्या उरुः महान् रुगुरुः तस्य सम्बोधनं हे रुगुरो दीप्त्या महत् । वर्य्य प्रधान । वामेश शोभनेश । यमेश व्रतस्वामिन् । उद्यत्सतानुत उद्योगवता पण्डितजनेन नुत स्तुत । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः— हे नेमिनाथ सद्यशः अमेय रुगुरो वर्य्य वामेश यमेश उद्यत्सता नुत आर्यवरस्त्वं गुरु शमेव तनुतात् ॥९८ ॥

अन्वय — सद्यशः ! अमेय ! रुगुरो ! वर्य्य ! वामेश ! यमेश ! उद्यत्सता नुत ! आर्यवरः गुरु शं एव तनुतात् ॥९८ ॥

अन्वयार्थ — सद्यशः ! हे शोभनीय यश के धारक ! अमेय ! = अल्पज्ञानियों के अगोचर ! रुगुरो = 'रु' दीप्ति-गुरु-महान्-अत्यन्त तेजस्वी महान् कान्ति के धारक । वर्य्य ! = हे प्रधान । वामेश ! = हे इन्द्र अहमिन्द्र आदि प्रधान पुरुषों के स्वामी ! यमेश ! = हे यमधारियों में प्रधान ! उद्यत्सता = महान् बड़े-बड़े पंडितों के द्वारा । नुत = हे स्तुत नमस्कृत । आर्यवरः = आर्य्य पुरुषों में श्रेष्ठ प्रभुवर मुझे । शं = सुख । एव = ही । तनुतात् = प्रदान करो । हे नेमिनाथ भगवान् ! मुझे सुख प्रदान करो ।

अर्थ — हे अत्यन्त निर्मल प्रशंसनीय यश के धारक ! अल्प ज्ञानियों के ज्ञान के अगोचर ! महान् शारीरिक कान्ति के धारक ! हे संसार में प्रधान पुरुष ! इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति-नारायण आदि सर्व ६३ शलाका पुरुषों में महान् श्रेष्ठ ! क्रद्धिधारी आदि जितने ही महामुनि है, उन सबके स्वामी, महान् ज्ञान के धारक विद्वज्जन के द्वारा स्तुत्य प्रभुवर मुझ सेवक को सर्वोत्कृष्ट अविनाशी, स्वात्मीय, स्वाधीन, सुख प्रदान करो । अन्य सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं है ।

यह श्लोक भी अनुलोम, प्रतिलोम अलंकार से युक्त है । इसमें द्वितीय चरण को विपरीत पढ़ने से तृतीय चरण और प्रथम चरण को विपरीत पढ़ने से चतुर्थ चरण निष्पन्न होता है ॥९८ ॥

ॐ पार्श्व-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

जयतस्तव पार्श्वस्थ श्रीमद्भर्तुः पदद्वयम् ।

क्षयं दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं ददज्जयम् ॥९९ ॥

जयेति—जयतः जयं कुवंतः । तव ते । पार्श्वस्य त्रयोविंशतितीर्थकरस्य । श्रीमत् लक्ष्मीमत् । भर्तुः भट्टारकस्य स्वामिनः । पदद्वयं पदयुगलम् । क्षयं विनाशम् । दुस्तरपापस्य अतिगहनपापस्य । क्षमं समर्थम् । कर्तुं विधातुम् । ददज्जयं विधदद्विजयम् । समुदायार्थः—जयतस्तव पार्श्वस्य भर्तुः पदद्वयं श्रीमत् ददत् जयं दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं क्षमम् उत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ॥९९॥

अन्वय - जयतः तव श्रीमद्भर्तुः पार्श्वस्य, जयं ददत् दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं क्षमं पदद्वयं मम तमः अत्तु ।

अन्वयार्थ - जयतः=कर्मशत्रुओं को जीतने वाले । श्रीमद्भर्तुः=लक्ष्मी के स्वामी । तव=तुझ । पार्श्वस्य=पार्श्वनाथ भगवान् के । पदद्वयं=दोनों चरण । जयं=जय को । ददत्=देने वाले । दुस्तरपापस्य=दुस्तर पापों का । क्षयं=क्षय । कर्तुं=करने में । क्षमं=समर्थ है । १००वें श्लोक में स्थित मम तमः अत्तु=इसका सम्बन्ध लगाना । पार्श्व प्रभु के चरण मेरे अज्ञान अंधकार को दूर करें ।

अर्थ - कर्मशत्रुओं को जीतने वाले, समवसरणादि बाह्य और अनन्त चतुष्टय आदि अन्तरंग लक्ष्मी के स्वामी, पार्श्वनाथ भगवान् आपके दोनों चरण कमल भव्य जीवों को विजय प्रदान करने वाले हैं अर्थात् आपके चरण कमलों का ध्यान करने वाले को सर्व कार्यों में विजय प्राप्त होती है । आपके चरणों की स्तुति दुस्तर पाप कर्मों का नाश करने में समर्थ है । आगे कथित १००वें श्लोक के साथ सम्बन्ध करके अर्थ करना है । हे भगवन् ! आपके चरण कमल मेरे अज्ञान अन्धकार को नष्ट करें । यह श्लोक मुरजबन्ध अलंकार से युक्त है ॥९९॥

(गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धः)

तमोत्तु ममतातीत ममोत्तममतामृत ।

ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥१००॥

तमोत्तुमेति—तव पार्श्वस्य इत्येतद्द्वयमनुवर्तते । तमोत्तु तमो भक्षयतु अज्ञानं निराकरोत्वित्यर्थः । ममतातीत ममत्वातिक्रान्त । मम आत्मनः अस्मदः तान्तस्य रूपं । उत्तमं प्रधानं मतामृतं आगमामृतं यस्यासौ उत्तममतामृतः, तस्य संबोधनं हे उत्तममतामृत प्रधानागमामृत । तता विशाला अमिता अपरिमिता मतिज्ञानं यस्यासौ ततामितमतिः तस्य सम्बोधनं हे ततामितमते विशालापरिमितज्ञान । तात इति मतः तातमतः श्रेण्याधिकृतैरिति सविधिः, तात इति और्णादिकः प्रयोगः तस्य सम्बोधनं हे तातमत । अतीता अतिक्रान्ता मृतिः मरणं यस्यासौ अतीतमृतिः तस्य सम्बोधनं हे अतीतमृते अतिक्रान्तमरण । अमित अपरिमित । किमुक्तं भवति—हे पार्श्वभट्टारक ममतातीत उत्तममतामृत ततामितमते तातमत अतीतमृते अमित तव पदद्वयं मम तमोत्तु भक्षयतु ॥१००॥



अन्वय - ममतातीत ! उत्तममतामृत ! ततामितमते ! तातमत ! अतीतमृते ! अमित ! तव पद द्वय मम तमः अतु ।

अन्वयार्थ - ममतातीत ! = हे ममता रहित ! उत्तममतामृत ! उत्तम स्याद्वादमय आगम रूपी अमृत वाले । विशाल और अपरिमित ज्ञान के धारक, निष्पाप, सबके बन्धु, हे मरण से रहित ! अपरिमित गुणों के धारी पार्श्वनाथ भगवान् ! आपके दोनों चरण कमल मुझे अविनाशी ज्ञान प्रदान करें । मेरे अज्ञान अन्धकार का नाश करें ॥१००॥

यह श्लोक गूढ तृतीय चतुर्थ अनन्तर अक्षर वाला तथा 'त' 'म' इन दो अक्षरों से निर्मित यमक अनन्तर पाद मुरज बंध है । अर्थात् इसमें प्रथम चरण का प्रथम तृतीय पंचम सप्तम अक्षर तथा द्वितीय चरण का द्वितीय चतुर्थ, छठा और आठवाँ अक्षर मिलाने से प्रथम चरण का निर्माण होता है तथा द्वितीय चरण के प्रथम, तृतीय पंचम और सप्तम अक्षर को तथा प्रथम चरण के द्वितीय, चतुर्थ छठे और आठवें अक्षर को मिलाने से द्वितीय चरण निष्पन्न होता है, ऐसे ही तृतीय चरण को समझना चाहिए ।

इसका चित्र इस प्रकार है-

त	मो	तु	म	म	ता	ती	त
म	मो	त	म	म	ता	मृ	त
त	ता	मि	त	म	ते	ता	त
म	ता	ती	त	मृ	ते	मि	त

(मुरजबन्धः)

स्वचित्तपटयालिख्य जिनं चारु भजत्ययम् ।

शुचिरूपतया मुख्यमिनं पुरुनिजश्रियम् ॥१०१॥

स्वचित्तेति—स्वचित्तपटे आत्मीयचेतःपट्टके । आलिख्य लिखित्वा । जिनं पार्श्वनाथम् । चारु शोभनं यथा भवति तथा क्रियाविशेषणमेतत् । भजति सेवते । अयं जनः आत्मानं कथयति । शुचिरूपतया शुद्धस्वरूपत्वेन । मुख्यं प्रधानं । इनं स्वामिनं । पुरु महती निजा आत्मीया श्रीलक्ष्मीर्यस्यासौ पुरुनिजश्रीः अतस्तं पुरुनिजश्रियं महदात्मीयलक्ष्मीम् । समुदायार्थः—जिनं पार्श्वनाथं इनं पुरुनिजश्रियं मुख्यं आलिख्य स्वचित्तपटे अयं जनो भजति । किं निमित्तं ? शुचिरूपतया शुद्धस्वरूपमितिकृत्वा ॥१०१॥

अन्वय - अयं शुचिरूपतया पुरुनिजश्रियं, मुख्यं, इनं जिनं स्वचित्तपटे आलिख्य चारु भजति ।

**अन्वयार्थ** - अयं=ये संसारी प्राणी। शुचिरूपतया=अति शुद्ध भावों से वा अतिशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए। पुरनिबन्धिनं=नहान् निबन्ध लक्ष्मी दत्ते। मुख्यं=प्रधान। जिनं=कर्मशत्रुओं को जीतने वाले। इनं=पार्श्वप्रभु को। स्वचित्तपटे=स्वकीय मानस पटल पर। आलिख्य=लिखकर। चारु=भली प्रकार से। भजति=आराधना करते हैं॥१०१॥

**अर्थ** - हे पारसनाथ भगवान्! ये संसारी भव्यप्राणी शुद्ध मन-वचन-काय से कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले, सर्व आत्माओं में मुख्य, सबके स्वामी, अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के धारक आपको (पारसनाथ को) स्वकीय चित्तपटल पर लिखकर अर्थात् चित्त में धारण कर आपकी आराधना करता है, स्तुति करता है, निरन्तर आपका चिन्तन करता है, वह आप जैसा बन जाता है। प्रभु जैसे बनने का कारण प्रभु के चिन्तन को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है॥१०१॥

### ॐ वर्धमान-जिन-स्तुतिः ॐ (मुरजबन्धः)

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्दामितवितृषे ।

श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥१०२॥

**धीमदिति**-धीमान् बुद्धिमान्। सुवन्द्यः सुस्तुतः। मान्यः पूज्यः। धीमांश्चासौ सुवन्द्यश्च धीमान्सुवन्द्यः, धीमत्सुवन्द्यश्चासौ मान्यश्च धीमत्सुवन्द्यमान्यः तस्मै धीमत्सुवन्द्यमान्याय। अथवा धीमत्सु बुद्धिमत्सु मध्ये सुवन्द्यमान्याय। विदः बोधस्य तृट् तृष्णा वितृट्, कामं अत्यर्थ, उद्दामिता उद्धारिता निराकृता वितृट् ज्ञानतृष्णा येनासौ कामोद्दामितवितृट् तस्मै कामोद्दामितवितृषे। श्रीमते लक्ष्मीमते। वर्धमानाय महावीराय चतुर्विंशतितीर्थकराय। नमः। अयं शब्दो झिसंज्ञकः पूजा-वचनः। नमिताः विद्विषे यस्यासौ नमितविद्विट् तस्मै नमितविद्विषे अधःकृतवैरिणे। समुदायार्थः-नमोस्तु ते वर्धमानाय किं विशिष्टाय धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्दामितवितृषे श्रीमते नमितविद्विषे॥१०२॥

**अन्वय** - धीमत्सुवन्द्यमान्याय, कामोद्दामितवितृषे, नमितविद्विषे, श्रीमते वर्धमानाय नमः॥१०२॥

**अन्वयार्थ** - धीमत्सुवन्द्यमान्याय=बुद्धिमानों के द्वारा वन्दनीय, पूजनीय। कामोद्दामित वितृषे=अत्यन्त रूप से निराकृत की है ज्ञान की तृष्णा को जिसने। नमितविद्विषे=झुकाया है शत्रुओं को चरणों में जिसने ऐसे। श्रीमते=लक्ष्मीवान्। वर्धमानाय=वर्द्धमान भगवान के लिए। नमः=नमस्कार हो।

**अर्थ** - अतीव बुद्धि (ज्ञान) के धारी गणधरादि के द्वारा वन्दनीय पूजनीय, स्तुत्य, ज्ञान की तृष्णा का नाश करने वाले (ज्ञान की तृष्णा नष्ट हो गयी अर्थात् केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गई) अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी के धारक, शत्रुओं को भी चरणों में नतमस्तक करने वाले वर्द्धमान भगवान के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

यह श्लोक मुरजबन्ध अलंकार से युक्त है।

(मुरजबन्धः)

वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ।

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥१०३॥

वामदेवेति—नमो वर्धमानायेति सम्बन्धः । वामानां प्रधानानां देवः तस्य सम्बोधनं हे वामदेव । क्षमा अजेया यस्यासौ क्षमाजेयः तस्य सम्बोधनं हे क्षमाजेय । धाम्ना तेजसा उद्यमिता कृतोत्कृष्टा वित् विज्ञानं धामोद्यमितवित् तां जुष्टे सेवते इति धामोद्यमितविज्जुद् तस्मै धामोद्यमितविज्जुषे । अथवा अजेयं धाम तेजो यस्याः सा अजेयधामा, उद्यमिता उद्भूता वित् ज्ञानं उद्यमितवित्, अजेयधामा चासौ उद्यमितविच्च अजेयधामोद्यमितवित् तां जुष्टे इति अजेयधामोद्यमितविज्जुद् तस्मै अजेयधामोद्यमितविज्जुषे । श्रीमते इत्यादि पूर्व एवार्थः । अथवा श्रिया उपलक्षिता मतिर्यस्यासौ श्रीमतिः तस्य सम्बोधनं हे श्रीमते । वर्धमानः वृद्धिं गच्छन् अयः मार्गो यस्यासौ वर्धमानायः तस्य सम्बोधनं हे वर्धमानाय । मा लक्ष्मीः तया ऊनः मोनः न मोनः नमोनः तस्य सम्बोधनं हे नमोन । मिता परिमिता वित् ज्ञानं मितवित् तां विष्णाति निराकरोति इति मितविद्विद् तस्मै मितविद्विषे । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे वर्धमान श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ते नमः । पुनरपि किं विशिष्टाय वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ॥१०३॥

अन्वय — वामदेव ! क्षमाजेय ! नमोन ! धामोद्यमितविज्जुषे, मितविद्, विषे, श्रीमते, वर्धमानाय, नमः । अथवा वामदेव ! क्षम ! श्रीमते ! वर्धमानाय नमोन ! अजेय धामोद्यमितविज्जुषे मितविद्विषे नमः ।

अन्वयार्थ — वामदेव ! = चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र आदि प्रधान पुरुषों के स्वामी ! क्षमाजेय ! = क्षमागुण से अजेय अर्थात् अजेय क्षमागुण के धारी । धामोद्यमितविज्जुषे = तेज से उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त अर्थात् उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त । मितविद्विषे = परिमित ज्ञान की तृष्णा के विनाशक । श्रीमते = अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी के धारक । नमोन ! उत्कृष्ट श्री से सम्पन्न । वर्धमानाय = वर्धमान के लिए । नमः = नमस्कार हो । अथवा—वामदेव ! हे सर्वप्राणियों में प्रधान ! क्षम ! हे समर्थशाली । श्रीमते ! = श्री लक्ष्मी से उपलक्षित है मति-बुद्धि जिसकी उसका सम्बोधन हे श्रीमते ! वर्धमानाय = वृद्धि को प्राप्त है मान = ज्ञान वा 'अय' मोक्षमार्ग जिसका वह-वर्धमानाय- इसका सम्बोधन वर्धमानाय वृद्धिगत मोक्षमार्ग वाले । अजेयधामोद्यमितविद्विषे = अजेय ज्ञान के द्वारा उद्भूत किया (निराकरण किया है) ज्ञान की तृष्णा को जिसने ऐसे वर्धमान भगवान के लिए नमस्कार हो ।

अर्थ — हे वर्धमान भगवान् ! आप इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के ईश हैं, स्वामी हैं । हे अजेय क्षमागुण के धारी-वा क्षमाशील उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त वा अजेय तेजस्वी केवलज्ञान के धनी, ज्ञान रूप लक्ष्मी से शोभित भगवन् ! आपके द्वारा प्रचलित मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त है, भगवन् ! आप ज्ञानरूपी

लक्ष्मी से परिपूर्ण हैं तथा मतिश्रुत आदि क्षायोपशामिक ज्ञान का निराकरण करने वाले हैं अर्थात् केवलज्ञान से युक्त होने से आप क्षायोपशामिक ज्ञान का निराकरण करने वाले हो। हे नमोन! परिपूर्ण ज्ञान धारक वर्द्धमान भगवान आपको नमस्कार हो।

(मुरजबन्धः)

समस्तवस्तुमानाय तमोघ्नेमितवित्विषे ।

श्रीमतेवर्द्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥१०४॥

समस्तेति—समस्ते विश्वस्मिन् वस्तुनि पदार्थे मानं ज्ञानं यस्यासौ समस्तवस्तुमानः तस्मै समस्तवस्तुमानाय । तमोघ्ने अज्ञानविनाशकाय । विशिष्टा त्विद् इति वित्विद् अमिता वित्विद् यस्यासौ अमितवित्विद् तस्मै अमितवित्विषे, श्रीमते इत्येवमादिषु पूर्व एवार्थः । अथवा श्रियं मिमीत इति श्रीमः तस्य सम्बोधनं हे श्रीम । ते तुभ्यं । अथवा श्रियं मन्यत इति श्रीमत् तस्मै श्रीमते । ऋद्धं वृद्धं अवेन कान्त्या ऋद्धं अवर्द्धं, अवर्द्धं मानं ज्ञानं यस्यासौ अवर्द्धमानः अथवा अवर्द्धं अच्छिन्नं मानं यस्यासौ अवर्द्धमानः तस्मै अवर्द्धमानाय । मा पृथ्वी तथा ऊनः मोनः न मोनः नमोनः अयं नञ् प्रतिरूपो झिसंज्ञको नकारः अतो नञोन्यत्रानादेशो न भवति तस्य सम्बोधनं हे नमोन । मितेन ज्ञानेन विनष्टा द्विद् अप्रीतिर्यस्यासौ मितविद्विद् तस्मै मितविद्विषे । किमुक्तं भवति—हे श्रीमते नमोन तुभ्यं नमः किं विशिष्टाय समस्तवस्तुमानाय तमोघ्ने अमित वित्विषे अवर्द्धमानाय मितविद्विषे ॥१०४॥

अन्वय — श्रीमते! अथवा श्रीम! नमोन! समस्तवस्तुमानाय, तमोघ्ने, अमितवित्विषे, अवर्द्धमानाय, मितविद्विषे ते नमः ।

अन्वयार्थ — श्रीमते=लक्ष्मीवान् । वा-श्रीम! श्री-केवलज्ञानरूप लक्ष्मी का अनुभव करने वाले! नमोन=ज्ञानरूपी लक्ष्मी से परिपूर्ण! समस्तवस्तुमानाय=त्रिलोकस्थ समस्त वस्तु के ज्ञाता (जानने वाले)। तमोघ्ने=अज्ञान वा मोह रूप अन्धकार का नाश करने वाले । अमित- वित्विषे=अपरिमित एवं विशिष्ट कान्ति के धारक-सर्वांग सुन्दर शरीर वाले । अथवा वित्विद्=अपरिमित है केवलज्ञान जिसका । अवर्द्धमानाय=अविच्छिन्न केवलज्ञान से सम्पन्न । नमोन!=लोकत्रयरूप पृथ्वी से युक्त । मितविद्विषे=मित=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिये द्विद् शत्रु जिन्होंने अर्थात् अन्तरंग, बहिरंग शत्रुओं के विनाशक । ते=तुझ वर्द्धमान भगवान के लिए नमस्कार हो ।

अर्थ — हे केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी से सम्पन्न अथवा केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के द्वारा अपने आपका अनुभव करने वाले भगवन् । आप तीन लोक और त्रिकालस्थ सर्वपदार्थों को जानने वाले हैं । अज्ञान वा मोह अन्धकार के विनाशक हैं । अपरिमित कान्ति के धारक हैं अर्थात् आपके शरीर की कान्ति से कोटि सूर्य, चन्द्रमा की कान्ति भी फीकी पड़ जाती है, अतः आपके समवसरण में रात-दिन का भेद नहीं होता

तथा आपकी प्रभा से उत्पन्न भामण्डल में भव्य अपने सात भवों का अवलोकन करते हैं, देखते हैं। आप सर्वांग सुन्दर हैं। अथवा आपका केवलज्ञान अपरिमित है, अनन्त है। आपका केवलज्ञान विच्छेदरहित है, अखण्ड है। आप 'नमोन' मा=पृथ्वी 'ऊन' रहित न-नहीं 'नमोन' आप सांसारिक पृथ्वी से रहित होते हुए भी अखण्ड केवलज्ञान रूप पृथ्वी के स्वामी हैं। आपने अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप शस्त्र के द्वारा अन्तरंग, बहिरंग शत्रुओं का नाश कर दिया है। अतः हे प्रभो! आपको नमस्कार हो ॥१०४॥

ऋद्धं-वृद्धं-वृद्धि को प्राप्त। अव=कान्ति। कान्ति और ज्ञान जिसका वृद्धि को प्राप्त है, वह अवर्द्धमान कहलाता है अथवा- अव=समन्तात् चारों तरफ से 'ऋद्धं' वृद्धि को प्राप्त है मान=ज्ञान जिसका वह अवर्द्धमान कहलाता है। मित=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया है रागद्वेष को जिसने वह मितविद्विष कहलाता है।

(मुरजबन्धः)

प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदास्यते ।

यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥१०५॥

प्रज्ञेति-प्रज्ञायां बुद्ध्यां। तनु स्तोकं। ऋतं सत्यं। गत्वा ज्ञात्वा। स्वालोकं आत्मावबोधनं। गोर्विदा पृथिव्या ज्ञात्रा इति अस्यते। यस्य ज्ञानान्तर्गतं बोधाभ्यन्तरम्। भूत्वा प्रभूय। त्रैलोक्यं जगत्त्रयम्। गोष्पदायते गोष्पदमिवात्मानमाचरति। समुदायार्थः-प्रज्ञायां तनु ऋतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदा अस्यते पुरुषेण तव पुनः ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते तथापि न हर्षो नापि विषादो यतः त्वमेव सर्वज्ञो वीतरागश्च अतः तुभ्यं नमोस्तु इति सम्बन्धः ॥१०५॥

अन्वय - प्रज्ञायां तनु ऋतं गत्वा स्वालोकं गोः विदा अस्यते। यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते।

अन्वयार्थ - प्रज्ञायां=बुद्धि में। तनु=थोड़ी सी। ऋतं=सत्य को। गत्वा=जान करके। स्वालोकं=आत्मज्ञान को। गोः=सारी पृथ्वी का। विदा=ज्ञाता। अस्यते=जानते हैं। परन्तु भगवन्! यज्ज्ञानान्तर्गतं=जिसके ज्ञान के अन्तर्गत। भूत्वा=होकर। त्रैलोक्यं=तीन लोक। गोष्पदायते=गाय के खुर में स्थित जल के समान आचरण करते हैं।

यह श्लोक व्यतिरेक अलंकार से युक्त है। समन्तभद्राचार्य ने इस श्लोक में संसारी प्राणी और भगवान् वर्द्धमान में व्यतिरेक का कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भगवन्! ये संसारी प्राणी ज्ञानावरण कर्म के अनुसार उत्पन्न तुच्छ बुद्धि

में (स्वल्पज्ञान में) थोड़े से पदार्थों का सत्य रूप जानकर अपने आपको सारी पृथ्वी का ज्ञाता मान बैठते हैं अर्थात् ज्ञान के गर्व से मदोन्मत्त हो जाते हैं और 'मेरे बराबर कोई ज्ञानी नहीं है' इस ज्ञानाहंकार में डूब जाते हैं, अपने आप को भूल जाते हैं परन्तु भगवन्! आप के ज्ञान में तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोकस्थ और त्रैकालिक अनन्तान्त पदार्थ गाय के खुर में स्थित चुल्लू प्रमाण जल के समान आचरण करते हैं अर्थात् भगवन्! आपके ज्ञान के अन्तर्गत प्रतिबिम्बित होकर सारे त्रैलोक्य एवं त्रैकालिक पदार्थ अत्यल्प प्रतिभासित होते हैं। यदि ऐसे अनन्तान्त पदार्थ और भी होते तो वे जान लेते क्योंकि उनके ज्ञान में ये सारे पदार्थ गाय के खुर में स्थित जल के समान प्रतीत होते हैं। हे भगवन्! हम अज्ञानियों को थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त होता है तो हम अहंकारी बन जाते हैं, जानते हैं कि हम सारी पृथ्वी के ज्ञाता बन गये, परन्तु प्रभुवर! आप में इतना विशाल ज्ञान है तो भी आपको हर्ष-विषाद नहीं है आप वीतराग हैं, आपके चरणों में मैं नतमस्तक हूँ, आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आप ही हमारे आराध्य देव हैं।

यह श्लोक मुरजबन्ध है।

(श्लोकयमकः)

को विदो भवतोपीड्यः सुरानतनुतान्तरम् ।

शं सते साध्वसंसारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०६॥

कोवीति--कः किमोरूपम् । विदो ज्ञानानि । भवतः त्वत्तः । अपि । ईद्व स्वामी । यः यदोरूपम् । सुरान् अमरान् । अपि शब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः सुरानपीति । अतनुत विस्तारयतिस्म । अन्तः चित्ते भवं आन्तरं आत्मोत्थम् । शं सुखम्, सते शोभनाय । साधु शोभनं । असंसारं सांसारिकं न भवति । सुष्ठु अमुत् स्वमुत् विनष्टराग इत्यर्थः । यच्छन् ददत् । अपीडितं अबाधितम् । समुदायार्थः—हे वर्धमान भवतो नान्यः ईद्व यः सुरानपि विदः अतनुत सुखं आन्तरं साधु असंसारं अपीडितं यच्छन् सते शोभनपुरुषाय स कोऽन्यो भवतः स्वमुत् ईद्व यावता हि न कश्चित् तस्मात् भवानेव सर्वज्ञः ॥१०६॥

अन्वय - भवतः कः ईद्व यः सुरान् अपि विदः अतनुत । सते आन्तरं असंसारं अपीडितं स्वमुत्-साधु=शं यच्छत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ - भवतः=आप से अन्य । कः=कौन । ईद्व=स्वामी है सामर्थ्यशाली है । यः=जो । सुरान्=देवों को । अपि=भी । विदः=ज्ञान । अतनुत=दे सकता हो, विस्तरित करता है । सते=सज्जनों के लिए । आन्तरं=आन्तरिक । असंसारं=संसाररहित । अपीडितं=अबाधित अविच्छिन्न । स्वमुत्=विनष्ट राग वाला । साधु=प्रशंसनीय । शं=सुख । यच्छत्=देता हो ।

अर्थ - हे भगवन्! आपके अतिरिक्त ऐसा कौन महान् स्वामी है, ईश्वर है जो देवों को भी ज्ञान प्रदान कर सकता है तथा भव्य प्राणियों के लिए आत्मोत्थ (आत्मा से उत्पन्न) संसारातीत-पंचेन्द्रिय सुख

से विपरीत अबाधित (निरन्तर रहने वाला) रागद्वेष रहित मोक्ष सम्बन्धी तथा प्रशंसनीय सुख दे सकता है- अर्थात् आपके समान देवों को ज्ञान देने वाला और भव्यों को मोक्ष-सुख देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

सांसारिक मिथ्यादृष्टि लोग जिसको ईश्वर मानकर आराधना करते हैं वह ईश्वर, परमात्मा स्वयं अल्पज्ञानी है। जो स्वयं अज्ञानी हैं, वस्तु के स्वरूप को जानते ही नहीं हैं, वे मानव तीन ज्ञान के धारी देवों को ज्ञान कैसे दे सकते हैं, अतः आचार्यदेव ने कहा- हे भगवन्! आप को छोड़कर अन्य कौन महापुरुष है जो देवों को सम्बोधित कर सकता है। प्रभु आप ही विशाल केवलज्ञान के धारी हैं, तीन काल और तीन लोक के पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं, इसलिए आप ही देवों को ज्ञान (उपदेश) देने में समर्थ हैं, आपके समवसरण में चारों प्रकार के देव- देवांगनायें उपस्थित होकर धर्मोपदेश सुनते हैं और सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं।

हे भगवन्! आत्मीय, उत्कृष्ट, अबाधित मोक्षसुख को देने में आप ही समर्थ हैं क्योंकि आप ही उस सुख के भोक्ता हैं। वह सुख अन्य प्राणियों के पास नहीं है। आप इस प्रकार के सुख को प्रदान करके भी कभी हर्ष-विषाद युक्त नहीं होते हैं। अन्य ईश्वर स्वयं संसार के दुःखों से दुःखी हैं। वे दूसरों को सांसारिक दुःखों से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सकते। यदि अल्प, विनाशिक, बाह्य पदार्थों से उत्पन्न सुख उन देवों के, आराधना से प्राप्त हो भी जाये तो वह निरन्तर रहने वाला नहीं है, दुःख का ही कारण है तथा वे रागी-द्वेषी हैं। अतः वीतराग प्रभु आप ही हमारे आराध्य हैं। आपको मेरा बारंबार नमस्कार हो।

हे प्रभुवर! आप जैसा जगत् में कोई देव (ईश्वर) नहीं है, आप अनुपम हैं।

(धमकः)

कोविदो भवतोपीड्यः सुरानत नुतान्तरम्।

शंसते साध्वसं सारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०७॥

कोविदेति-कोविदः विचक्षणः। भवतः संसारात्। अपीड्यः अबाधितः। हे सुरानत देवैः प्रणत। नुतान्तरं स्तुतिविशेषम्। शंसते आचष्टे। साध्वसं सम्भ्रमम्। सारं फलवत्। स्वं आत्मानं। उद्यच्छन् वहन् विभ्रत्। ईडितमपि पूजाविधानमपि। अथवा ईडितं नुतान्तरं इति सम्बन्धः। समुदायार्थः- हे सुरानत योऽयं कोविदो जनः भवादपीड्य सन् नुतान्तरं शंसते आचष्टे स्वं साध्वसं सारं ईडितमपि उद्यच्छन् यस्मात् तस्मादहं स्तुतिविशेषेण तुभ्यं नतः ॥१०७॥

अन्वय - सुरानत! कोविदः ईडितं नुतान्तरं शंसते भवतः अपीड्यः साध्वसं सारं स्वं उद्यच्छन्। अतः स्तुतिविशेषेण तुभ्यं नतः ॥१०७॥

**अन्वयार्थ** - सुरानत = हे देवों के द्वारा पूजनीय प्रभो। कोविदः = ज्ञानी पंडितजन। ईडितं = पूजनीय प्रभु की। नुतान्तरं = स्तुतिविशेष से। शंसते = स्तुति करते हैं, पूजा करते हैं वह प्राणी साध्वसं = शीघ्र ही। सारं = सारभूत। स्वं = अपनी आत्मा को। उद्यच्छन् = धारण करता हुआ। अपने आपका अनुभव करता हुआ। भवतः = संसार से। अपीड्यः = पीड़ा रहित हो जाता है। इसलिए भगवन्! मैं महान् महान् स्तोत्र से आपकी स्तुति करता हूँ, पूजा करता हूँ।

**अर्थ** - हे जिनेन्द्रदेव! देवों के द्वारा पूजनीय भगवन्! जो पंडित ज्ञानीजन पूजनीय आप प्रभु की विशिष्ट स्तुति-स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता है, पूजा करता है, आपको हृदय में धारण करता है, वह सारभूत अपनी आत्मा का अनुभव करता हुआ शीघ्र ही संसार दुःखों से रहित हो जाता है; जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाता है, स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है। इसलिए हे भगवन्! मैं अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम स्तोत्रों से आपकी स्तुति, पूजा-वन्दना करता हूँ। हे प्रभो! मुझे मोक्षसुख प्रदान करो। मुझे अपने समान बना लीजिए ॥१०७॥

यह श्लोक 'जयका' अलंकार से युक्त है।

(समुद्गकथमकः)

**अभीत्यावर्द्ध मानेनः श्रेयोरुगुरुसंजयन्।**

**अभीत्या वर्धमानेन श्रेयोरुगुरु संजयन् ॥१०८॥**

**अभीत्येति**—अभीत्य मम चेतस्यागत्य। अव रक्ष। ऋद्ध वृद्ध। मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम्। अनेनः हे अपाप। श्रेयः सुखं। रुगुरु तेजसा महत्। संजयन् लगयन्। अभीत्या अभयेन दयया इत्यर्थः। हे वर्द्धमान जिनेश्वर। इन स्वामिन्। हे श्रेय सेव्य। उर्वी महती गौर्वाणी यस्यासौ उरुगुः त्वं दिव्यवाणीकः त्वं यतः। उ निपातः। संजयन् सम्यग्जयं कुर्वन्। किमुक्तं भवति—हे वर्द्धमान इन ऋद्ध अनेनः श्रेय उरुगुस्त्वं यतः ततः अभीत्या अभयेन श्रेयः रुगुरु संजयन् लगयन् जयंश्च मा अव रक्ष ॥१०८॥

**अन्वय** - वर्द्धमान! इन! ऋद्ध! अनेन! श्रेय! उरुगुः अभीत्या श्रेयः रुगुरु संजयन् जयन् अव।

**अन्वयार्थ** - वर्द्धमान! = हे वर्द्धमान भगवन्! इन! हे स्वामिन्। ऋद्ध! = हे ज्ञानादिगुणों से वृद्धि को प्राप्त। अनेन! = हे अपाप (पापरहित अवस्था को प्राप्त)। श्रेय! = हे परमपूज्य! उरुगुः = आप दिव्य वाणी के धारक हैं। अतः = इसलिए। अभीत्या = दया करके। जयन् = कर्म शत्रुओं को जीतने वाले आप। रुगुरु = कान्ति में महान्। श्रेयः = सुख में। संजयन् = लीन। प्रभो! मा = मेरी। अव = रक्षा करो।

**अथवा** - अभीत्य-अव-ऋद्ध मा-दया से उपलक्षित या दयाशील प्रभो! मा=मेरी-अव=रक्षा करो। ऋद्ध वृद्ध महान् भगवन्। रुगुरु=महान् तेज के धारक। उः=वितर्क-प्रश्नवाची भी हो सकता है।



अर्थ - हे वर्द्धमान भगवान्! आप ऋद्ध (वृद्ध) हैं। ज्ञानादि गुणों में महान् हैं, परिपूर्ण ज्ञानी हैं। केवलज्ञान के साथ होने वाले अनन्त सुख के प्रदायक हैं। आप का भक्त ही केवलज्ञान के साथ अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है, अन्य मानव नहीं। अभय से- दया से उपलक्षित है, इन= सब के स्वामी हैं, सुर-असुर मानवादि सौ इन्हीं के ज्ञाता पूजनीय हैं, भोक्ता हैं, इत्कृष्ट दिव्यशक्ति के धारक हैं और कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाले हैं। हे भगवन्! मेरे हृदय में वास करो- मेरे हृदय में अंकित हो जाओ और मेरी रक्षा करो- मुझे संसार के दुःखों से छुड़ाओ।

इस श्लोक में प्रथम चरण और तृतीय चरण तथा द्वितीय चरण और चतुर्थ चरण के अक्षर समान हैं। अतः यह श्लोक समुद्गक्यमक अलंकारयुक्त है।

(द्व्यक्षरवृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्)

नानानन्तनुतान्त तान्तितनिनुन्नान्त नुन्नानृत,  
नूतीनेन नितान्ततानितनुते नेतोन्नतानां ततः।  
नुन्नातीतितनून्नतिं नितनुतात्नीतिं निनूतातनु-  
न्तान्तानीतिततात्तुतानन नतान्नो नूतनैनुत्तु नो ॥१०९॥

नानेति-श्रीवर्द्धमान इत्यनुवर्तते। नाना अनेकप्रकाराः। अनन्ताः अनूनाः अमेयाः नुताः स्तुताः अन्ता धर्माः यस्यासौ नानानन्तनुतान्तः तस्य सम्बोधनं हे नानानन्तनुतान्त अनेकप्रकारामेयस्तुतगुण इत्यर्थः। तांतं खेदं करोतीति 'तत्करोति तदाचष्टे इत्यादिना सूत्रेण णिन्'। तान्तिः 'अतः भावे क्तः इति क्तः' तान्तितं भवति। तान्तितं दुःखं निनुदति प्रेरयति इति तान्ति निनुत् तस्य सम्बोधनं हे तान्तितनिनुत्। नुन्नः विनष्टः अन्तो विनाशो यस्यासौ नुन्नान्तः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नान्त। नुन्नं विनाशितं अनृतं असत्यं यस्यासौ नुन्नानृतः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नानृत विनष्टासत्य। नूतीनां स्तुतीनां इनाः स्वामिनः नूतीनाः नूतीनानां इनः स्वामी नूतीनेनः तस्य सम्बोधनं हे नूतीनेन गणधरेन्द्रादिस्वामिन्। नितान्तं अत्यर्थं तानिता विस्तारिता नुतिः कीर्तिः स्तुतिर्वा यस्यासौ नितान्ततानितनुतिः तस्य सम्बोधनं हे नितान्ततानितनुते अत्यर्थविस्तारितकीर्ते। अथवा नूतीनेनेन गणधरेन्द्रेण नितान्ततानितनुते। नेता नायकः। उन्नतानां इन्द्रादिप्रभूणाम्। ततः तस्मात्। तनुः शरीरं तनोरुन्नतिर्महत्त्वं तनून्नतिः अतीतिर्विनाशः, अतीतिश्च तनून्नतिश्च अतीतितनून्नती, नुन्ने विनाशिते अतीतितनून्नती यथा सा नुन्नातीतितनून्नतिः तां नुन्नातीतितनून्नतिम्। नितनुतात् कुरुतात्। नीतिं बुद्धिं विज्ञानम्। अथवा नुन्नातीतितनून्नतिं नितनुतात् नीतिं च। च शब्दोनुक्तोऽपि दृष्टव्यः। निनूत स्तुत सुपूजित। अतनुं महतीं। तान्तान् दुःखितान्। ईतिततान् व्याधिव्याप्तान्। हे नुतानन नुतं स्तुतं आननं मुखं यस्यासौ नुताननः तस्य सम्बोधनं हे नुतानन। नतान् प्रणतान्। नः अस्मान्। नूतनं अभिनवं एनः पापं नूतनैः। अत्तु भक्षयतु। नो प्रतिषेधे। किमुक्तं भवति-हे श्रीवर्द्धमान नानानन्तनुतान्त यतः उन्नतानां नेता त्वं ततः नीतिं नुन्नातीतितनून्नतिं अतनुं नितनुतात् नतान् नः अस्मान् तान्तान् ईतिततान् नो नितनुतात् नूतनैश्च अत्तु भक्षयतु अन्यानि विशेषणानि भट्टारकस्य विशेषणानि ॥१०९॥

अन्वय - नानानन्तनुतान्त ! तान्तितनिनुत् ! नुन्नान्त ! नुन्नानृत ! नूतीनेन ! नितान्ततानितनुते ! उन्नतानां नेता ततः निनुत् ! नूतानन ! नून्नातीतितनून्नतिं वा नुन्नातीतितनून्नतिं, अतनुं नीतिं निततनुतात् । तान्तान् ईतिततान् नतान् नः नूतनैः अत्तु । नो निततनुतात् ।

अन्वयार्थ - नानानन्तनुतान्त ! = अनेक प्रकार के भव्य जीवों के द्वारा, अप्रमित स्तुतियों से स्तुत है अनन्त धर्म जिसके ऐसे हे नाना अनन्त नुतान् प्रभो । तान्तितनिनुत् ! = हे तान्तित = दुःखों के निनुत् = नाश करने वाले ! नुन्नान्त ! = नष्ट हो गया है अन्त, ऐसे अन्त का नाश करने वाले अर्थात् अविनाशी ! नुन्नानृत ! = नष्ट कर दिया है अनृत (असत्य) को जिन्होंने - अर्थात् हे एकान्तवादरूप वस्तु के असत्य रूप के विनाशक ! नूतीनेन = नमस्कार करने वालों के स्वामी गणधरादि महापुरुषों के स्वामी ! नितान्ततानितनुते ! = अति रूप से विस्तृत की गई है कीर्ति जिनकी - अर्थात् गणधरादि महापुरुषों ने जिसकी कीर्ति का विस्तार किया है, उनके शासन का प्रचार कर जिनके उज्वल यश को प्रस्तारित किया है, उसका सम्बोधन है नितान्त तानितनुते ! तुम । उन्नतानां = उन्नत गणधरादि महापुरुषों के । नेता = नायक हैं । ततः = इसलिए । निनुत् = हे परम पूज्य ! नूतानन ! हे प्रशंसनीय मुख वाले वा स्तुत्य है मुख जिसका ऐसे हे भगवन् । नून्नातीति तनून्नतिं जिससे शरीर की वृद्धि - शरीर की परम्परा का विनाश हो ऐसी । अतनुं = महान् । नीतिं = बुद्धि । नितनुतात् = वितरित करें, देवें । तान्तान् = संसार दुःखों से दुःखी । ईतिततान् = मानसिक - शारीरिक व्याधियों से व्याप्त ! नुतान् = तुम्हारे चरणों में झुके हुए । नः = हम संसारी प्राणियों के । नूतनैः = नूतन पापों को । अत्तु = भक्षण करो - मेरे कर्मों के आस्रव को रोको । और नो निततनुतात् = पुरातन कर्मों का नाम न रहे ।

अर्थ - अनेक भव्यजनों के द्वारा नाना उत्तमोत्तम गुणों से स्तुत्य ! आत्मीय गुणों के घातक, रागद्वेषादि से उपार्जित कर्मजन्य दुःखों के नाशक ! अविनाशी अक्षय पद को प्राप्त ! एकान्तवाद रूप असत्य का नाशकर (असत्यवाद का खण्डन कर) अनेकान्तमय वास्तविक वस्तुस्वरूप का वर्णन करने वाले ! स्तुति करने वाले गणधरादि के भी स्वामी ! अतिशय रूप (अत्यंत अधिक) आपकी कीर्ति का वा आपके शासन का प्रचार करने वाले गणधर आदि के स्वामी ! हे प्रभो आप स्तुति करने वाले इन्द्र - चक्रवर्ती - गणधर आदि उत्तम पुरुषों के नायक हैं इसलिए हे जगत्पूज्य ! हे अत्यन्त प्रशंसनीय मुखारविन्द वाले प्रभो ! जिससे शरीर की वृद्धि का विनाश हो - जन्म, मरण के दुःखों का नाश हो ऐसा महान् अविनाशी केवलज्ञान प्रदान करो । हे प्रभो ! सांसारिक दुःखों से दुःखी, शारीरिक - मानसिक आदि अनेक व्याधियों से पीड़ित तथा आपके चरणों में नतमस्तक ऐसे समन्तभद्र के वा सारे संसारी प्राणियों के नूतन कर्म आस्रव का निरोध कर पुरातन कर्मों की निर्जरा करो अर्थात् आपके चरणारविन्द की भक्ति से संवरपूर्वक निर्जरा के द्वारा कर्मों का क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति हो, यही कामना करता हूँ । हे प्रभो ! हमारे नवीन बँधने वाले पापों को नष्ट कर, संवर - निर्जरा की पूर्ण कला सिखाकर शीघ्र ही हमें बन्धनमुक्त कीजिये ।

(चक्रवृत्तम्)

चन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभव,  
वर्द्धिष्णो विलसद्गुणार्णव जगन्निर्वाणहेतो शिव ।  
चन्दीभूतसमस्तदेव वरद प्राज्ञैकदक्षस्तव,  
चन्दे त्वावनतो वरं भवभिदं वर्यैकवन्द्याभव ॥११०॥

चन्देति-षडरं चक्रं भूमौ फलके वा व्यालिख्य त्रयः पादाः अरमध्ये स्थाप्याः । चतुर्थपादो नेमिमध्ये एवं च सर्वचक्रवृत्तानि दृष्टव्यानि ।

वन्दारुः वन्दनशीला प्रबलं प्रचुरं आजवञ्जवः संसारः भयं भीः आजवञ्जवाद्भयं आजवञ्जवभयं प्रबलं च तत् आजवञ्जवभयं च तत् प्रबलाजवञ्जवमयं । वन्दारूणां प्रबलाजवञ्जवभयं वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयं । तत् प्रध्वंसयति विनाशयतीत्येवंशीलं वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसि । प्रभोर्भावः प्राभवम् । गोर्वाण्याः प्राभवं प्रभुत्वं गोप्राभवं वाणीमाहात्म्यमित्यर्थः । वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभवं यस्यासौ वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभवः तस्य सम्बोधनं वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभव । वर्द्धिष्णो वर्द्धनशील । गुणः एतद् अर्णवो गुणार्णवः विलसन् शोभमानो गुणार्णवो गुणसमुद्रो यस्यासौ विलसद्गुणार्णवः तस्य सम्बोधनं विलसद्गुणार्णव । निर्वाणस्य मोक्षस्य हेतुः कारणं निर्वाणहेतुः । जगतां भव्यलोकानां निर्वाणहेतुः जगन्निर्वाणहेतुः । तस्य सम्बोधनं हे जगन्निर्वाणहेतो । शिव परमात्मन् चन्दीभूताः मङ्गलपाठकीभूताः समस्ताः देवाः विश्वे सुरवराः यस्यासौ चन्दीभूतसमस्तदेवः तस्य सम्बोधनं हे चन्दीभूतसमस्तदेव । वरद इष्टद । प्राज्ञानां मतिमतां एकः प्रधानः प्राज्ञैकः । दक्षाणां विचक्षणानां स्तवः स्तुतिवचनं यस्यासौ दक्षस्तवः अथवा दक्षैः स्तूयते इति दक्षस्तवः प्राज्ञैकश्चासौ दक्षस्तवश्च प्राज्ञैकदक्षस्तवः तस्य सम्बोधनं प्राज्ञैकदक्षस्तव । चन्दे स्तुवे । त्वा भवन्तम् । अवनतः प्रणतः । वरं श्रेष्ठम् । भवभिदं संसारस्य भेदकम् । हे वर्यं शोभन । एकः चन्दः एकचन्दः तस्य सम्बोधनं हे एकचन्द । संसारित्वेन न भवति इत्यभवः तस्य सम्बोधनं हे अभव । एतदुक्तं भवति-हे वर्द्धमान भट्टारक ! सम्बोधनान्तानि सर्वाणि विशेषणानि अस्यैव भवन्ति । चन्दे अवनतो भूत्वाऽहं त्वा किं विशिष्टं वरं भवभिदम् इति ॥११०॥

अन्वय - वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभव ! विलसद्गुणार्णव ! जगन्निर्वाणहेतो ! चन्दीभूतसमस्तदेव । वरद ! वर्द्धिष्णो ! शिव ! प्राज्ञैकदक्षस्तव ! वर्य ! एकचन्द ! अभव ! भवभिदं वरं त्वा अवनतः चन्दे ॥११०॥

अन्वयार्थ - वन्दारुप्रबलाजवञ्जवभयप्रध्वंसिगोप्राभव ! हे चन्दना करने वालों के प्रचुर संसार के भय का नाश करने वाली वाणी के प्रभाव वा माहात्म्य वाले ! विलसद्गुणार्णव ! =शोभायमान या प्रशंसनीय ज्ञानादि गुणों के समुद्र ! जगन्निर्वाणहेतो ! हे भव्य जीवों के निर्वाण के कारणभूत ! अर्थात् हे परमात्मन् ! चन्दीभूतसमस्तदेव ! चन्दना करते हैं सारे जगत् के देव जिसकी- हे सारे संसारी प्राणियों के

द्वारा वन्दनीय स्तुत्य! वरद! हे इष्ट वस्तु के दायक! वर्द्धिष्णो=हे वर्द्धनशील! शिव! हे परम कल्याणकारी! प्राज्ञैकदक्षस्तव!=श्रेष्ठ ज्ञानियों में प्रधान, दक्ष (चतुर) पुरुषों के द्वारा स्तुत्य! वर्य! हे श्रेष्ठ! एकबंद्य! हे अद्वितीय वंदनीय अभाव!=हे संसार परिभ्रमण से रहित! भगवन्! भवभिदं=भव (संसार) के छेदक। वरं=श्रेष्ठ। त्वा=तुमको। अवनतः नतमस्तक होकर। वन्दे=नमस्कार करता हूँ।

अर्थ - हे प्रभुवर! आप भक्ति, स्तुति, वन्दना करने वाले भव्य जीवों के संसार सम्बन्धी प्रचुर (महा) भय का नाश करने वाली वाणी के प्रभाव से सम्पन्न हो! हे जिन! आप प्रशंसनीय ज्ञानादि गुणों के समुद्र हो! हे स्वामी! आप संसारी जीवों की मुक्तिप्राप्ति में अद्वितीय कारण हो। संसार के चारों काय के देव, नर, नारायण, चक्रवर्ती आदि समस्त महापुरुष आपके बन्दी हैं, चारण हैं, निरन्तर आपके गुणगान में रत रहते हैं। हे भगवन्! आप भव्य जीवों को मनोवांछित वस्तु प्रदान करने वाले हैं। हे स्वामी! आप निरन्तर ज्ञानादि गुणों से वर्द्धिगत हैं। हे नाथ! आप ही कल्याण स्वरूप हैं। श्रेष्ठ ज्ञानियों में अद्वितीय, चतुर पुरुषों के द्वारा वंदनीय, स्तुत्य एवं पूज्य हैं। आप ही जगत् में सर्वोत्कृष्ट हैं। आप ही अद्वितीय वंदनीय हैं तथा पंच परावर्तन रूप संसार के परिभ्रमण से रहित होने से अभव हैं। प्रभुवर! आप भेदक (नाशक) हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं इसलिए मैं आपके चरणों में नतमस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

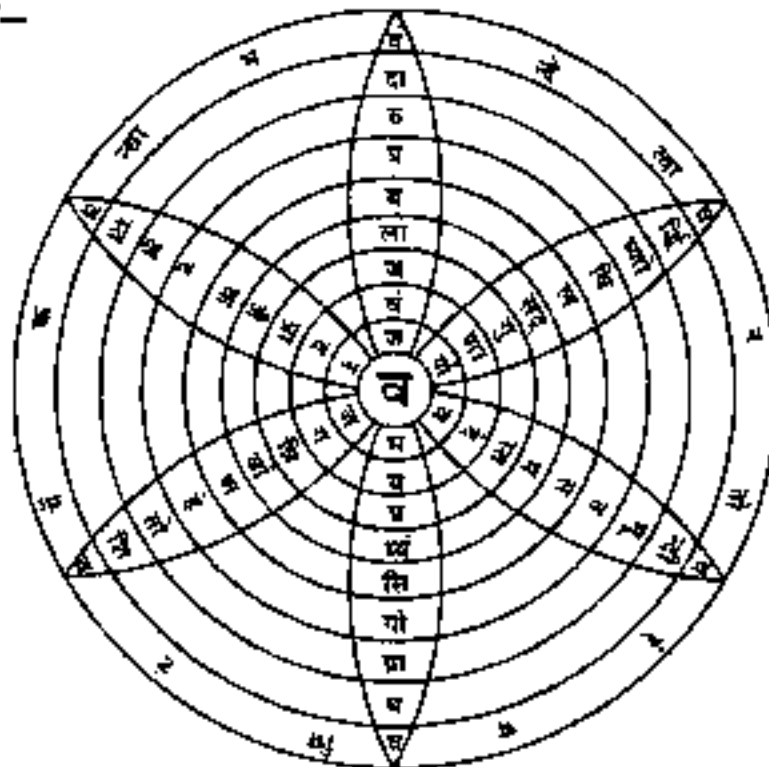
यह श्लोक चक्रवृत्त अलंकार से युक्त है। इसका वर्णन इस प्रकार है-

षडरं चक्रमालिख्यारमध्ये स्थापयेत्कविः।

त्रीन्पादान्नेमिमध्ये तु चतुर्थं चक्रवृत्तके ॥

- अलंकारचिंतामणिः

छह अरों वाला एक चक्र बनाकर अरों के बीच में प्रारम्भ के तीन पाद लिखने चाहिए, अवशिष्ट चतुर्थ पाद नेमि-चक्रधारा-अन्तिम परिधि में लिखना चाहिए। इसी प्रकार सर्वचक्रवृत्त जानना चाहिए। इसका चित्र इस प्रकार है-



यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्)

नष्टाज्ञान मलोऽन शासनगुरो नम्रंजनं पानिः  
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन् भासन ।  
नत्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दन्ननन्तावन  
नन्तृन् हानविहीनधामनयनो न स्तात्पुनन् सज्जिन ॥१११॥

नेष्टति—नष्टं विनष्टं अज्ञानं यस्यासौ नष्टाज्ञानः तस्य सम्बोधनं हे नष्टाज्ञान । मलेन कर्मणा ऊनः रहितः मलोऽनः तस्य सम्बोधनं हे मलोऽन । शासनस्य दर्शनस्य आज्ञाया वा गुरुः स्वामी शासनगुरुः तस्य सम्बोधनं हे शासनगुरो । नम्रं नमनशीलम् । जनं भव्यलोकम् । पान् रक्षन् । इन स्वामिन् । नष्टं विनष्टं ग्लानं मूर्च्छादिकं यस्यासौ नष्टग्लानः तस्य सम्बोधनं हे नष्टग्लान । शोभनं मानं विज्ञानं यस्यासौ सुमानः तस्य सम्बोधनं हे सुमान । पावनं पवित्रं । रिपूनपि अन्तः शत्रूनप्यालुनन् आ समन्तात् खण्डयन् । भासनं शोभनं । नतीनां प्रणतीनां एकः प्रधानः इनः स्वामी नत्येकेनः तस्य- सम्बोधनं हे नत्येकेन । रुजया रोगेण ऊनः रुजोनः तस्य सम्बोधनं हे रुजोन । सज्जनानां पतिः सज्जनपतिः तस्य सम्बोधनं हे सज्जनपते । नन्दन् आनन्दं कुर्वन् । अनन्तं अविनाशं । अवनं रक्षकं । नन्तृन् स्तोत्तृन् । हानेन क्षयेण विहीनं ऊनं हानविहीनं धाम तेजः हानविहीनं च तत् धाम च हानविहीनधाम, हानविहीनधामैव नयनं यस्यासौ हानविहीनधामनयनः त्वम् । नः अस्मान् । स्तात् भव । पुनन् पवित्रीकुर्वन् । हे सज्जिन शोभनजिन । एतदुक्तं भवति—हे भट्टारक नष्टाज्ञान नम्रं जनं पान् रिपूनप्यालुनन् नन्तृन् नन्दन् नः अस्मान् पुनन् हानविहीनधामनयनस्त्वं स्तात् । शेषाणि सर्वाणि सम्बोधनान्तानि पदानि अस्यैव विशेषणानि भवन्तीति ॥१११॥

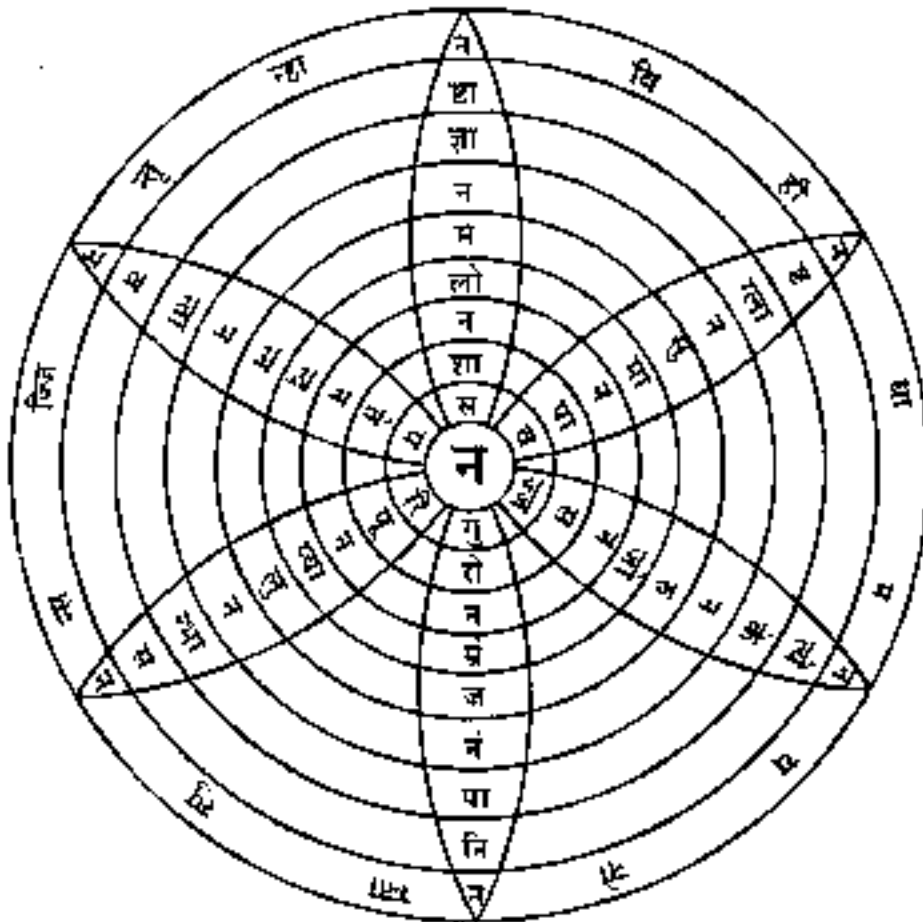
अन्वय — नष्टाज्ञान मलोऽन, शासनगुरो, इन, नष्टग्लान, सुमान, पावन, आसन, नत्येकेन, रुजोन, सज्जनपते, अनन्त, अवन, सज्जिन, नम्रं जनं पान् रिपून् आलुनन् नेतृन् नन्दन् नः पुनन् हानविहीनधामनयनः स्तात् ॥१११॥

अन्वयार्थ — नष्टाज्ञान ! = हे अज्ञानहीन, अर्थात् जिसके अज्ञान नष्ट हो गया है । मलोऽन ! हे कर्ममलहीन ! शासनगुरो ! = अप्रतिहत स्याद्वादमय जैन शासन के स्वामी ! इन ! = हे स्वामिन् नष्टग्लान ! = हे नष्टमूर्च्छादिभाव वाले ! मूर्च्छादिक परिग्रह से रहित । सुमान ! = हे प्रशंसनीय ज्ञान के धारक ! पावन ! = हे परम पवित्र । भासन ! = हे शोभमान, प्रकाशमान ! नत्येकेन ! = नमस्कार करने वाले का प्रधान (अद्वितीय) स्वामी । रुजोन ! = हे रोगरहित प्रभो ! सज्जनपते = हे सज्जनों के अधिपति, अनन्त ! = हे अविनाशी । अवन ! = हे रक्षक ! सज्जिन ! = हे शोभन जिन ! नम्रं = नमस्कार करने वाले । जनं = मानव जनों की-भव्य लोकों की । पान् = रक्षा करते हुए । रिपून् = आन्तरिक रागद्वेषादि शत्रुओं को । आलुनन् = खण्डन करते हुए । नेतृन् = स्तुति करने वालों को । नन्दन् = धन-धान्य, ऋद्धि-सिद्धियों से सम्पन्न करते हुए । नः = मुझ समन्तभद्र को । पुनन् = पवित्र करते हुए आप । हानविहीन-धामनयनः = क्षयरहित केवलज्ञान लोचन वाले आप । स्तात् = चिरकाल तक जयवन्त रहें ।

अर्थ - हे प्रभुवर ! आपका अज्ञान अन्धकार नष्ट हो गया है। स्वामी ! आप द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म रूप मल से रहित हैं। भगवन् ! आप जैनशासन वा अप्रतिहत आज्ञा के स्वामी हैं अर्थात् आपका शासन अलंघ्य है, अखण्डित है, प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित है। मूर्च्छादि अन्तरंग और क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य परिग्रह से रहित हैं। हे स्वामिन् ! आप महान् हैं। हे भगवन् ! आप प्रशंसनीय ज्ञान के धारक हैं। हे प्रभुवर ! आप परम पवित्र हैं। भगवन् ! आप सारे जगत् में शोभायमान हैं। इन्द्रादि सर्व प्रधान पुरुष आपको ही नमस्कार करते हैं। प्रभुवर ! आप कायिक, मानसिक आदि सर्व रोगों से रहित हैं। आप सज्जन (भव्य) पुरुषों के अधिपति हैं, स्वामी हैं, अविनाशी हैं अर्थात् पर्याय क्षणभंगुर होते हुए भी आपकी सिद्ध पर्याय का नाश कभी नहीं होगा। हे भगवन् ! आप सब के रक्षक हैं। आप ही कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले होने के कारण सज्जिन हैं, वास्तव में जिन हैं। हे भगवन् ! आप नम्र (नमस्कार करने वाले) मनुष्यों की रक्षा करते हुए तथा भव्यों के अन्तरंग काम, क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट करते हुए तथा आपके चरणों में नमस्कार करने वाले भव्यों को धन-धान्य ऋद्धि, सिद्धियों से सम्पन्न करते हुए और मुझ समन्तभद्र तथा सम्पूर्ण भव्य जीवों को रागद्वेषरहित करते हुए अनन्त काल तक हानिरहित अविनाशी केवलज्ञान रूप लोचन से युक्त होते हुए अनन्त काल तक सिद्ध पर्याय से युक्त रहें।

यह श्लोक इष्टपादवलय प्रथम, चतुर्थ, सप्त वलय एकाक्षर चक्रवृत्त है। यह इष्टपादवलय है जिसका वर्णन मनोनीत पादवलय में लिखा है। तथा इसका लक्षण ११०वें श्लोक में लिखा है। इस अलंकार में कभी-कभी अपना इष्टतम-मनचाहा पादगूढ़ भी हो जाता है। अर्थात् उस पाद के समस्त अक्षर शेष के तीन पादों में समाविष्ट हो जाते हैं, यह इस १११-११२वें श्लोक में स्थित है।

इसका चित्र इस प्रकार है—



(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्)

रम्यापारगुणारजस्सुरवरैरर्च्याक्षर श्रीधर

रत्यूनारतिदूर भासुर सुगीरय्योत्तरर्द्धीश्वर ।

रक्तान् क्रूरकठोरदुर्द्धररुजोरक्षन् शरण्याजर

रक्षाधीर सुधीर विद्वर गुरो रक्तं चिरं मा स्थिर ॥११२॥

रम्येति—इष्टपादो वलयरूपेण भवतीत्यर्थः । रम्य रमणीय । अपारगुण अपरिमेयगुण । अरजः ज्ञानावरणादिकर्मरहित । सुरवरैः देवप्रधानैः । अर्च्य पूज्य । अक्षर अनश्वर । श्रीधर लक्ष्मीभृत् । रत्या रागेण ऊन रहित । अरतेदूरः विप्रकृष्टः अरतिदूरः तस्य सम्बोधनं हे अरतिदूर । भासुर भास्वर । शोभना गीर्वाणी यस्यासौ सुगीः त्वमिति सम्बन्धः । अर्य स्वामिन् । उत्तराः प्रकृष्टा ऋद्धयो विभूतयः उत्तरर्द्धयः उत्तरर्द्धीनां ईश्वरः स्वामी उत्तरर्द्धीश्वरः तस्य सम्बोधनं हे उत्तरर्द्धीश्वर । रक्तान् भक्तान् । क्रूरा रौद्रा, कठोरा निष्ठुरा, दुर्द्धरा असह्या, रुक् व्याधिः, क्रूरा चासौ कठोरा च क्रूरकठोरा, क्रूरकठोरा चासौ दुर्द्धरा च क्रूरकठोरदुर्द्धरा, क्रूरकठोरदुर्द्धरा चासौ रुक् च क्रूरकठोरदुर्द्धरुक् तस्याः रक्षन् । प्रतिपालयन् । शरण्य शरणीय । अजर जराहीन । रक्ष पालय । आधिर्मनःपीडा आधि इरति क्षिपतीत्याधीरः तस्य सम्बोधनं हे आधीर । सुधीर अक्षोभ । विदां पण्डितानां वरः प्रधानः विद्वरः तस्य सम्बोधनं हे विद्वर । गुरो स्वामिन् । रक्तं भक्तम् । चिरं अत्यर्थम् । मा अस्मदः प्रयोगः । स्थिर नित्य । एतदुक्तं भवति—हे भट्टारक रम्य इत्यादि गुणविशिष्ट क्रूरकठोरदुर्द्धररुजो रक्तान् रक्षन् मा रक्तं रक्ष ॥११२॥

अन्वय - रम्य, अपार गुण, अरजः सुरवरैः अर्च्य, अक्षर, श्रीधर, रत्यून, अरतिदूर, भासुर, सुगीः अर्थ उत्तरर्द्धीश्वर, शरण्य, अजर, स्थिर, आधीर, सुधीर, विद्वर, गुरो, क्रूरकठोरदुर्द्धररुजः रक्तान् रक्षन् रक्तं मा चिरं रक्ष ।

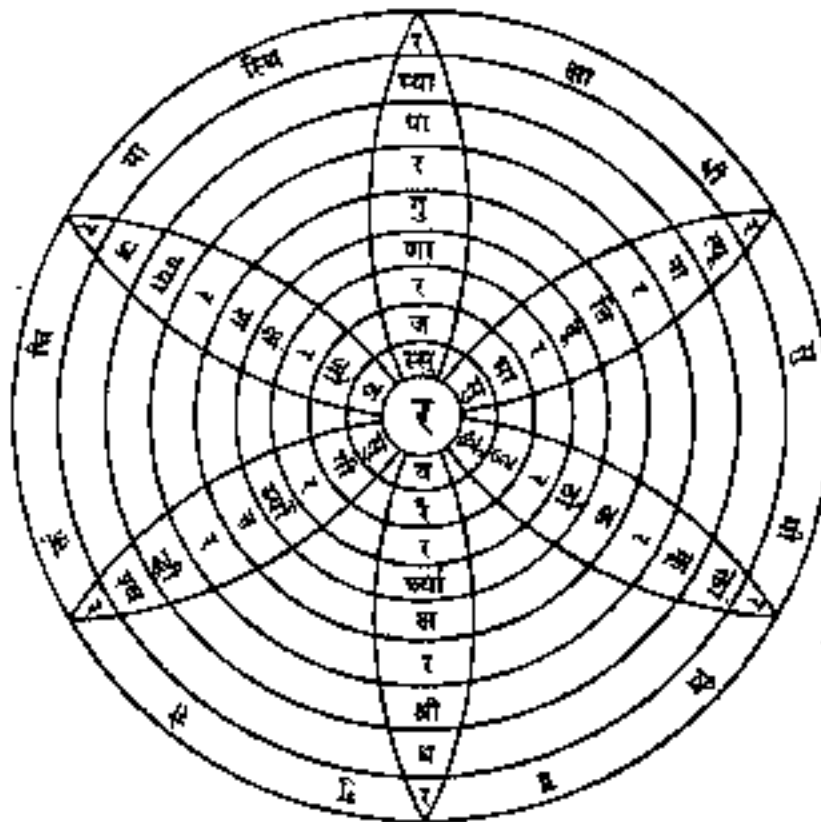
अन्वयार्थ - रम्य ! = हे रमणीय । अपार गुण ! = हे अनन्त गुणों के धारक ! अरजः ! = हे ज्ञानावरणादि कर्मरज के समूह से रहित । सुरवरैः = इन्द्रों के द्वारा । अर्च्य = पूजनीय भगवन् । अक्षर ! = हे अविनाशी । श्रीधर ! = हे समवसरण रूप बहिरंग एवं अन्तरंग अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के धारक । रत्यून ! = हे रागहीन । अरतिदूर ! = द्वेष भाव से दूर । भासुर ! = हे देदीप्यमान सुगीः = हे उत्तम वाणी के धारक । अर्य ! = हे स्वामिन् । उत्तरर्द्धीश्वर ! = उत्कृष्ट ऋद्धियों के स्वामी । शरण्य ! = हे शरणदाता । अजर । हे जराहीन । आधीर = हे आधि- मानसिक पीडा के नाशक ! सुधीर ! = अक्षोभ । विद्वर ! = हे विद्वानों में श्रेष्ठ । गुरो = हे स्वामिन् ! हे गुरुवर्य । स्थिर ! हे स्थिर- नित्य । क्रूरकठोरदुर्द्धररजः = क्रूर कठोर दुर्द्धर रोगों से पीड़ित । रक्तान् = भक्तों की । रक्षन् = रक्षा करते हुए । भगवन् चिरं = चिरकाल के स्नेही । मा = मुझ । रक्तं = भक्त (समन्तभद्र) की । रक्ष = रक्षा करो ।

अर्थ - हे परम सौन्दर्य के धारक ! हे केवलज्ञानादि अपार गुणों के स्वामी । हे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, क्रोधादि भाव कर्म, शरीर आदि नोकर्मरूप रज से रहित ! हे शतइन्द्रों के द्वारा पूज्य ! हे अविनाशी पर्याय के धारक ! हे समवसरणादि बहिरंग तथा अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख रूप लक्ष्मी के धारक ! हे रागरहित ! हे द्वेष से दूर रहने वाले ! हे शोभायमान ! हे उत्तम वाणी के स्वामी ! हे स्वामिन् ! हे उत्तम ऋद्धियों के नायक ! हे शरणदाता ! हे अजर अमर, हे आधि व्याधि पीड़ा के नाश करने वाले ! हे अक्षोभ-रागद्वेषादि विकल्प जालों से अलोल ज्ञान के धारक ! हे विद्वानों में श्रेष्ठ ! हे गुरुवर्य ! हे नित्य स्थिर रहने वाले भगवन् ! महाकष्टदायी निष्ठुर एवं दुर्धर दुःसाध्य वा कष्टसाध्य, असाध्य शारीरिक, मानसिक तथा जन्म-मरण-जरा, रोगों से पीड़ित अपने भक्तों की रक्षा करते हुए, चिरस्नेही आपके चरणों के दास सप्तमभद्र आचार्य की भी रक्षा करो ॥११२॥

यह श्लोक इष्टपादबलय-प्रथम चतुर्थ सप्तम वलयक एकअक्षर चक्रवृत्त है।

इस चक्रवृत्त के गर्भ में जो अक्षर है वही छहों आरों के प्रथम, चतुर्थ और सप्तम वलय में भी स्थित है अतः १९ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है।

इसका चित्र इस प्रकार है-



इस चक्रवृत्त के गर्भ में जो अक्षर है वही अक्षर छहों आरों के प्रथम, चतुर्थ और सप्तम वलय में भी स्थित है। तथा इस चक्र में प्रत्येक चरण का प्रथम अक्षर चतुर्थ अक्षर, सप्तम अक्षर चारों चरणों का अन्तिम अक्षर, प्रत्येक चरण का १०वाँ अक्षर, १३वाँ अक्षर और १६वाँ अक्षर समान हैं ॥११२॥



## उपसंहार (चक्रवृत्तम्)

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे  
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।  
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते  
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥११३॥

प्रज्ञेति—प्रज्ञा बुद्धिः । सा तदः प्रयोगः । स्मरति चिन्तयति । इति शब्दः अवधाल्णार्थः । या यदः टावन्तस्य रूपम् । तव ते 'स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणीति ता भवति' । शिरः मस्तकम् । तत् यत् । नतं प्रणतम् । ते तव । पदे चरणे । जन्म गत्यन्तरगमनम् । अदः अदसः अपरोक्षवाचिनो रूपम् एतदित्यर्थः । सफलं सकार्यम् । परं श्रेष्ठम् । भवभिदी संसारभेदिनी । यत्र यस्मिन् । आश्रिते सेविते । ते तव । पदे चरणयुगलम् । मांगल्यं पूतं । च शब्दः समुच्चयार्थः । सः तदो रूपम् । यः यदो रूपम् । रतः रक्तः भक्तः । तव ते । मते आगमे । गीः वाक् । सैव सा एव नान्या । या त्वा भवन्तम् । स्तुते वन्दते । ते तदः जसन्तं रूपम् । ज्ञाः पण्डिताः । ये यदो जसन्तं रूपम् । प्रणताः प्रकर्षेण नताः । जना भक्तभव्यलोकाः । क्रमयुगे चरणद्वन्द्वे । देवानामधिदेवः परमात्मा देवाधिदेवः तस्य देवाधिदेवस्य । ते तव । स्तुत्यवसाने कृत-कृत्यः सन् आचार्यः समन्तभद्रस्वामी उपसंहारकं करोति । किमुक्तं भवति—भट्टारक सैव प्रज्ञा या त्वां स्मरति । शिरश्च तदेव यन्नतं ते पदे इत्येवमादि योज्यम् ॥११३॥

अन्वय — प्रज्ञा सा या तव इति स्मरति, शिरः तत् यत् ते पदे नतं । जन्म अदः परं सफलं यत्र भवभिदी ते पदे आश्रिते, च सः मांगल्यं यः तव मते रतः सा एव गीः या त्वा स्तुते । ते जनाः ज्ञाः ये ते देवाधिदेवस्य क्रमयुगे प्रणता ॥११३॥

अन्वयार्थ — प्रभो । प्रज्ञा=बुद्धि । सा=वही है । या=जो । इति=अतिशय रूप से । तव=तेरा । स्मरति=स्मरण करती है । यहाँ स्मरण धातु के साथ द्वितीया विभक्ति में षष्ठी का प्रयोग है । "स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणीति ता भवति" शिरः=मस्तक । तत्=वह । एव=ही है । यत्=जो । ते=तेरे । पदे=चरणयुगल में । नतं=नत है, आपके चरणों में झुकता है । अदः=वह । एव=ही । जन्म=जन्म । परं=श्रेष्ठ और । सफलं=सफल है । यत्र=जिस जन्म में । भवभिदी=भव को नाश करने वाले । ते=तेरे । पदे=पद में । आश्रिते=आश्रित है । च=और । सः=वही मानव । मांगल्यं=परम पवित्र है । यः=जो । तव=तेरे । मते=मत में । रतः=लीन है । सा=वह । एव=ही । गीः=वाणी है । या=जो । त्वां=तेरी । स्तुते=स्तुति करते हैं । ते=वे । जनाः=मानव । ज्ञाः=पंडित-ज्ञानी हैं । ये=जो । ते=तुझ । देवाधिदेवस्य=देवाधिदेव के । क्रमयुगले=चरण युगल में । प्रणताः=झुके रहते हैं, तेरे चरणों में प्रकर्षरूप से रतः लीन हैं ।

अर्थ - बुद्धि वही है जो निरन्तर देवाधिदेव वीतराग प्रभु के चरणों का स्मरण करती है, वीतराग प्रभु के गुणों का चिंतन करती है। मस्तक वही सार्थक है जो प्रतिपल वीतराग प्रभु के चरणों में नत रहता है, उसी मानव का जन्म सफल है, परम श्रेष्ठ है जिस जन्म में मानव ने संसार- परिभ्रमण के नाशक वीतराग प्रभु के चरणारविन्द का आश्रय लिया है, प्रभु के चरणों का पुजारी बनकर उनके चरणों को हृदय में धारण किया है। वही मानव श्रेष्ठ है, परम पावन है, मंगल स्वरूप है जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित आर्ष मार्ग में, स्याद्वादमय जिनधर्म में रत है, अनुरक्त है, लीन है। वाणी वही है जो वीतराग प्रभु के गुणों का कथन करती है। देवाधिदेव की स्तुति करती है।

संसार में वही बुद्धिमान है, पंडित है, ज्ञानी है, जो निरन्तर देवाधिदेव के चरणकमलों में प्रकर्ष रूप से नत रहते हैं।

इस श्लोक में परिसंख्यालंकार है जिसका लक्षण अलंकार चिन्तामणि में यों लिखा है-

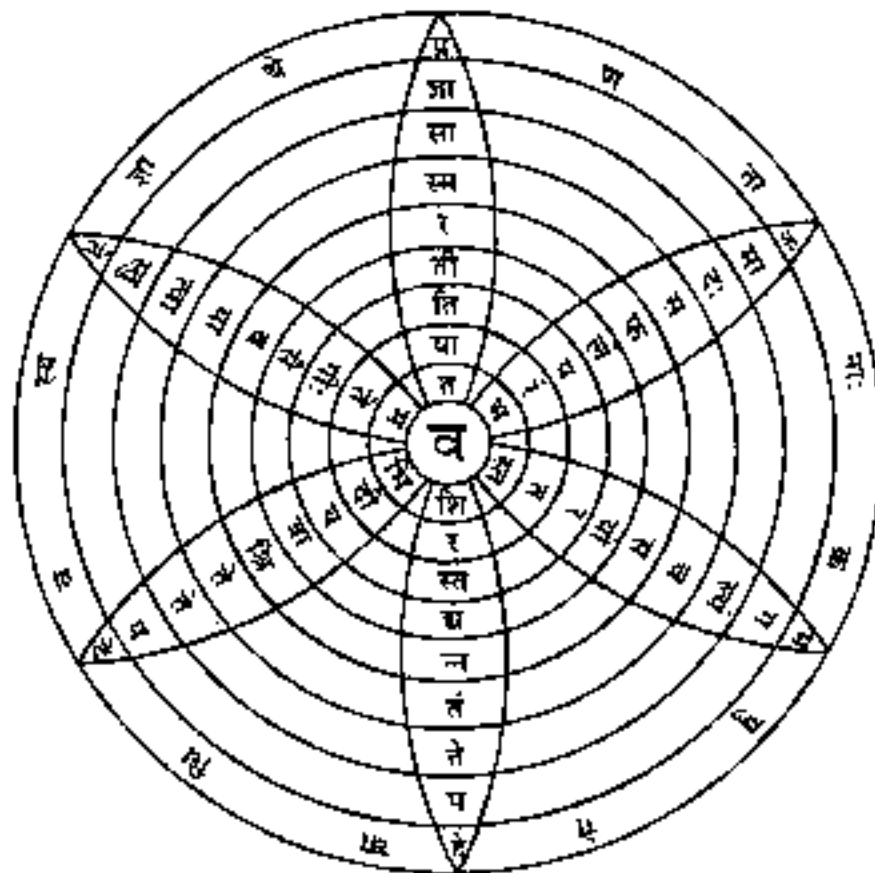
सर्वत्र संभवद्रस्तु यत्रैकं युगपत्पुनः ।

एकत्रैव नियम्येत परिसंख्या तु सा यथा ॥

सर्वत्र सब में संभव होने वाली वस्तु का किसी एक में ही नियम कर देना परिसंख्या अलंकार कहलाता है।

इस श्लोक में बुद्धि, शिर, जन्म की श्रेष्ठ सफलता, मानव की पावनता, वाणी की सार्थकता और बुद्धिमत्ता इन सबको एक जिनभक्ति में नियमित कर दिया है। इसलिए यह परिसंख्या अलंकार है।

यह श्लोक चक्रवृत्त अलंकार से युक्त है। इसका चित्र इस प्रकार है-



(चक्रवृत्तम्)

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वद्यर्चनं चापि ते  
हस्तावजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।  
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते,  
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

सुश्रद्धेति—सुश्रद्धा सुरुचिः । मम अस्मदः पयोगः । ते तव । मते विषये । स्मृतिरपि स्मरणमपि । त्वयि युष्मदः ईबन्तस्य रूपम् । अर्चनं चापि पूजनं चापि त्वय्येवेति सम्बन्धः । च शब्दः समुच्चयार्थः । ते तव । हस्तौ करौ । अञ्जलये अञ्जलिनिमित्तं ते इत्यनेन सम्बन्धः । कथा गुणस्तवनं । कथायाः श्रुतिः श्रवणं कथाश्रुतिः । तस्यां रतः रक्तः कथाश्रुतिरतः । कर्णः श्रवणम् । अक्षि चक्षुः । संप्रेक्षते संपश्यति ते रूपमिति सम्बन्धः सामर्थ्याल्लभ्यते । सुस्तुत्यां शोभनस्तवने । व्यसनं तत्परत्वम् । शिरः मस्तकम् । नतिपरं प्रणामतत्परम् । सेवा सेवनम् । ईदृशी ईदृग्भूता । प्रत्यक्षवचनमेतत् । येन यदो भान्तस्य रूपं येन कारणेनेत्यर्थः । ते तव । तेजस्वी भास्वान् । सुजनः शोभनजनः । अहं अस्मदो चान्तस्य रूपम् । एव अवधारणार्थः । अहमेव नाऽन्यः । सुकृती पुण्यवान् । तेनैव तदो भान्तस्य रूपं । तेनैव कारणेनेत्यर्थः । हे तेजःपते केवलज्ञानस्वामिन् । समुदायार्थः—मम श्रद्धा या मम स्मृतिश्च या सा तवैव मते, ममार्चनमपि यत्तत् त्वय्येव, मम हस्तौ यौ त्वत्प्रणामाञ्जलिनिमित्तम्, कर्णश्च मम ते कथाश्रुतिरतः, अक्षि च मम तव रूपदर्शननिमित्तम्, मम व्यसनमपि तव स्तुत्याम्, शिरश्च मम तव नतिपरम् । येन कारणेन ईदृशी सेवा मम हे तेजःपते तेनैव कारणेन अहमेव तेजस्वी सुजनः सुकृती नान्य इत्युक्तं भवति ॥११४॥

अन्वय - तेजःपते मम श्रद्धा ते मते, स्मृतिः अपि त्वयि । च अर्चनं त्वयि, मम हस्तौ त्वयि अञ्जलये, कर्णः तव कथाश्रुतिरतः अक्षि संप्रेक्षते । व्यसनं सुस्तुत्यां शिरः ते नतिपरं येन ईदृशी ते सेवा तेन अहं एव तेजस्वी सुजनः अहं एव सुकृती ॥११४॥

अन्वयार्थ - तेजःपते ! = हे केवलज्ञान रूपी तेज के अधिपति ! मम=मेरी । श्रद्धा=रुचि आस्था । ते=तेरे । मते=मन में (तेरे द्वारा कथित जिनधर्म में) है । स्मृतिः=मेरे मन में स्मरण (चिन्तन) अपि=भी । त्वयि=आप में ही है । अर्चनं=पूजन भी । त्वयि=आप में । मैं पूजा भी निरन्तर आपकी ही करता हूँ । च=और । मम=मेरे । हस्तौ=दोनों हाथ । ते=तेरे । अञ्जलये=अञ्जलि के लिए है=तुझको जोड़ने के लिए है । कर्णः=मेरे कान । तव=आपकी । कथाश्रुतिरतः=कथा को सुनने के लिए रत है । मम=मेरे । अक्षि=आँख (नेत्र) त्वयि=तुझको । संप्रेक्षते=देखने में लीन है । मम=मेरा । व्यसनं=मन की तत्परता-लीनता । ते=आपकी । स्तुत्यां=स्तुति में । मम=मेरा । शिरः=मस्तक । नतिपरं=नति में तत्पर है । तुझको नमस्कार में तत्पर है । ते=तेरी । ईदृशी=ऐसी । सेवा=सेवा है । येन=जिससे । अहं=मैं । एव=ही । तेजस्वी=तेजस्वी हूँ । सुजनः=सुजन हूँ । तेन=इसलिए । अहं=मैं । एव=ही । सुकृती=पुण्यवान हूँ ॥११४॥

अर्थ — समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! मेरी आस्था, श्रद्धा, रुचि केवल आपके द्वारा उपदिष्ट स्याद्वादमय मत में ही है। हे प्रभो! मैं निरन्तर आपका स्मरण-चिन्तन करता हूँ अर्थात् मेरा मन सदा आपके गुणों के स्मरण में लगा रहता है।

मैं अर्चन-पूजन भी आपके चरण-कमल की करता हूँ। मेरे हाथ भी आपको जोड़ने के लिए ही हैं, मैं हाथ भी आपको ही जोड़ता हूँ, किसी अन्य को नहीं। हे भगवन्! मेरे कान भी आपकी कथा वा आपके गुणगान सुनने में निरन्तर आसक्त रहते हैं। मेरी आँखें केवल आपके रूप का पान करने के लिए लालायित रहती हैं, आपके दर्शन करने के लिए उत्सुक रहती हैं। मुझे व्यसन आपकी स्तुति करने का है अर्थात् मेरा मन निरन्तर आपकी स्तुति करने में लगा रहता है और मेरा मस्तक भी आपके चरण-कमलों में झुकने के लिए तत्पर रहता है। हे तेजःपते! हे केवलज्ञान के स्वामी, भगवन्। इस प्रकार मैं आपकी सेवा, भक्ति करता हूँ इसलिए भगवन्! मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और पुण्यवान भी हूँ। मेरे समान इस संसार में दूसरा पुण्यवान पवित्र सुजन नहीं है।

समन्तभद्र आचार्यदेव की आत्मा आत्मीय तेज से जगमगा उठी थी। वे परम पवित्रता का अनुभव करने लगे थे इसलिए उन्होंने स्तोत्र के अन्त में अपना अनुभव प्रकट किया है। 'हे भगवन्! संसार में जन्म को कृतार्थ करने वाला महातेजस्वी, परम पवित्र और सज्जन पुरुष हूँ', ऐसा कथन किया है। सो ठीक ही है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव की सच्ची आराधना करने वाले मानव की आत्मा सम्यग्दर्शन रूपी (आत्मीय तेज रूप) मणि से जगमगा उठती है। वह संयम का धनी बनकर सर्वोत्कृष्ट पुरुषों की गिनती में आता है, अतः सुजन होता है तथा उसी वीतराग प्रभु की भक्ति करने वाले के महान् पुण्यानुबन्धी पुण्य का बंध होता है और उसे परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में आचार्यदेव ने अपने आप को कृतकृत्य समझकर पूर्ण आनन्द के साथ कहा है— प्रभुवर! आज मैं महान् पुण्यवान हो गया।

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार के साथ काव्यलिंग अलंकार भी है।

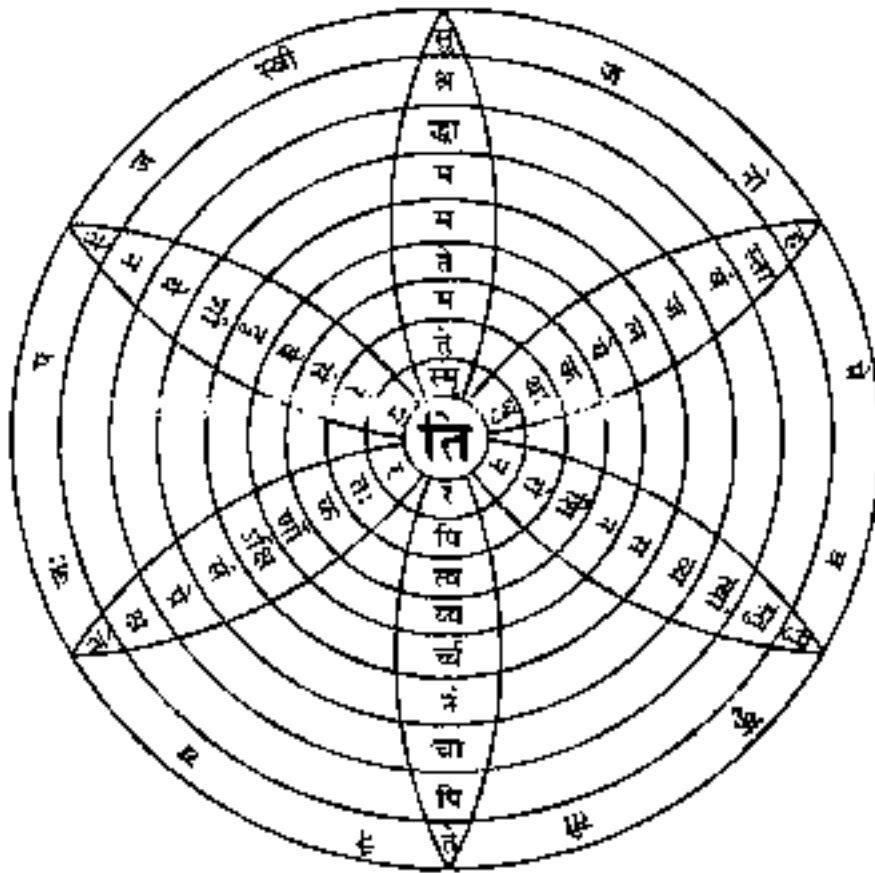
सर्वत्र संभव होने वाली वस्तु का किसी एक में ही नियम कर देना परिसंख्या अलंकार कहलाता है। इस श्लोक में आचार्यदेव ने अपने मन, वचन, काय, हाथ, कर्ण, आँख, जन्म आदि सबको वर्द्धमान के प्रति अर्पित कर दिया है अतः यह परिसंख्या अलंकार है।

जिसमें हेतु वाक्यगत अथवा पदार्थगत होता है उसे काव्यलिंग कहते हैं।

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते।' साहित्यदर्पण। इस श्लोक में आचार्यदेव ने स्वयं को पुण्यवान, सुजन बनने के हेतु का जो कथन किया है, वह इस वाक्य में गर्भित है। जैसे मेरी श्रद्धा किस में है, आपके मत में है। आपका मत मेरी श्रद्धा का कारण है, हेतु है। मेरे हाथ जुड़ने का कारण भी आप हैं। इस प्रकार हेतु वाक्यपद में गर्भित है। इसलिए यह काव्यलिंग अलंकार है।

इसमें चक्रवृत्त रचना है।

छह आरे का कमल लिखकर उसमें तीन चरण लिखना और उसकी पाँखुड़ी के ऊपर चतुर्थ चरण लिखना, जिसका विशेष कथन ११वें, १२वें श्लोक में लिखा है।



(चक्रवृत्तम्)

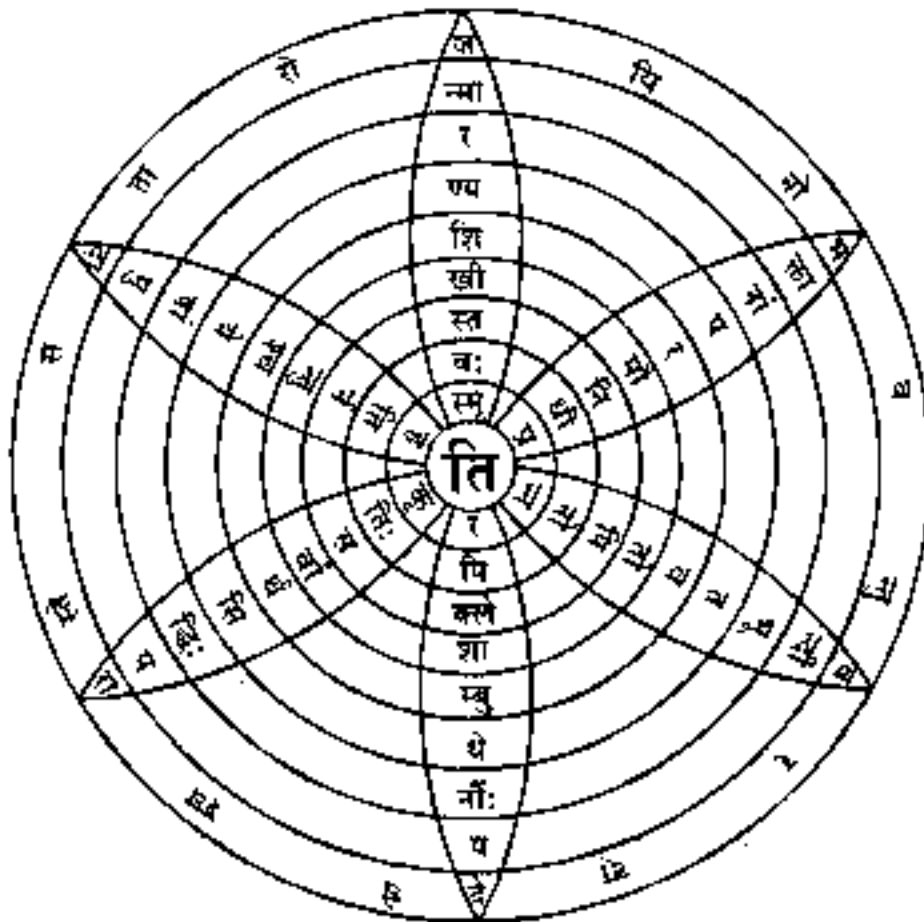
जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे ।  
 भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।  
 वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा ।  
 दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥

जन्मेति—जन्म संसारः, अरण्यं अटवी, शिखी अग्निः, जन्मैवारण्यं जन्मारण्यम्, जन्मारण्यस्य शिखी जन्मारण्यशिखी । स्तवः गुणस्तवनम् । स्मृतिरपि स्मरणमपि । क्लेशाम्बुधेः दुःखसमुद्रस्य नौः पोतः । पदे पादौ । भक्तानामनुरक्तानां । परमौ श्रेष्ठौ । निधी द्रव्यनिधाने । प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । सर्वार्थानां सकलकार्याणां सिद्धिः निष्पत्तिः सर्वार्थसिद्धिः । परा प्रकृष्टा । वन्दीभूतवतोपि मंगलपाठकीभूतवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि ममेत्यर्थः । न प्रतिषेधवचनम् । उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं उन्नतिहतिः । नन्तुश्च स्तोतुश्च । येषां यदः आमन्तस्य रूपम् । मुदा हर्षेण । दातारो दानशीलाः । जयोस्ति येषां ते जयिनः । भवन्तु सन्तु । वरं ददत इति वरदाः स्वेष्टदायिनः । देवानां सुराणां ईश्वराः स्वामिनः देवेश्वराः ।

ते तदो जसन्तस्य रूपम् । सदा सर्वकालम् । एतदुक्तं भवति—येषां स्तवः जन्मारण्यशिखी भवति, येषां स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेश्च नौ भवति, येषां च पदे भक्तानां परमौ निधी भवतः, येषां च प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा, येषां नन्तुमुदा वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिः, ते देवेश्वराः दातारः जयिनः वरदाः भवन्तु सदा सर्वकालम् ॥११५॥

अन्वय — येषां स्तवः जन्मारण्यशिखी, स्मृतिः अपि क्लेशाम्बुधेः नौः पदे भक्तानां परमौ निधी, प्रतिकृतिः परा सर्वार्थसिद्धिः च मुदा नन्तुः वन्दीभूतवतः उन्नतिहतिः न ते देवेश्वराः दातारः जयिनः सदा वरदाः भवन्तु ॥११५॥

अन्वयार्थ — येषां=जिन महापुरुषों का । स्तवः=स्तवन । जन्मारण्यशिखी=जन्म संसार रूपी अटवी को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है । स्मृतिः=उनका स्मरण । अपि=भी । क्लेशाम्बुधेः=क्लेश रूपी समुद्र को पार करने के लिए । नौः=नौका के समान है । पदे=उनके दोनों चरण । भक्तानां=रत (लीन) भक्तों के लिए । परमौ=परम उत्कृष्ट । निधी=खाजाना । च=और, उनकी । प्रतिकृतिः=प्रतिबिम्ब । सर्वार्थसिद्धिः=सर्वकार्यों की सिद्धि करने वाली है । जिन्हें मुदा=हर्षपूर्वक । नन्तुः=नमस्कार करने वाले । वन्दीभूतवतः=नग्राचार्य रूप से मंगल पाठ करने वाले मुझ समन्तभद्र की । उन्नतिहतिः=उन्नति की हति में कारण । न=नहीं । ते=वे । देवेश्वरः=देवों के देव वीतराग प्रभु । दातारः=दानशील, अक्षय निधि को देने वाले । जयिनः=स्वकीय विभाव भावों पर विजय प्राप्त करने वाले । सदा=निरन्तर । वरदाः=सर्व प्राणियों के मनोरथ पूर्ण करने वाले-इच्छित फल को देने वाले । भवन्तु=होवें ॥११५॥



अर्थ - जिस वीतराग प्रभु का संस्तवन-स्तुति संसार रूपी अटवी को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है। जिनका स्मरण, चिन्तन, मनन दुःख रूप समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान है। जिनके पवित्र चरणकमल भक्तजनों के लिए उत्कृष्ट निधान हैं, खजाने के समान हैं, सर्व सांसारिक सम्पदा को प्रदान करने में समर्थ हैं। जिनकी प्रतिकृति=प्रतिमा सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली है। अर्थात् जिन प्रतिमा की पूजन, नमन, संस्तवन करने से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है।

जिन्हें आनन्दविभोर होकर नमस्कार करने वाले एवं जिनका मंगल गान करने वाले - नग्राचार्य रूप से (स्तुतिपाठक चरण रूप से) रहते हुए भी मुझ समन्तभद्र की उन्नति में कुछ बाधा नहीं होती अर्थात् भगवान के चरणों में झुककर स्तुति, पूजा, नुति करने वाले के उन्नति की हानि नहीं होती- अपितु वह महान् उन्नत बनता है, महान् बनता है। ऐसे भव्य पुरुषों को महामोक्षनिधि को देने वाले, कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले देवाधिदेव, वीतराग चतुर्विंशति तीर्थकर उनकी भक्ति में रत सर्व भव्य प्राणियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करें, मनोवांछित वस्तु प्रदान करें ॥११५॥

इस श्लोक में पूर्वार्ध के दो चरणों में रूपक अलंकार है अर्थात् भगवान् के स्तवन को अग्नि रूप बताया है, संसार को वन की उपमा दी है। दुःख को संसारसमुद्र कहा है और उसको पार करने के लिए भगवान के स्मरण को नौका कहा है, चरण को निधियों का खजाना और प्रतिमा को सर्वकार्यों की सिद्धि करने वाला कहा है। जिसमें उपमेय में उपमान का निषेध रहित आरोप किया जाता है तब रूपक अलंकार होता है। इस श्लोक में अग्नि, नौका, निधि की उपमा देकर रूपक अलंकार का कथन किया है। यह रूपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। तृतीय चरण में विरोधाभास अलंकार प्रदर्शित किया गया है। जिसमें प्रथम विरोध दिखता है परन्तु दूसरा अर्थ करने पर वह विरोध दूर हो जाता है। जो किसी का बन्दी, स्तुतिपाठक या चरण भाट बनकर नमस्कार करता है तथा उसका गुणगान करता है वह लोक में बहुत अवनत कहलाता है, वह नग्राचार्य (भांड) कहलाता है। परन्तु समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि मैं 'नग्राचार्य' नग्न दिगम्बर मुनि आपकी स्तुति करता हूँ, आपके चरणों में अवनत हूँ परन्तु मेरा यह अवनत होना अवनति का कारण नहीं है; इसमें मेरी उन्नति की क्षति नहीं, हानि नहीं अपितु सातिशय पुण्य बाँधकर मैं अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ हूँ। इसमें विरोध का परिहार यह है कि महापुरुषों के संसर्ग से सर्वविरोध दूर हो जाते हैं ॥११५॥

(कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तम्)

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते,

यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं ब्रजित्वाध्वना ।

यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेजनः स्वालये -

ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥

गत्वेति—षडरं नववलयं चक्रमालिख्य सप्तमवलये शान्तिवर्मकृतं इति भवति । चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः कवि-कव्यनाभगर्भचक्रवृत्तं भवति ।

गत्वा यात्वा । एकः प्रधानः, स्तुतः पूज्यः, एकश्चासौ स्तुतश्च एकस्तुतः तं एकस्तुतम् । एवकारोवधारणार्थः । वासं मोक्षस्थानम् । अधुना साम्प्रतम् । तं तदः इवन्तस्यरूपम् । ये यदो जसन्तस्यरूपम् । अच्युतं अक्षयम् । स्वीशते सुऐश्वर्यं कुर्वते । येषां नतिः स्तुतिः यन्नतिः तथा यन्नत्या । एति आगच्छति । सुशर्म अनन्तसुखम् । पूर्णं सम्पूर्णम् । अधिकां महतीं प्रधानां । शान्तिं शमनम् । ब्रजित्वा गत्वा । अध्वना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गेण । येषां भक्तिः सेवा यद्भक्तिः तथा यद्भक्त्या । शमितं शान्तं नष्टं अकृषाघं, अकृशं महत् अघं पापं, अकृशं च तदघं च अकृषाघं, शमितं च तत् अकृषाघं च शमिताकृषाघम् क्रियाविशेषणमेतत् । रुजा रोगः न विद्यते रुजा यस्मिन् तत् अरुजम् । तिष्ठेत् आस्येत् । जनः भव्यलोकः । स्वालये शोभनस्थाने । ये यदो जसन्तस्य रूपम् । भोगः सुखांगं सन् शोभनो भोगः सद्भोगः सद्भोग एव सद्भोगकः तं सद्भोगकं ददत इति सद्भोगकदाः शोभनभोगदातारः इत्यर्थः । अतीव अत्यर्थम् । यजते पूजकाय यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इत्यस्य धोः शत्रन्तस्य रूपम् । ते तदो जसन्तस्य रूपं परोक्षवाचि । मे मम । जिनाः श्रीमदर्हन्तः । शोभना श्रीः सुश्रीः तस्यै सुश्रिये । भवन्त्वित्यध्याहार्यम् । किमुक्तं भवति—एवंगुणविशिष्टाः जिनाः ते मे भवन्तु सुश्रिये मोक्षायेत्यर्थः ॥११६॥

अन्वय — ये अधुना एकस्तुतं अच्युतं तं वासं एव गत्वा स्वीशते । यन्नत्या पूर्णं सुशर्म एति, यद्भक्त्या अधिकां शान्तिं ब्रजित्वा अध्वना, जनः स्वालये शमिताकृषाघं अरुजं तिष्ठेत् । ये यजते अतीव सद् भोगकदाः ते जिनाः मे सुश्रिये (भवन्तु) ॥११६॥

अन्वयार्थ — ये=जो । अधुना=इस समय । एकस्तुतं=परम पूज्य । अच्युतं=अविनाशी । तं=उस । वासं=मोक्षस्थान को । एव=ही । गत्वा=प्राप्त करके । स्वीशते=परम ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, कर रहे हैं । यन्नत्या=जिसको नमस्कार करने से । पूर्णं=पूर्णरूप से । सुशर्म=अनन्त सुख को । एति=प्राप्त होता है । यद्भक्त्या=जिसकी भक्ति से यह आत्मा । अधिकां=अधिक । शान्तिं=शान्ति को । ब्रजित्वा=प्राप्त होकर । अध्वना=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग से । जनः=संसारी प्राणी । शमिताकृषाघं=पापों का नाशकर, कृशकर । अरुजं=रोगरहित होकर । स्वालये=अपने स्थान में । तिष्ठेत्=रहते हैं । ये=जो । यजते=अपने पूजक भक्तों के लिए । अतीव=अति उत्कृष्ट । सद्भोगकदाः=समीचीन भोगों-सांसारिक सुखों को देने वाले हैं । ते=वे । जिनाः=अरिहंत परमेष्ठी । मे=मुझ समन्तभद्र के लिए । सुश्रिये=शोभन लक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) के लिए (भवन्तु) होंगे । 'भवन्तु' क्रिया का यहाँ अध्याहार किया गया है । व्याकरण में 'अस्' और 'भू' धातु की क्रिया का अध्याहार किया जाता है, ऊपर से ग्रहण किया जाता है ।

अर्थ — जो निष्कल परमात्मा इस समय परम पवित्र अक्षय मोक्षपद को (स्थान को) प्राप्त कर स्वकीय अविनाशी परम ऐश्वर्य का अनुभव कर रहे हैं, परम स्वकीय आनन्द का उपभोग कर रहे हैं । ऐसे

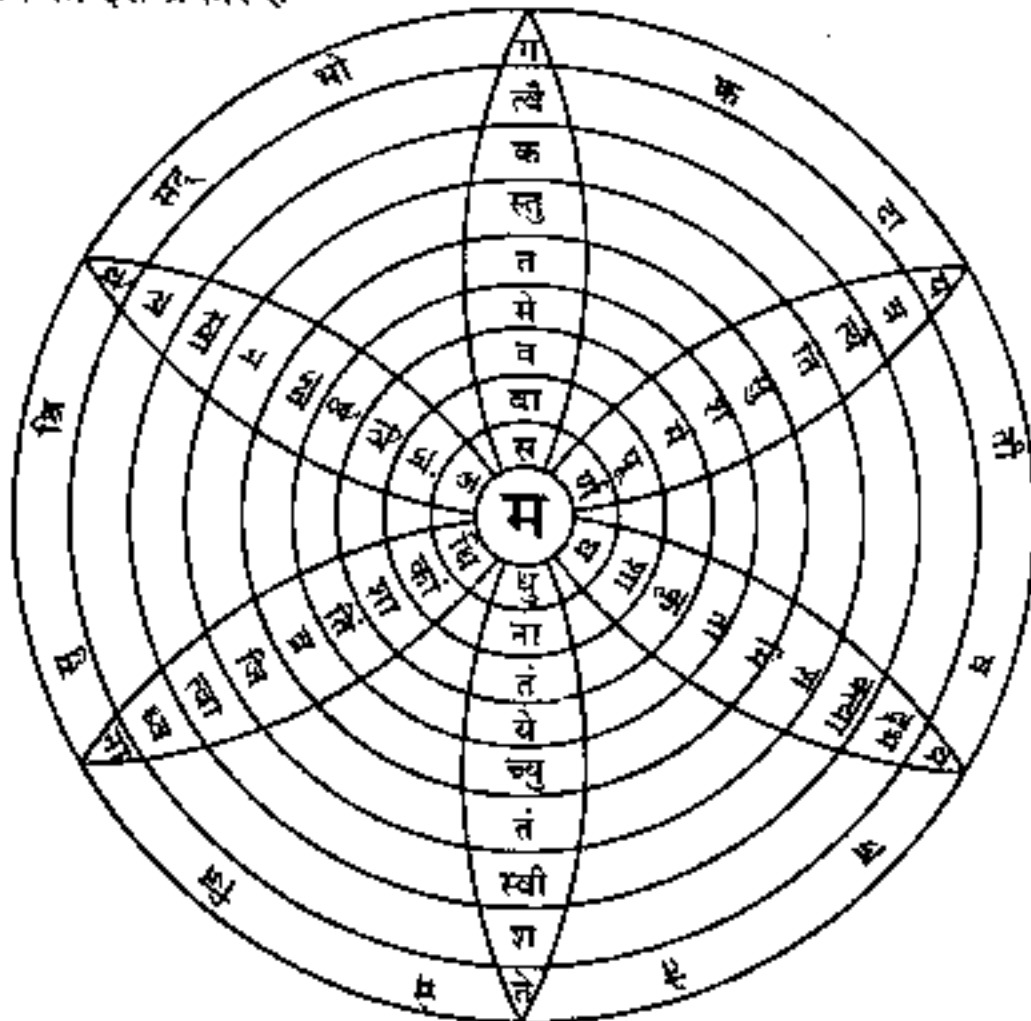


महान् परम पावन परमात्मा को नमस्कार करने से ये संसारी आत्माएँ परिपूर्ण स्वकीय अबाधित अनन्त सुख को प्राप्त हो जाते हैं। जिनकी भक्ति से यह हमारी आत्मा अतिअधिक शांति को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग के माध्यम से महान् घोर पापों का क्षय कर, रोगरहित अवस्था से युक्त होकर स्वकीय आत्म आलय, मोक्षमन्दिर में जाकर निवास करती है। जो परम पूज्य परमात्मा स्वकीय भक्तों को उत्तम भोग प्रदान करते हैं। वे देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् मुझ समन्तभद्र आचार्य के लिए तथा समस्त भव्य पुरुषों के लिए सुश्री (मोक्षलक्ष्मी) प्रदान करें। हमें रत्नत्रय प्रदान कर अपने समान सर्वसुखी बना लें। अर्थात् हमारी मुक्तिश्री की प्राप्ति में सहायक बनें, निमित्त कारण बनें।

यह श्लोक कवि और काव्य के नाम से गर्भित चक्रवृत्त अलंकार है।

छह अरों तथा नव वलयों से युक्त चक्राकार रचना बनाकर इस श्लोक को उसमें पूर्वोक्त विधि से लिखना चाहिए। जिससे श्लोक के सातवें वलय में शान्तिवर्मकृतं और चतुर्थ वलय में जिनस्तुतिशतं निकलता है। इसलिए यह श्लोक "कवि काव्य नाम गर्भ चक्रवृत्त" अलंकार कहलाता है।

इसका चित्र इस प्रकार है—



इसमें 'यजते' यह क्रियापद नहीं है अपितु 'शन्तु' प्रत्यय से बनी हुई 'यजू' धातु की यजन् शब्द की चतुर्थविभक्ति है जिसका अर्थ है - पूजा भक्ति- करने वाले को सर्वसुख प्राप्त होते हैं।